ओ३म्

मेरा धर्म

वैदिक धर्म के जन-कल्याणकारी विभिन्न पहलुओं का
मौलिक अध्ययन

लेखक
आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति
पूर्व आचार्य, वेद विभागाध्यक्ष एवं कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय, हरिद्वार

2003

श्री स्वामी श्रद्धानंद अनुसंधान प्रकाशन केंद्र
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार

मेरा धर्म

प्रथम संस्करण : 1957
द्वितीय संस्करण : 2003

मूल्य : 500.00

प्रकाशक
कुल सचिव
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

मुद्रण-व्यवस्था
क्वालिटी प्रिंटर्स, दिल्ली-93 द्वारा
त्रिवेणी ऑफसेट, दिल्ली-32 में मुद्रित
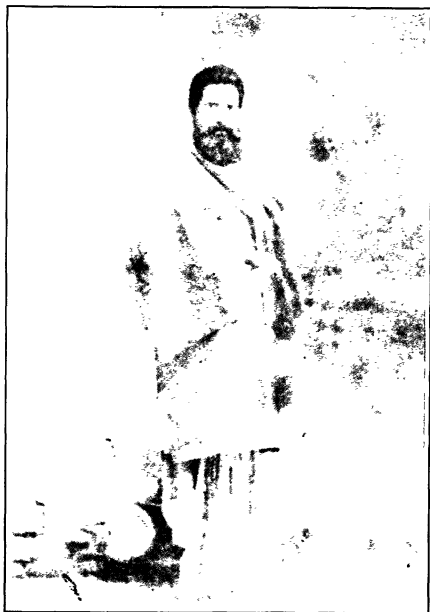
आचार्य्य मुशीराम जी
(गुरुकुल-विश्वविद्यालय के आचार्य के वेश मे)

श्री स्वामी श्रद्धानन्द

दो शब्द

विश्वविद्यालय में श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र के द्वारा गत कुछ वर्षो से वैदिक साहित्य, आर्य साहित्य, संस्कृत साहित्य, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति, हिन्दी तथा आर्य समाज से सम्बद्ध साहित्य के प्रकाशन की महती योजना पर कार्य हो रहा है। तथा इस प्रकाशन केन्द्र द्वारा अब तक 18 उत्कृष्ट ग्रन्थों का निर्माण किया जा चुका है। इसी केन्द्र के द्वारा कुछ वर्ष पूर्व आचार्य प्रियव्रत जी द्वारा रचित वेद और उसकी वैज्ञानिकता, तथा वेद का राष्ट्रिय गीत का प्रकाशन किया गया जिसकी आर्य जनता ने मुक्त कण्ठ से प्रशसा की। आर्य जनता से मिले उत्साह के परिणामस्वरूप आज हम पुनः उनके एक अन्य अप्राप्य ग्रन्थ 'मेरा धर्म' के प्रकाशन का दायित्व ले रहे हैं।

यह प्रकाशन केन्द्र जहॉ प्राचीन वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, भारतीय संस्कृति से जुड़े बहुमूल्य ग्रन्थों के प्रकाशन में नियोजित है वहीं गुरुकुल के पुराने दुर्लभ साहित्य के पुनर्मुद्रण का कार्य भी प्रकाशन केन्द्र ने अपने हाथ में ले रखा है। प्रकाशन केन्द्र का यह संकल्प है कि प्राचीन भारतीय साहित्य का संरक्षण जहॉ इस केन्द्र के माध्यम से उत्तरोत्तर स्तरीय ग्रन्थों के प्रकाशन से किया जाएगा वहीं आधुनिक ज्ञान विज्ञान के तारतम्य को प्राचीन सांस्कृतिक वैभव से जोड़कर हम अपनी सांस्कृतिक धरोहर को निरन्तर समृद्ध करने में अपने दायित्व का निर्वाह करेंगे। पाठकों का सहयोग तथा आर्य जनता की आकॉक्षा हमारा संबल है।

हम इस शृंखला को जारी रखेंगे तथा इस क्रम में प्रकाशन का 19वां उपहार प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता है। हमें आचार्य जी की तेजोमयी वाणी, उनके हृदयातिरेक भावों की रम्य झांकी उनके वेद मंत्रों की व्याख्या की गहन चिंतनात्मक शैली तथा जीवन की समस्या पर उनका सुलझा हुआ वैदिक दृष्टिकोण यह सब कुछ एक ही स्थान पर हमें आचार्य ऋषि की इस मनोरम कृति में उपलब्ध होगा।

लेखक ने 'मेरा धर्म' नामक ग्रन्थ में वैदिक धर्म का ऐसा मनोरम चित्र उपस्थित किया है जो संत्रस्त मानव को समाधान देता है उत्कृष्ट मानव निर्माण की योजना का। लेखक का इस पुस्तक के बारे में दावा है कि मानव की वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रिय अस्मिता से जुड़े सभी सवालों को वैदिक धर्म का दृष्टिकोण सम्पूर्ण समाधान में सक्षम है। धर्म का वैदिक दृष्टिकोण

जहाँ मानव की आत्मिक आवश्यकताओं को पूरा करता है वहीं उसकी भौतिक आवश्यकताओं पर भी उसका नियन्त्रण है। श्रद्धेय आचार्य जी ने यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के एक मन्त्र के आधार पर मनुष्य मात्र को धर्म का यह सन्देश दिया है कि "हे मनुष्य इस जगत् के सब पदार्थों में परमेश्वर रमे हुए हैं, इसलिए संसार के पदार्थों का त्यागपूर्वक उपभोग कर किसी के धन में लोभ लालच न कर", भौतिक आवश्यकता एवं आकांक्षाओं की फैलती चादर में समाये हजारों, लाखों लोगों को दिया गया सन्देश इस पुस्तक के रचयिता ने बड़े सहज एवं सरल तरीके से प्रस्तुत कर दिया। मुझे आशा है कि गम्भीर भावों को भी समझाने की उनकी शैली पाठक वर्ग को हृदय तल से वैदिक धर्म के स्वरूप का सहज बोध करायेगी।

आचार्य प्रियव्रत गुरुकुल के आचार्य ऋषि रहे, वे जो बोलते थे तो अन्तर्मानस की ध्यान पीठ से उसका साक्षात्कार करते थे। उनकी वेद मन्त्रों की व्याख्याएं उनके गहन चिंतन का आत्म स्वीकारात्मक दस्तावेज हुआ करती थीं। तभी तो उनकी वाणी से निःसृत स्फुट शब्द जीवन्त जीवन की शाश्वत प्रेरणा बनकर जनमानस को उत्तेजित करते थे। ऐसी ही वाणी से निःसृत उनके चुने हुए अर्थपरक व्याख्यानों का यह अद्भुत संकलन आज आर्य जनता के सामने प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार प्रसन्नता है।

ग्रन्थ की प्रस्तावना में केन्द्र के निदेशक साहित्य जगत् के उद्भट विद्वान् और सुप्रसिद्ध साहित्यकार आचार्य विष्णुदत्त राकेश ने जो छटा बिखेरी है उससे इस ग्रन्थ का तत्वबोध और भी बढ़ गया है। आकर्षक प्रस्तुति के लिए डॉ. जगदीश विद्यालंकार पुस्तकालयाध्यक्ष बधाई के पात्र हैं। आशा है आर्य जनता इस ग्रन्थ को वही सम्मान प्रदान करेगी जो श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन के अन्य ग्रन्थों को अपनाकर दिया है।

दि. 22-3-03

प्रो. स्वतन्त्र कुमार
कुलपति

प्रस्तावना

धर्म मानवता की रक्षा के लिए मंगलकारी विधान है। उसके प्रारम्भ, मध्य और अन्त में कल्याण ही कल्याण निहित होता है। वह एक सार्वभौम अवधारणा है। डॉ. राधाकृष्णन ने ठीक ही कहा है : "धर्म का उद्देश्य इस विश्व की विभाजित चेतना, कलहों और द्वन्द्वों से हमें ऊपर उठाकर सामरस्य, स्वतन्त्रता और प्रेम की दुनिया विकसित करने में हमारी मदद करता है।" नैतिक आचरण, सदाचार, परदुःखकातरता, सेवा, समर्पण, मानवीय मूल्यों में आस्था तथा निरभिमानता के अभाव में समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। धर्म विहीन समाज की भयावहता का अनुमान भी त्रासद है। मानवता की रक्षा के लिए धर्म की रक्षा आवश्यक है। विवेक और तत्वज्ञानपूर्वक अंगीकार की गई आचरण की श्रेष्ठता धर्म का सच्चा आधार है। इसीलिए मनु महाराज ने कहा : "धर्म ही मानव जगत् का रक्षक एवं पोषक है। उसके बिना वह असहाय और असुरक्षित होगा। यदि हमने धर्म को मार दिया तो धर्म भी हमें मार डालेगा; और यदि हम धर्म की रक्षा करेंगे तो वह भी हमारी रक्षा करेगा। अतः धर्म की रक्षा अपने प्राणों से बढ़कर करनी चाहिए—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्।

धर्म ऋत है, धर्म सत्य है। वह देश, काल, जाति, समुदाय तथा समस्त प्राणधारियों के जीवन में प्रवहमान अनुशासन और नियम की धारा है। वह भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नतियों का मूल है। सच्चरित्रता उसकी कसौटी है जो चरित्रवान तथा सत्यनिष्ठ है, उसी के अन्तःकरण में ईश्वर की अनुभूति होती है क्योंकि ईश्वर धर्म है तथा धर्म ईश्वर है। वाल्मीकि ने 'रामोविग्रहवान धर्मः' इसीलिए कहा : व्यास ने 'भगवानपि विश्वात्मा लोक वेदपथानुगः' की घोषणा इसीलिए की। महाभारत के शान्तिपर्व में देव-स्थान मुनि ने महाराज युधिष्ठिर को उत्तम धर्म का उपदेश देते हुए कहा था : "किसी भी प्राणी से द्रोह न करके जिस धर्म का पालन होता है, वही धर्म श्रेष्ठ है। किसी से द्रोह न करना, सत्य का पालन करना, समस्त प्राणियों को यथायोग्य उनका भाग प्रदान

करना, सभी के लिए हृदय में दयाभाव रखना, मन तथा इन्द्रियों का संयमपूर्ण सामंजस्य बनाए रखना, चारित्रिक पवित्रता बनाए रखना तथा शीलपूर्ण जीवन का व्यवहार बनाए रखना ही सच्चा धर्म है। भारतीय आचार्य सिद्धान्त निरूपण तक ही सीमित नहीं रहे, उन्होंने धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर अधिकाधिक बल दिया। इसी कारण कहा गया—आचारः परमो धर्मः। समदृष्टि सम्पन्न होने पर ही धर्म की वास्तविक समझ उदित होती है। सेवा, त्याग, परोपकार, सहानुभूति, सहअस्तित्व, प्रेम, आस्था, विश्वास और करुणा द्वारा उसका शृंगार होता है। चरमसत्ता की प्रत्यक्ष समझ उसे दीप्ति प्रदान करती है, उसमें विरोध, वैमनस्य, घृणा, असहिष्णुता, अनास्था, अविश्वास, अन्याय, उत्पीड़न तथा अनीति के लिए कोई स्थान नहीं होता। महाभारत के वन पर्व में कहा गया है : जो धर्म दूसरे धर्म के लिए बाधक हो, वह धर्म नहीं, कुधर्म है; क्योंकि धर्म तो वास्तव में वह है जो किसी अन्य धर्म का विरोध नहीं करता—

धर्म यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्
अविरोद्धात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः

वेदोक्त धर्म ही वास्तव में मानवमात्र के लिए कल्याणकारी है। वेदविहित कर्त्तव्यों तथा अनुशासनों का पालन करना ही धर्म है, उसका प्रयोजन अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि कहा जाएगा। महर्षिकणाद ने कहा था—**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**। मनु महाराज ने धर्म की पहचान के चार आधार बताए हैं—

वेदःस्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्।

श्रुति और स्मृति द्वारा अनुमोदित आचार तथा उसके दृढ़तापूर्वक पालन से प्राप्त आत्मसन्तोष धर्म के असन्दिग्ध प्रमाण हैं। वर्णाश्रम के कर्त्तव्यों, दायित्वों तथा अनुशासनों के पालन से ही व्यक्ति धार्मिक या अधार्मिक बनता है। नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा आपद्धर्म के चतुर्धा विभाजित रूप उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सूत्र बुनते हैं। प्रश्न हो सकता है कि धर्म तथा अधर्म के निर्णय में अधिकार किसका है, किसकी राय को हम धर्म-अधर्म की निर्णायिका मानें? इसका उत्तर है, शिष्ट जनों के विचार ही धर्म के मूल हैं—

यं शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः स धर्मः स्यादशंकितः।

अर्थात् धर्म के सम्बन्ध में संशय उत्पन्न होने पर शिष्ट जन जो कहें, वही असन्दिग्ध रूप से स्वीकार करने योग्य धर्म है और शिष्ट वह है जो स्मृतियों सहित वेदों का ज्ञाता है, ज्ञाता ही नहीं, वेदोक्त धर्म उसके जीवन में प्रत्यक्ष उतर गए हों, यह देख लेना भी आवश्यक है। करनी और रहनी—दोनों में वेद चरितार्थ होने चाहिए।

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः।

याज्ञवल्क्य स्मृति में भी वेदज्ञ, अध्यात्म के धनी तथा आचारवान् व्यक्तियों की परिषद् के निर्णय को ही धर्म के विषय में प्रमाण मानने का निर्देश है। इनकी संख्या चार, तीन तथा एक हो सकती है–

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविधमेव च
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः

तात्पर्य यह कि मानव मात्र के लिए कल्याणकारी धर्म का मूल वेद है, वह सिद्धान्त कथन ही नहीं करता, सिद्धान्तों के क्रियान्वयन पर बल देता है। कथन और आचरण की एकता के बिना धर्म की सिद्धि नहीं होती। वेद की अनदेखी कर जो कल्पित धर्म निजी हित में गढ़ लिए गए हैं, वे मजहब, पन्थ या सम्प्रदाय की संकीर्णताओं में सिमटे हुए हैं। आचार्य प्रियव्रत जी कहते हैं : "किसी सिद्धान्त के लिए धर्म कहलाने के लिए आवश्यक है कि वह अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि की, इस लोक और परलोक दोनों की उन्नति की, कसौटी पर समान रूप से सही उतरता हो। कम से कम उसे इनमें से किसी एक का विरोध तो हरगिज़ नहीं करना चाहिए। आर्य समाज धर्म का यही लक्षण स्वीकार करता है। हम लोग किन्हीं विश्वासों को धर्म नहीं कहते। हमारे यहाँ धर्म जीवन बिताने का एक ढंग है जिसमें चलते हुए हम इस संसार की भी सब प्रकार की उन्नति कर सकते हैं और अन्त में अपने परम लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति के योग्य भी अपने को बना लेते हैं। दूसरे शब्दों में कहना हो तो हम कह सकते हैं कि आर्य समाज के लिए धर्म एक विश्वासों का समुदाय (Bundle of beliefs) नहीं है, प्रत्युत वह समग्र जीवन के सम्बन्ध में एक दृष्टि (An outlook on entire life) है जिसका अनुसरण करते हुए हम जीवन के प्रत्येक पहलू में खूब उन्नति करते हैं और यह उन्नति इस ढंग से की जाती है कि जीवन का परम लक्ष्य ब्रह्म प्रतिक्षण हमारे मानसिक चक्षु के आगे रहता है। अगर किन्हीं लोगों के कुछ विश्वास ऐसे हैं जो हमारी इस संसार की सर्वांगपूर्ण उन्नति नहीं होने देते बल्कि उलटा उसमें बाधा डालते हैं तो आर्य समाज उन विश्वासों को कभी धर्म स्वीकार नहीं करेगा। हम गीता के शब्दों में इस बात को मानने वाले हैं कि जो धर्मशील (यज्ञ शील) नहीं है उसका तो यही लोक नहीं बनता, अगले की तो आशा ही क्या की जा सकती है–

नायं लोकोऽस्त्य यज्ञस्य, कुतोऽन्यः कुरुसत्तम । गीता 4.3 ।

आज धर्म के वास्तविक रूप को न समझने के कारण धर्म को मानवता विरोधी बताया जा रहा है। धर्म पर तरह-तरह के आक्षेप होते हैं। धर्म का नकारात्मक रूप प्रचारित किया जाता है। आचार्य प्रियव्रत जी ने 'मेरा धर्म' पुस्तक में धर्म के यथार्थ स्वरूप का चित्रण किया है। वह कहते हैं–"ऋग्वेद (10.71.9) में एक स्थान पर वेद के अध्ययन से मिलने वाले लाभों का वर्णन करते

हुए बड़े सुन्दर कवितामय ढंग में कहा गया है[1]—'जो लोग न तो इस लोक की उन्नति करते हैं और न परलोक की, जो लोग न तो ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण बनते हैं और न ही भाँति-भाँति के कर्म करने वाले कर्मशील व्यक्ति ही बनते हैं, वे अज्ञानी इस वेद वाणी को पाकर भी पाप के जीवन में ही फँसे रहते हैं और केवल बातों का ताना-बाना तनते रहते हैं।' वेद पढ़ने का फल यह होना चाहिए कि हम उससे हमारी सांसारिक सुख-समृद्धि बढ़ाने वाले भाँति-भाँति के उत्तम कर्म करने वाले कर्मशील और ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले ब्रह्मज्ञानी बन जाएँ। वेद हमारा धर्म ग्रन्थ है। वेद के इस वर्णन से भी यही बात स्पष्ट है कि धर्म से हमारी इस लोक और परलोक दोनों की उन्नति होनी चाहिए—धर्म से हमें सांसारिक अभ्युदय और मोक्ष दोनों की प्राप्ति होनी चाहिए। सारे वेद का एकमात्र यही प्रयोजन है।''[2] तात्पर्य यह कि धर्म व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और प्राणिमात्र के सुखद सम्बन्धों के मार्ग में उपयोगी और साधक है, उसे किसी भी प्रकार बाधक नहीं कहा जा सकता।

'मेरा धर्म' आचार्य प्रियव्रत जी के धर्म विषयक भाषणों का पुस्तकाकार प्रकाशित रूप है। लाहौर आर्य समाज के उत्सवों पर आयोजित सर्वधर्म सम्मेलनों में 1931 ई. से लेकर 1942 ई. के मध्य दिए गए नौ भाषणों (वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति, वेद और गोपालन, वैदिक समाज व्यवस्था, वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति, वैदिक धर्म और उपासना, वैदिक धर्म और मांस भक्षण, वैदिक धर्म और ब्रह्मचर्य तथा पश्चिमी डॉक्टर, वैदिक धर्म और अन्य धर्मावलम्बी तथा वेद और इलहाम) का संकलित रूप 'मेरा धर्म' पुस्तक 1957 ई. में गुरुकुल स्वाध्याय मंजरी के छब्बीसवें पुष्प के रूप में प्रकाशित हो चुकी है। इस ग्रन्थ की उपादेयता बताते हुए स्वयं आचार्य जी ने इसकी भूमिका में लिखा था—''वैदिक धर्म त्रैकालिक और सार्वभौम धर्म है। उसमें धरती के लोगों की भूतकाल की समस्याओं का समाधान करने की भी शक्ति रही है, वह उनकी आज की भी समस्याओं का समाधान कर सकता है और भविष्य की समस्याओं का भी समाधान कर सकने की शक्ति उसमें है। वह हमारे वैयक्तिक जीवन की कठिनाइयों को भी सुलझा सकता है और सामाजिक तथा राष्ट्रिय जीवन की कठिनाइयों को भी। पूर्ण रूप से अपनाया हुआ और आचरण में ढाला हुआ वैदिक धर्म हमारी इस धरती को स्वर्ग बना सकता है।

आचार्य प्रियव्रत स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के शिष्य तथा गुरुकुल कांगड़ी के सुयोग्य स्नातक थे। वह आजन्म वेदों के पठन-पाठन तथा लेखनकार्य में तल्लीन रहे। उन्होंने ऋषियों जैसा जीवन व्यतीत किया। संस्कृत-वैदिक व्याकरण, साहित्य, दर्शन, वैदिक वाङ्मय, विज्ञान, भारतीय

---

1. इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः
   त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः।

2. मेरा धर्म—प्रथम संस्करण, पृष्ठ 134

इतिहास, संस्कृति तथा तुलनात्मक धर्मों के अध्ययन में उनकी अबाध गति थी। आपने वेदसंहिताओं और उनके विभिन्न भाष्यों, टीका-टिप्पणियों, ब्राह्मण ग्रन्थों, सूत्र ग्रन्थों, प्रातिशाख्यों, निघंटु-निरुक्त तथा स्मृतियों का तलस्पर्शी अध्ययन किया था। आगे चलकर आपकी वैदिक संस्कृति और वैदिक साहित्य सम्बन्धी गम्भीर गवेषणाओं, आर्य समाज विषयक सेवाओं तथा वेदोपाध्याय और आचार्य-उपकुलपति के रूप में की गई दीर्घकालीन सेवाओं को देखते हुए 1976 ई. में गुरुकुल विश्वविद्यालय ने आपको अपनी सर्वोच्च उपाधि 'वेदमार्तण्ड' प्रदान की। 1928 ई. से 1943 ई. तक दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय लाहौर में वेदोपदेशक रहकर पंजाब जैसे उर्दू प्रधान प्रदेश में वैदिक साहित्य, आर्य धर्म संस्कृति और संस्कृति प्रचार के साथ-साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार का कार्य किया। आप एक कुशल लेखक होने के साथ-साथ प्रभावशाली वक्ता भी थे। भारतीय और पाश्चात्य वैदिक विद्वानों का विश्लेषण कर उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा स्वामी श्रद्धानन्द की स्थापनाओं और कार्यों का युक्ति युक्त प्रतिष्ठापन किया। आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं— (1) वरुण की नौका (दो भाग), (2) वेदोद्यान के चुने हुए फूल, (3) वेद का राष्ट्रीयगीत, (4) समाज का कायाकल्प, (5) मेरा धर्म, (6) संस्कृत प्रवेशिका, (7) वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त (तीन खण्ड) तथा (8) वेद और उसकी वैज्ञानिकता। आचार्य जी के ग्रन्थों की प्रशंसा भारत रत्न डॉ. भगवानदास, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, पण्डित ढुंढिराज शास्त्री, डॉ. सी. डी. देशमुख, डॉ. कालिदास नाग, डॉ. सम्पूर्णानन्द, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, डॉ. मंगल देवशास्त्री तथा डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल जैसे प्राचीन और अर्वाचीन पद्धति के विद्वानों ने भी की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'मेरा धर्म' धर्म और राष्ट्र-विकास के स्वरूप पर दिशा-निर्देश करने वाला है। आज जब सम्पूर्ण विश्व में धार्मिक आतंकवाद के काले बादल मंडरा रहे हैं, मानवता के अस्तित्व को खतरा पैदा हो गया है, छद्म धर्म निरपेक्षता के नारों में धर्म को छलावा समझा जा रहा है। वर्ण, पन्थ, सम्प्रदाय, जाति, भाषा और वर्ग प्रान्त के नाम पर समाज को छिन्न-भिन्न किया जा रहा है, भारतीय समाज विशेषतः टुकड़ों-टुकड़ों में बिखर रहा है तब वेद-धर्म का यह उपदेश कितना प्रासंगिक, उपयोगी और अनिवार्य है, पाठक स्वयं समझ सकता है।

इस ग्रन्थ के पुनर्मुद्रण की प्रेरणा विश्वविद्यालय के यशस्वी कुलपति प्रो. स्वतन्त्र कुमार जी से मिली। वह आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के महामंत्री भी हैं। ये सुविचारित निबन्ध पंजाब के आर्य समाजों के उत्सवों पर लिखे-बोले गए थे और अत्यन्त लोकप्रिय हुए थे, अतः इनके प्रति उनका लगाव भी स्वाभाविक है। विदेशी शासन की ह्रासोन्मुखी व्यवस्था में इन भाषणों ने जन सामान्य को धर्मान्तरण के शाप से भी बचाया। अतः मैं इनके प्रकाशन को राष्ट्रधर्म का त्यौहार मानता हूं। विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सुदर्शन शर्मा, परिद्रष्टा श्री सदानन्द जी, आचार्य

वेदप्रकाश जी, कुलसचिव डॉ. महावीर अग्रवाल तथा वित्ताधिकारी श्री जयसिंह गुप्त को विशेष धन्यवाद। ग्रन्थ के सुरुचिपूर्ण मुद्रण की व्यवस्था के लिए डॉ. जगदीश विद्यालंकार को साधुवाद।

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र की यह एक और रेखांकित किए जाने योग्य उपलब्धि है। मैं तो स्वामी श्रद्धानन्द का समर्पित भक्त हूँ। यदि वह और उनका गुरुकुल न होता तो राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत देश-धर्म के बलिदानी नव युवक स्नातक इस देश में पैदा नहीं हो पाते। इस अवसर पर मुझे आतिश का यह शेर बरबस याद आ रहा है–

जब तक बिके न थे तो कोई पूछता न था,
तुमने ख़रीदकर हमें अनमोल कर दिया।

इन शब्दों के साथ यह ग्रन्थ सहृदय पाठकों के करकमलों में समर्पित करता हूँ।

आचार्य डॉ. विष्णुदत्त राकेश

रंगपंचमी

22 मार्च 2003 ई.

पी-एच.डी., डी.लिट., विद्यावाचस्पति विद्यासागर
अध्यक्ष मानविकी संकाय तथा निदेशक
श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तरांचल)

भूमिका
(प्रथम संस्करण)

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के आचार्य-पद का कार्यभार संभालने से पहले हमारा कार्य-क्षेत्र पंजाब था। उस समय तक देश का विभाजन नहीं हुआ था। उन दिनों पंजाब में हमारा कार्य आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के तत्त्वावधान में वैदिक-धर्म और संस्कृति के प्रचार का था। इस प्रयोजन की मूर्ति के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से 'आर्य' नाम की एक मासिक पत्रिका प्रकाशित हुआ करती थी। इसी प्रयोजन के लिए सभा ने दयानन्द-उपदेशक-विद्यालय नाम की सुप्रसिद्ध संस्था चला रखी थी जिस में वैदिक-धर्म के प्रचारार्थ उपदेशक (मिशनरी) तैयार किये जाते थे। और इसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए सभा ने वेद-प्रचार नाम से एक बड़ा भारी संगठन चला रखा था जिस के द्वारा पंजाब-भर के नगरों में प्रचार और उत्सवों की व्यवस्था करा के वैदिक-धर्म के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विद्वान् उपदेशकों के व्याख्यान कराये जाते थे। उन दिनों आर्य प्रतिनिधि सभा का मुख्य कार्यालय लाहौर में गुरुदत्त-भवन नामक स्थान में था। वहीं से 'आर्य' पत्र निकलता था और वहीं दयानन्द-उपदेशक-विद्यालय स्थापित था। सभा ने हमें 'आर्य' पत्र के सम्पादन का कार्य दे रखा था। आठ-दस वर्ष तक हम इस पत्र के सम्पादक रहे और उस के द्वारा वैदिक-धर्म और संस्कृति के प्रचार का कार्य करते रहे। तदनन्तर सभा ने हमें दयानन्द- उपदेशक-विद्यालय के संचालन का काम सौंप दिया और हम उस के आचार्य के रूप में आठ-दस वर्ष कार्य करते रहे। उपदेशक-विद्यालय में हमें अपने छात्रों को वैदिक-साहित्य का अध्यापन कराना होता था और वैदिक-धर्म तथा संस्कृति के भिन्न-भिन्न पहलुओं को उन के आगे उपस्थित करना होता था। 'आर्य' का सम्पादन और उपदेशक-विद्यालय के आचार्य का कार्य करते हुए हम वैदिक-धर्म के प्रचार के निमित्त पंजाब की आर्यसमाजों के उत्सवों में भी निरन्तर सम्मिलित होते रहते थे। इन उत्सवों में भी हमें वैदिक-धर्म और संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर व्याख्यान देने होते थे। इन सब कार्यों के प्रसंग में हमें वैदिक-साहित्य के स्वाध्याय और वैदिक-धर्म तथा संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर चिन्तन करने का पर्याप्त अवसर मिलता था।

उन दिनों पंजाब की आर्यसमाजों के उत्सवों में एक बड़ी सुन्दर परिपाटी प्रारम्भ हुई थी।

सभाओं के उत्सवों में 'सर्व-धर्म-सम्मेलन' नाम से एक सम्मेलन हुआ करता था। इन सम्मेलनों के द्वारा विभिन्न धर्मों के लोगों को एकत्र करने का प्रयत्न किया जाता था। सम्मेलन में कोई एक विचारणीय विषय रख दिया जाता था। विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों को बुला कर उस विचारणीय विषय पर उन के धर्मों के दृष्टिकोण से अपने विचार उपस्थित करने को कहा जाता था। इस प्रकार इन सर्व-धर्म-सम्मेलनों के द्वारा धर्म के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर विविध धर्मों के प्रतिनिधियों के विचार जनता के सामने लाये जाते थे और उसे यह देखने का अवसर दिया जाता था कि विचारणीय विषय पर विविध धर्मों के विचार कहां तक मिलते हैं और कहां तक नहीं। ऋषि दयानन्द ने सन् १८७६ के दिसम्बर मास में लार्ड लिटन के दरबार के समय दिल्ली में जो विभिन्न धर्मों के नेताओं की एक एकता-सभा बुलाई थी उसी से प्रेरणा ले कर आर्यसमाजों के उत्सवों में सर्व-धर्म-सम्मेलन आयोजित करने की यह परिपाटी प्रारम्भ हुई थी। इस से विभिन्न धर्मो के प्रतिनिधियों को प्रेम और सहानुभूति के वातावरण में एक-दूसरे से मिलने का और एक-दूसरे के विचार सुनने का अवसर मिलता था। यह आशा की जाती थी कि इन अवसरों पर भिन्न-भिन्न धर्मों के प्रतिनिधियों का परस्पर मिलना और एक-दूसरे के विचारों को सुनना शनैः-शनैः धर्मों के विरोध-भाव को कम करने और कालान्तर में धर्मो को एक-दूसरे के निकट लाने का कारण बनेगा। ऋषि दयानन्द 'वाद और लेख द्वारा' उन बातों को पता लगाने और उन की ओर सब का ध्यान आकृष्ट करने पर बड़ा बल दिया करते थे जिन बातों को सभी धर्मों वाले सत्य और मनुष्यों के लिये उपयोगी मानते हैं। ऐसी सार्वभौम बातों पर बल देते रहने से शायद कोई दिन ऐसा आ जाये जब कि सारी मनुष्य-जाति का धर्म एक हो जायेगा। ऋषि दयानन्द का ऐसा आशय था। और ऋषि का विचार था कि वह सार्वभौम-धर्म-वैदिक-धर्म ही होगा। कुछ इसी प्रकार के विचार से आर्यसमाजों के उत्सवों में यह सर्व-धर्म-सम्मेलन करने की पद्धति चली थी। दौर्भाग्य से यह परिपाटी कुछ समय तक ही चली। फिर बन्द हो गयी। यह अनुभव किया जाने लगा कि बहुत बार अन्य धर्मों के प्रतिनिधि इन सम्मेलनों में आकर अपने धर्म-ग्रन्थों का दृष्टिकोण उपस्थित न कर के ऐसी बातें कहने लग जाते हैं जो उन के धर्म-ग्रन्थों में बिलकुल नहीं पाई जातीं, वे ऐसी बातें कहने लग जाते हैं जो उन के धर्मों में न पाई जा कर वैदिक-धर्म में पाई जाती हैं, अपने धर्म-ग्रन्थों के नाम से कहते हैं। उन की इस मिथ्या-उक्ति का प्रयोजन जनता में अपने धर्म और धर्म-ग्रन्थों की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता को बढ़ाना होता था। सही-सही बात कहना उन का प्रयोजन नहीं होता था। शुरू-शुरू में ये सर्व-धर्म-सम्मेलन बड़े मनोरंजक और शिक्षाप्रद होते थे। पर बाद में उपर्युक्त कारण से सर्व-धर्म-सम्मेलनों में यह परिपाटी प्रायः बन्द हो गई।

उन दिनों लाहौर (वच्छोवाली) आर्यसमाज का वार्षिक उत्सव पंजाब भर की आर्यसमाजों

के वार्षिकोत्सवों में एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। लाहौर आर्यसमाज का वार्षिक उत्सव सारे पंजाब का उत्सव समझा जाता था और इस ने पंजाब-भर के आर्यों के वार्षिक मेले का रूप धारण कर रखा था। इस उत्सव को देखने के लिये पंजाब के प्रायः सभी नगरों के आर्य-पुरुष आया करते थे। इस उत्सव में व्याख्यान देने के लिये भारत-भर के बड़े-बड़े आर्य-विद्वानों को बुलाया जाता था। लाहौर आर्यसमाज के इस उत्सव में भी प्रायः प्रति वर्ष सर्व-धर्म-सम्मेलन की आयोजना रहती थी। कई बार वैदिक-धर्म के प्रतिनिधि के रूप में इन सम्मेलनों में हमें भी बोलना पड़ा था। सम्मेलनों में भाग लेने वाले विभिन्न धर्मो के प्रतिनिधियों से यह आशा की जाती थी कि वे जो भाषण देंगे उसे लिख कर भी लायेंगे। 'मेरा धर्म' में जो निबन्ध छप रहे हैं वे सब समय-समय पर इन सर्व-धर्म-सम्मेलनों में पढ़े गये थे, या इन के आधार पर इन सम्मेलनों में भाषण दिये गये थे। इन सम्मेलनों आयोजकों का विचार था कि सम्मेलनों में दिये गये भाषणों को पुस्तकाकार में भी प्रकाशित कर दिया जायेगा। पर उन का यह विचार क्रिया में परिणत न हो सका। इस कारण हमारे ये भाषण भी प्रकाशित न हो सके थे। फिर देश के विभाजन के पश्चात् तो पंजाब में आर्यसमाज का सारा कार्य ही विशृंखलित-सा हो गया। फलतः अब तक हमारे ये भाषण अप्रकाशित ही पड़े रहे। अब गुरुकुल-स्वाध्याय-मञ्जरी में इन भाषणों को 'मेरा धर्म' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।

'मेरा धर्म' में नौ निबन्ध प्रकाशित हो रहे हैं इन में से प्रथम निबन्ध 'वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति' वैशाख सं. १६८८ (अप्रैल १६३१) में गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी के वार्षिक उत्सव के अवसर पर आयोजित सर्व-धर्म-सम्मेलन में पढ़ा गया था। इस सम्मेलन का विषय था 'मेरे धर्म में स्त्रियों की स्थिति', जिस पर विभिन्न धर्मो के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने धर्म के दृष्टिकोण से भाषण दिये थे। क्योंकि हम वैदिक-धर्म का प्रतिनिधित्व कर रहे थे इस लिये हम ने अपने भाषण और निबन्ध का शीर्षक रखा था—'वैदिक-धर्म में स्त्रियों की स्थिति' उस के पश्चात् शेष सब निबन्ध वे हैं जो समय-समय पर लाहौर आर्यसमाज के वार्षिक उत्सवों के अवसर पर आयोजित सर्व-धर्म-सम्मेलनों में पढ़े गये थे, या उन के आधार पर भाषण दिये गये थे। इन सम्मेलनों के विषय, जिन पर विभिन्न धर्मो के प्रतिनिधियों ने अपने-अपने धर्म के दृष्टिकोण से विचार किया था, क्रम से इस प्रकार थे—'मेरा धर्म और गो-पालन', 'मेरे धर्म में वर्णित समाज-व्यवस्था,' 'क्या धर्म राष्ट्रिय उन्नति में बाधक है ?', 'मेरे धर्म में उपासना का प्रयोजन,' 'मेरा धर्म और मांस-भक्षण,' 'मेरा धर्म और ब्रह्मचर्य,' 'मेरे धर्म का अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति दृष्टिकोण,' तथा 'मेरा धर्म-ग्रन्थ और इलहाम'। तदनुसार हमने अपने निबन्धों और भाषणों के शीर्षक क्रम से ये रखे थे—'वेद और गोपालन', 'वैदिक समाज-व्यवस्था', 'वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति', 'वैदिक धर्म और उपासना', 'वैदिक धर्म और मांस-भक्षण', 'वैदिक

धर्म और ब्रह्मचर्य', 'वैदिक धर्म और अन्य धर्मावलम्बी', तथा, 'वेद और इलहाम'। प्रस्तुत संग्रह 'मेरा धर्म' में ये ही नौ निबन्ध प्रकाशित हो रहे हैं। इस संग्रह में हमने 'वैदिक धर्म और ब्रह्मचर्य' निबन्ध का शीर्षक 'वैदिक-धर्म और ब्रह्मचर्य तथा पश्चिमी डाक्टर' रख दिया है, क्योंकि इस निबन्ध के अन्तिम खण्ड में हमने ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में कुछ प्रसिद्ध पश्चिमी डाक्टरों की सम्मतियाँ उद्धृत की हैं। इस शीर्षक के कारण आज के अंग्रेजी शिक्षित लोगों का ध्यान इस निबन्ध की ओर अधिक आकृष्ट होगा। ये सब भाषण सन् १६३१ से १६४२ तक के वर्षों में दिये गये थे।

क्योंकि सम्मेलनों के ऊपर निर्दिष्ट विषयों पर हमने अपने वैदिक-धर्म के दृष्टिकोण से भाषण दिये थे इस लिये इन भाषणों के अपने इस संग्रह का शीर्षक हम ने 'मेरा धर्म' रख दिया है। इस संग्रह का नाम 'मेरा धर्म' रखने का एक और भी कारण है। हम वैदिक धर्म के अनुयायी हैं। वैदिक साहित्य के अवगाहन और चिन्तन से वैदिक धर्म का जो उदात्त और जन-कल्याणकारी चित्र हमारे सामने आया है उस के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण अंगों का प्रतिपादन इस संग्रह के निबन्धों में हो गया है। यदि एक शब्द में कहना हो तो वैदिक धर्म का वर्णाश्रम का धर्म कहा जा सकता है। वर्णाश्रम-धर्म वैदिक-धर्म का निचोड़ है। 'वैदिक समाज-व्यवस्था' तथा 'वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति' इन दो निबन्धों में वर्णाश्रम-धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन पर्याप्त विस्तार से किया गया है। 'वैदिक समाज-व्यवस्था' निबन्ध तो है ही सारा वर्णाश्रम-धर्म के सम्बन्ध में। इन निबन्धों में चारों वर्णों और चारों आश्रमों के स्वरूप और उन की समाज के लिए उपयोगिता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वर्णाश्रम-धर्म के अनेक पहलुओं पर विचार करते हुए यह दिखाया गया है कि समाज की वर्णाश्रम-धर्म के आधार पर की जाने वाली व्यवस्था पूंजीवादी और साम्यवाद दोनों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ व्यवस्था है। प्रसंग से इन निबन्धों में वैदिक-राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी संक्षिप्त निर्देश हो गया है। ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन करते हुए वैदिक-शिक्षा-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ कह दिया गया है। वैदिक धर्म में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन पांच नियमों, तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच यमों को व्यक्ति के चरित्र का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाता है। इन यम और नियमों को वैदिक धर्म में आर्य-चरित्र का लक्षण माना जाता है। इन दोनों निबन्धों में इन यम और नियमों की भी संक्षिप्त परन्तु मार्मिक व्याख्या की गई है। 'वैदिक धर्म और मांस-भक्षण' निबन्ध में तो अहिंसा के सिद्धान्त पर बहुत विस्तार से विचार किया गया है और कई मौलिक बातें कही गई हैं। इस प्रकार 'वैदिक धर्म और ब्रह्मचर्य तथा पश्चिमी डाक्टर' निबन्ध में ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है और वहां भी कितनी ही मौलिक बातें कही गई हैं। मनुष्य के जीवन को पवित्र और कर्तव्य-परायण बनाने के लिए

वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड में विधान किया गया है कि मनुष्य को प्रतिदिन पंच-महायज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिये। 'वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति' निबन्ध में प्रसंग से इन पंच-महायज्ञों के स्वरूप और उन की व्यावहारिक उपयोगिता का भी संक्षिप्त विवेचन हो गया है। 'वैदिक धर्म और उपासना' निबन्ध में इन पंच-महायज्ञों में से ब्रह्मयज्ञ अथवा सन्ध्योपासना के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से विचार किया गया है, और अनेक मौलिक बातें कहीं गई हैं। वैदिक धर्म में मनुष्य-जीवन का मुख्य और अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मसाक्षात्कार और उस से मिलने वाली ब्रह्मानन्द की प्राप्ति बताया गया है। इस के लिये ब्रह्म अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को समझना और उस के साक्षात्कार के साधनों को जानना जरूरी है। 'वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति' निबन्ध से प्रसंग से परामात्मा के स्वरूप का भी विवेचन हो गया है और परमात्मा की सत्ता की सिद्धि में कुछ प्रमाण भी उपस्थित कर दिये गये हैं तथा यह भी दिखा दिया गया है कि परमात्मा में विश्वास किस प्रकार व्यावहारिक जीवन में भी लाभ पहुंचाता है। 'वैदिक-धर्म और उपासना' निबन्ध में उपासना के स्वरूप पर विस्तार से विचार करते हुए परमात्मा के साक्षात्कार के साधनों का भी विवेचन हो गया है। वैदिक धर्म और संस्कृति में गौ का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहां गौ का पालन प्रत्येक गृहस्थ का आवश्यक कर्तव्य माना गया है। गो-पालन और गो-रक्षा के सम्बन्ध में वैदिक धर्म क्या-कुछ कहता है ? इस सम्बन्ध में 'वेद और गोपालन' निबन्ध में बहुत विस्तार से विचार किया गया है। वैदिक धर्म अहिंसावादी धर्म है। उस में गौ और दूसरे पशु-पक्षियों की हिंसा सर्वथा निषिद्ध है। वैदिक धर्म के अनुसार गौ आदि पशुओं का केवल दूध पिया जा सकता है, उन्हें मार कर उन का मांस नहीं खाया जा सकता। इस सम्बन्ध में 'वेद और गो-पालन' तथा 'वैदिक धर्म और मांसभक्षण' निबन्धों में पर्याप्त विचार किया गया है। 'वैदिक धर्म और मांसभक्षण' निबन्ध में इस सम्बन्ध में भी विस्तार से विचार किया गया है कि किसी भी पशु-पक्षी का मांस क्यों नहीं खाना चाहिए। वैदिक धर्म के अनुसार मनुष्य-समाज में स्त्रियों का क्या स्थान है इस सम्बन्ध में 'वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति' निबन्ध में विचार किया गया है और स्त्रियों-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का वेद के आधार पर समाधान किया गया है। 'वैदिक धर्म और अन्य धर्मावलम्बी' निबन्ध में यह दिखाया गया है कि वैदिक-धर्मियों का अन्य धर्मों के अनुयायियों के प्रति क्या दृष्टिकोण रहता है। वैदिक धर्म का मूलस्रोत वेद है। वैदिकधर्मी लोग वेद को ईश्वर की वाणी मानते हैं। उन के मत में वेद अपौरुषेय हैं--ईश्वर द्वारा दिया हुआ ज्ञान या इलहाम हैं। वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने का क्या प्रमाण हैं इस विषय में 'वेद और इलहाम' निबन्ध में विचार किया गया है। विचारशील पुरुषों के मन में अनेक बार यह प्रश्न भी उठा करता है कि धर्म का विशुद्ध स्वरूप क्या है और विशुद्ध धर्म को जानने की कसौटी क्या है। इस प्रश्न का समाधान 'वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति'

तथा 'वैदिक धर्म और अन्यधर्मावलम्बी' इन निबन्धों में किया गया है, और बताया गया है कि विशुद्ध धर्म की कसौटी पर वैदिक धर्म ही पूरा उतरता है। वैदिक-धर्म-विषयक और भी कितनी ही बातों का विवेचन इस संग्रह के निबन्धों में हो गया है। इस प्रकार इस संग्रह के निबन्धों के अध्ययन से लेखक के प्रिय धर्म वैदिक-धर्म का एक समुज्ज्वल और लोक-कल्याणकारी चित्र पाठकों के मन में उपस्थित हो जायेगा। इसी से हम ने इस निबन्ध-संग्रह का नाम 'मेरा धर्म' रखा है।

'मेरा धर्म' के अध्ययन से पाठक वैदिक-धर्म का जो स्वरूप देखेंगे वह ऐसा है जिस में मनुष्य के वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की सभी प्रकार की समस्याओं का समाधान करने का सामर्थ्य है। वैदिक-धर्म ऐसा धर्म है जो मनुष्य की आत्मिक आवश्यकताओं को भी पूरा कर सकता है और भौतिक आवश्यकताओं को भी। वैदिक-धर्म मनुष्य की आत्मा की भूख को भी मिटा सकता है और उस के शरीर की कपड़े-लत्ते तथा रोटी की भूख को भी। वैदिक-धर्म मनुष्य को मनुष्य से, मुनष्य को प्राणीमात्र से, और, मुनष्य को परमात्मा से व्यवहार करना सिखाता है। वैदिक धर्म हमारी धरती को स्वर्ग और हम सब को स्वर्ग में रहने वाले देवता बना सकता है।

इन निबन्धों के भाषण, जैसा ऊपर कहा गया है, सन् १९३१-४२ के सालों में दिये गये थे। इस लिये इन में का सब से पहला निबन्ध कोई २६-२७ वर्ष पहले लिखा गया था और सब से पिछला निबन्ध कोई १५-१६ वर्ष पहले लिखा गया था। इस प्रकार इन निबन्धों को लिखे काफी अरसा हो गया था। इस लिये प्रस्तुत संग्रह में इन निबन्धों को प्रकाशित करते समय इन में कहीं-कहीं कुछ घटा-बढ़ा भी दिया गया है। पर यह परिवर्तन बहुत अल्प परिमाण में ही हुआ है। निबन्धों का अधिकांश में रूप वही है जो तब था जब ये पहले-पहल लिखे गये थे। जब ये निबन्ध पढ़े गये थे, अथवा इन के आधार पर भाषण दिये गये थे तो श्रोताओं ने इन्हें काफी पसन्द किया था। आशा है 'मेरा धर्म' के पाठकों को भी ये निबन्ध पसन्द आयेंगे।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
वैशाख २०१४

प्रियव्रत वेदवाचस्पति

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
दो शब्द	तीन
प्रस्तावना	पाँच
भूमिका	ग्यारह

मेरा धर्म १-३५०

वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति ३-२८

स्त्रियों की आज की शोचनीय अवस्था	३
स्त्रियों की स्थिति और ऋषि दयानन्द	६
वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति	६
तीन कसौटियाँ	६
वेद और स्त्री-शिक्षा	७
वेद और स्त्रियों का विवाहित जीवन	६
विवाह की आयु	१०
पति-पत्नी एक-दूसरे को स्वयं चुनते हैं	१२
चुनाव में माता-पिता का सहयोग	१३
पति के घर में पत्नी की स्थिति	१३
एक-पति और एक-पत्नी व्रत	१५
तलाक नहीं हो सकता	१५
पुनर्विवाह	१८
पति की सम्पत्ति में पत्नी का अधिकार	१६
पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार	२१

विषय	पृष्ठ
वेद और स्त्रियों की सामाजिक स्थिति	२२
परदा नहीं है	२२
स्त्रियाँ राजा और अन्य राज्याधिकारी भी बन सकती हैं	२३
वैदिक नारी की सामाजिक आकांक्षा	२४
स्त्रियों का एक महान् कर्तव्य	२५
वेद और गो-पालन	**२६-५१**
वैदिक गृहस्थ के जीवन में गौ का स्थान	२६
गौओं के लिए राष्ट्रिय प्रार्थना	३१
राज्य और गो-पालन तथा गो-पालन के सम्बन्ध में वेद के निर्देश	३२
गौ का दूध-दही सोम है	३६
गौओं की हत्या नहीं की जा सकती	४२
गो-पालन-विषयक कुछ अन्य निर्देश	४७
गौओं को कैसे सांड से मिलाया जाये ?	४८
यज्ञों में गो-हिंसा वेद-विरुद्ध है	४९
वैदिक समाज-व्यवस्था	**५२-१२६**
आज के समाज की भीषण आर्थिक विषमता	५२
आज की समाज-व्यवस्था मनुष्य के आत्मा का पतन करती है	५४
आज धन की बेहद पूजा होती है	५५
आज के प्रजातन्त्रों में भी धन का ही बोलबाला है	५६
शासकों का उद्देश्य भी धन कमाना ही रहता है	५६
धन-लिप्सु राष्ट्र अन्य राष्ट्रों पर घोर अत्याचार करते हैं	५७
भीषण युद्धों का मूल-कारण धन-लिप्सा	५८
सीमातीत धन-लिप्सा के घोर दुष्परिणाम	६०
आज की समाज-व्यवस्था पूंजीवादी है	६१
पूंजीवादी समाज-व्यवस्था को बदलना होगा	६१
साम्यवाद (कम्युनिज्म)	६१
वर्णाश्रम-व्यवस्था	६२

विषय	पृष्ठ
कोई भूखा नहीं मरना चाहिये	६२
पांच आलम्बन-पदार्थ	६२
अनुबन्ध-पदार्थ	६३
पूंजीवाद लोभ और संचय-शीलता पर आधारित है	६४
वर्णाश्रम-व्यवस्था में धन का सर्वोपरि महत्त्व नहीं है	६४
वर्णाश्रम-व्यवस्था त्याग के जीवन पर बल देती है	६५
वर्णाश्रम-व्यवस्था दान पर बल देती है	६६
वर्णाश्रम-व्यवस्था सम्पत्ति को बांट कर भोगने पर बल देती है	६७
पांच यम और पांच नियम	६८
अपरिग्रह	७०
चार वर्ण और चार आश्रम	७२
वर्णों का चुनाव	७५
व्रत-ग्रहण-पूर्वक विद्याध्ययन	७६
मनुष्य-समाज के तीन शत्रु : अभाव, अज्ञान और अन्याय	७७
ब्राह्मणों का व्रत	७८
क्षत्रियों का व्रत	७६
वैश्यों का व्रत	८०
सब वर्णों वाले अपने को राष्ट्र का न्यासरक्षक (ट्रस्टी) समझते हैं	८२
शिक्षा के क्षेत्र में वर्णाश्रम-व्यवस्था का अनूठा सिद्धान्त	८२
वर्णों का शक्ति-सन्तुलन	८२
दुरुपयोग करने पर सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है	८४
सम्पत्ति का अधिकार जन्म से नहीं, सदुपयोग से	८५
सन्तानों का परिवर्तन	८६
केवल श्रम से भी सम्पत्ति का अधिकार नहीं	८८
सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व	८६
सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर प्रतिबन्ध	६०
वर्णाश्रम-व्यवस्था के आध्यात्मिक प्रतिबन्ध	६०

विषय	पृष्ठ
साम्यवाद के भौतिक प्रतिबन्ध	६१
साम्यवाद सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार नहीं करता	६२
व्यक्तिगत स्वामित्व के आधार में मनोवैज्ञानिक तथ्य : अहंकार और ममत्व	६३
वर्णाश्रम-व्यवस्था सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को स्वीकार करती है	६४
व्यक्तिगत स्वामित्व के दोषों का प्रतीकार	६५
साम्यवाद मनोवैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करता है	६६
साम्यवाद का आदर्श रूस में भी ढीला हो गया है	६६
प्रतिस्पर्धा का तत्त्व	६६
व्यक्तियों में योग्यता और रुचियों का भेद	१००
यथायोग्य दक्षिणा	१०२
पूर्ण साम्य मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है	१०३
शिक्षा में अवसर की पूर्ण समानता	१०४
शिक्षा में वानप्रस्थाश्रम का महत्त्व	१०५
गृहस्थ ब्राह्मण शिक्षक और उनकी जीविका	१०५
आज की व्यवस्था में शिक्षा महंगी होने के दुष्परिणाम	१०६
वर्णाश्रम-व्यवस्था में शिक्षा सर्वथा निःशुल्क होगी	१०६
साम्यवाद का आधार भौतिकवाद है	१०७
साम्यवाद के भौतिक साधन और उनका घोर दुष्परिणाम	
साम्यवाद का भौतिकतावादी दर्शन ऊचे चारित्रिक गुणों का विरोधी है	
वर्णाश्रम-व्यवस्था का आध्यात्मिक आधार	१११
वर्णाश्रम-व्यवस्था के आध्यात्मिक साधन और उनका सुपरिणाम	
जीवन का अन्तिम लक्ष्य : ब्रह्मानन्द की प्राप्ति	११३
समाज-व्यवस्था के तीन पहलू	११६
वैदिक राज्य-व्यवस्था	११६
राज्य वर्णो और आश्रमों के धर्मो का पालन करायेगा	
वर्णाश्रम-व्यवस्था की प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति	
साम्यवाद प्रजातन्त्र का विरोधी है	१२०

विषय	पृष्ठ
पूंजीवादी पद्धति का किसी भी तन्त्र के साथ आवश्यक सम्बन्ध नहीं है	१२०
वर्णाश्रम-व्यवस्था की श्रेष्ठता	१२०
वर्णाश्रम-व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार : सत्व, रज और तम	१२१
वर्णाश्रम-व्यवस्था और विदेशी विद्वान्	१२२
वर्णाश्रम-व्यवस्था : संसार को भारत का अनूठा उपहार	१२४
वर्णाश्रम-व्यवस्था के लिए किसी राष्ट्र का हिन्दू होना आवश्यक नहीं है	१२५
वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति	**१२७-१७२**
रूस में जार के अत्याचार	१२७
जार और ईसाई धर्म-गुरुओं का गठ-जोड़ा	१२७
कम्युनिस्ट रूस में धर्म का विरोध	१२८
कम्युनिस्ट विचारों की लोकप्रियता का कारण	१२८
कम्युनिज्म के धर्म-विरोधी विचार भारत में भी फैले	१२६
भारत में हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े	१२६
इन झगड़ों से धर्म-मात्र को ही बुरा समझा जाने लगता है	१३०
धर्म का विरोध और मन की एकांगी प्रवृत्ति	१३१
क्या धर्म राष्ट्र की उन्नति में बाधक है ?	१३२
धर्म शब्द का विस्तृत अर्थ	१३२
धर्म का सीमित अर्थ	१३३
वैदिक धर्म में धर्म का वास्तविक अभिप्राय	१३३
धर्मशास्त्र किन ग्रन्थों को कहते हैं ?	१३४
व्यापक अर्थ में धर्म राष्ट्रोन्नति में बाधक नहीं है	१३५
सीमित अर्थ में भी धर्म राष्ट्रोन्नति में बाधक नहीं है	१३५
परमात्मा में विश्वास धर्म का आवश्यक अंग है	१३५
परमात्मा की सत्ता में प्रमाण	१३५
परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव	१३८
राष्ट्रोन्नति के लिए आवश्यक गुण	१४४
धर्म राष्ट्रोन्नति के लिए आवश्यक गुणों को उत्पन्न करता है	१४५

विषय	पृष्ठ
परमात्मा के गुणों का चिन्तन और उसका प्रभाव	१४५
राष्ट्रोन्नति में धर्म की स्पष्ट कारणता	१४६
प्रभु के गुणों से विपरीत आचरण वाला व्यक्ति धार्मिक नहीं है	१४६
युद्ध और उसके लाभ	१५१
धर्म युद्ध का प्रतियोगी है	१५१
धर्म के बिना सच्चारित्र्य खड़ा नहीं रह सकता	१५२
धर्म सब सद्‌गुणों का स्रोत है	१५८
धर्म लड़ना नहीं सिखाता	१५८
धर्म वालों को भी सावधान होना चाहिये	१५८
वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति	१५६
राष्ट्रोन्नति का अर्थ	१५६
वैदिक धर्म में राष्ट्रोन्नति-सम्बन्धी उपेदश	१६०
राष्ट्रोन्नति और वैदिक धर्म का कर्म-काण्ड	१६३
राष्ट्रोन्नति और पंच-महायज्ञ	१६३
राष्ट्रोन्नति और आश्रम-व्यवस्था	१६५
राष्ट्रोन्नति और वर्ण-व्यवस्था	१६७
वैदिक धर्म और अन्य धर्मावलम्बी	१७०
आज के नव-शिक्षितों से एक निवेदन	१७१
वैदिक धर्म और उपासना	**१७३-२०६**
धर्म का स्वरूप : ईश्वर-विश्वास और उसका जीवन पर प्रभाव	१७३
ईश्वर-विश्वास से जीवन को प्रभावित करने का उपाय : उपासना	१७३
उपासना का प्रचलित स्वरूप	१७४
हमने भगवान् को अपने जैसा बना लिया है	१७४
हमने उपासना को व्यापार की वस्तु बना रखा है	१७५
भगवान् अपनी प्रशंसा के भूखे नहीं हैं	१७६
हमें अपने किये का फल अवश्य भोगना पड़ता है	१७६
मनुष्य-जाति के इतिहास की साक्षी	१७८

विषय	पृष्ठ
परमात्मा की उलझन	१७६
उपासना का सही प्रयोजन : प्रभु की संगति	१८०
संगति का प्रभाव	१८०
हम सब में अच्छा बन्ने की इच्छा रहती है	१८१
हमें संसार में पूर्ण श्रेष्ठ संगति नहीं मिल सकती	१८१
साधारणतया हमें बुरी संगति ही मिलती है	१८२
उपासना द्वारा प्रभु की पूर्ण श्रेष्ठ संगति प्राप्त होती है	१८२
प्रभु-भक्ति का अर्थ : प्रेम में भर कर प्रभु के गुण गाना	१८३
प्रेम का स्वरूप	१८४
प्रभु-भक्ति के प्रेम का उपासक पर प्रभाव	१८६
प्रभु-भक्ति उपासक को प्रभु जैसा पवित्र बना देती है	१८८
पवित्र जीवन का परिणाम सुख ही सुख	१८८
सच्ची उपासना में सौदेबाजी नहीं है	१८८
उपासना से उपासक के कष्ट किस प्रकार कटते हैं	१८६
असल में उपासना पाप को काटती है	१८६
प्रभु के गुणों को धारण नहीं किया गया तो उपासना का कोई लाभ नहीं	१६०
सूर्य का दृष्टान्त	१६०
प्रभु उपासक को शक्ति प्रदान करते हैं	१६२
उपासना के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द का मन्तव्य	१६३
उपासना और योग-दर्शन	१६३
उपासना और महात्मा गांधी	१६४
उपासना से लाभ लेने की विधि	१६६
बच्चा जिस निष्ठा से चलने का अभ्यास करता है उसी निष्ठा से धर्म पर चलने का अभ्यास कीजिए	२००
चरित्र की दैनिक पड़ताल	२०१
उपासना के पांच लाभ	२०२

विषय	पृष्ठ
वैदिक धर्म और मांस-भक्षण	**२०७-२५२**
वैदिक धर्म में मांस-भक्षण निषिद्ध है	२०७
वैदिक धर्म अहिंसा का धर्म है	२०७
अहिंसा सभी वर्णों और सभी आश्रमों का धर्म है	२११
अहिंसा के दो रूप	२१२
पूर्ण अहिंसा	२१२
अहिंसा का सिद्धान्त वैदिक-धर्म का अपना सिद्धान्त है	२१२
अहिंसा डरपोक नहीं बनाती	२१४
अहिंसा और क्षात्र-धर्म	२१४
मांस-भक्षण के लिए की जाने वाली हिंसा सब से बड़ा पाप है	२१७
हिंसा सब से बड़ा पाप क्यों है ?	२१७
मनुष्य को पशु-पक्षियों को मारने का अधिकार नहीं है	२१६
वेद-शास्त्र मांस-भक्षण का निषेध करते हैं	२२१
मांस-भक्षण के विरोध में युक्तियां	२२३
मनुष्य वनस्पति खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी है	२२३
मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है	२२६
पोषण की दृष्टि से मांस अच्छा भोजन नहीं है	२२७
विटामिनों की दृष्टि से भी मांस उत्तम भोजन नहीं है	२२८
विटामिनों का मूल-स्रोत वनस्पत्तियां ही हैं	२२८
मनुष्य का मांस क्यों नही खाते ?	२२६
मांस प्राणियों पर भीषण क्रूरता से प्राप्त होता है	२२६
मांस का भोजन विषैला और रोगजनक होता है	२३०
मांसाहार से बल नहीं आता	२३२
मांसाहार सै वीरता भी नहीं आती	२३३
मांस का भोजन मनुष्य को क्रूर और निर्दय बनाता है	२३३
मांस का भोजन तामसिक वृत्तियों को जगाता है	२३५
मांस-भक्षण विश्व-शान्ति की विरोधी भावनाएँ पैदा करता है	२३५

विषय	पृष्ठ
मांस-भक्षण सभी धर्मों की भावना के विपरीत है	२३६
मांस-भक्षण सभी दृष्टियों से त्याज्य है	२३८
औषध के रूप में भी मांस नहीं खाना चाहिये	२३६
ध्रुव-प्रदेशों के लोगों को भी मांस खाने की आवश्यकता नहीं है	२४१
भेड़-बकरी आदि के न खाने से उन से धरती नहीं भर जायगी	२४१
दूध पीने में हिंसा नहीं होती	२४२
अण्डे भी नहीं खाने चाहियें	२४३
फल और सब्जी खाने में हिंसा नहीं होती	२४५
वनस्पतियों को सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती	२४६
परिशिष्ट	२४७
भोज्य पदार्थों के पोषक तत्त्वों की तुलनात्मक तालिका	२४८
वैदिक धर्म और ब्रह्मचर्य तथा पश्चिमी डाक्टर	२५३-१६०
आर्य-संस्कृति में ब्रह्मचर्य का महत्त्व	२५३
ब्रह्मचर्य शब्द का व्यापक अर्थ	२५४
वीर्य की उपत्ति और उस का कार्य	२५५
वीर्यनाश के दुष्परिणाम	२५६
जीवन-प्रदीप का तेल	२५७
विषयासक्ति से होने वाली हानियाँ	२५७
थोड़ा-सा भी वीर्यनाश हानिकारक ही है	२५६
वीर्यनाश करने वाला व्यक्ति मूर्ख व्यापारी जैसा है	२६०
वीर्य की रचना-शक्ति	२६२
सन्तानोत्पत्ति के लिए ही वीर्य शरीर से बाहर होना चाहिए	२६३
ब्रह्मचर्य-साधन के उपाय	२६४
वेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में वर्णित चार उपाय	२६४
ब्रह्मचर्य-साधन के मानसिक उपाय	२६६

विषय	पृष्ठ
ब्रह्मचर्य-साधन के भौतिक उपाय	२७१
विद्यार्थी-जीवन और ब्रह्मचर्य	२७५
विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य का महत्त्व	२७६
प्राचीन भारत में विद्यार्थियों का जीवन	२७७
आज के विद्यार्थी-जीवन की ब्रह्मचर्य-विहीनता	२७८
हमें ब्रह्मचर्याश्रम की प्राचीन मर्यादा फिर अपनानी होगी	२७६
ब्रह्मचर्य और पश्चिमी डाक्टर	२८१
वैदिक धर्म और अन्य धर्मावलम्बी	**२६१-३१८**
अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति वैदिक धर्म की दृष्टि	२६१
वैदिक धर्म में जीवन का लक्ष्य : ब्रह्म-साक्षात्कार	२६१
आत्मा पर प्रकृति का बन्धन	२६३
प्रकृति के बन्धन से छूटने का उपाय	२६४
सांसारिक उन्नति और ब्रह्म-प्राप्ति का विरोध नहीं है	२६६
धर्म का लक्षण : अभ्युदय और निःश्रेयस का समन्वय	२६८
वैदिक धर्मियों द्वारा अन्य धर्मों की समालोचना	२६६
धर्म के स्वरूप को समझने के लिए बुद्धि का प्रयोग आवश्यक है	२६६
वैदिक धर्म का सत्य पर आग्रह	३००
ऋषि दयानन्द का सत्य पर आग्रह	३०२
सत्य का ज्ञान और प्रकाश मनुष्य का महत्त्वपूर्ण अधिकार है	३०२
सत्य का परिज्ञान समालोचना से ही होता है	३०२
धर्म का सच्चा स्वरूप भी समालोचना से ही जाना जायगा	३०३
वैदिक-धर्मी तर्क को ऋषि मानते हैं	३०४
सहिष्णुता और उदार-हृदयता किसे कहते हैं	३०५
वैदिक-धर्मियों की समालोचना का अन्य धर्मों पर प्रभाव	३०५
समालोचना, समालोच्य और समालोचक दोनों का लाभ करती है	३०६
समालोचना बुरे अभिप्राय से नहीं होनी चाहिये	३०६
विभिन्न धर्मों की समालोचना में ऋषि दयानन्द का उद्देश्य	३०६

विषय	पृष्ठ
धर्म-तत्त्व की समालोचना मनुष्य का मौलिक अधिकार है	३०७
वैदिक-धर्मी आज के प्रचलित धर्मों को सर्वांश में सत्य नहीं मानते	३०८
एक हेत्वाभास	३०८
प्रभु-दर्शन के साधन सर्वत्र एक समान होने चाहिये	३०९
सही धर्म सब के लिए एक ही हो सकता है	३१०
धर्मों के सत्यांश के साथ उन का असत्यांश भी परखना होगा	३१०
समालोचना सार्वभौम धर्म की ओर ले जाती है	३११
वैदिक-धर्म धर्म-प्रचार में बल-प्रयोग का समर्थक नहीं है	३११
वैदिक-धर्म चरित्र की शुद्धता पर बल देता है, कोरे विश्वास पर नहीं	३१३
चरित्र-हीन वैदिकधर्मी से चरित्रवान् विधर्मी श्रेष्ठ है	३१५
वैदिक-धर्म विधर्मियों के साथ भी भलाई करने का उपदेश देता है	३१६
वेद और इलहाम	**३१९-३५०**
आर्य लोग वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं	३१९
वेद में सब प्रकार का मनुष्योपयोगी ज्ञान भरा है	३२०
वेद का ज्ञान परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में दिया था	३२०
क्या ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त मिथ्या है	३२१
ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त तर्क-संगत है	३२१
सन्तों और योगी-महात्माओं की साक्षी	३२१
भाषा की उत्पत्ति की साक्षी	३२२
भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवाद का सिद्धान्त मिथ्या है	३२४
आदि-सृष्टि में परमेश्वर ने भाषा सिखाई	३२५
भाषा सिखाने में ज्ञान का सिखाना स्वयं ही आ जाता है	३२५
भाषा-शास्त्रियों के पास भाषा की उत्पत्ति का समाधान नहीं है	३२५
भाषा और ज्ञान देने वाले आदि-गुरु परमात्मा ही हैं	३२७
आदि-सृष्टि में परमात्मा ने वैदिक भाषा सिखाई	३२८
वैदिक भाषा सब भाषाओं की जननी है	३२९
वेद संसार के सब से पुराने ग्रन्थ हैं	३३०

विषय	पृष्ठ
वेद की भाषा संसार की सब से पुरानी भाषा है	३३२
वेद का काल	३३२
ईश्वरीय ज्ञान होने में वेद की अपनी अन्तःसाक्षी	३३३
परमात्मा का वेदोपदेश करने का प्रकार	३३६
ईश्वरीय ज्ञान की कसौटी	३३८
ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में आना चाहिये	३३८
ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ में किसी देश का भूगोल और इतिहास नहीं होना चाहिये	३४०
ईश्वरीय ज्ञान किसी देश-विद्वेष की भाषा में नहीं आना चाहिये	३४१
ईश्वरीय ज्ञान को बार-बार बदलने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये	३४१
ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि-क्रम के विपरीत नहीं होना चाहिये	३४२
ईश्वरीय ज्ञान में विविध विद्या-विज्ञानों का वर्णन होना चाहिये	३४३
ईश्वरीय ज्ञान ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव के अनुकूल होना चाहिये	३४४
सन्तों और योगी-महात्माओं को भी कसौटी पर कसना होगा	३४४
सन्तों की और वेद की बात में विरोध नहीं होना चाहिये	३४५
ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त कलह का कारण नहीं है	३४६
वेद प्राणी-मात्र से प्रेम करना सिखाता है	३४८
इलहामों की अनेकता में एकता	३४८
मन्त्रानुक्रमणिका	**३५१-३५४**
श्लोकादि-अनुक्रमणिका	**३५४-३५५**

मेरा धर्म

वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति

१

स्त्रियों की आज की शोचनीय अवस्था

संस्कृत के एक कवि ने एक बार स्त्रियों के सम्बन्ध में कहा था—

आवर्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां,
दोषाणां सन्निधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम्।
दुर्ग्राह्यं यन्महद्‌भिर्नरवृषभैः सर्वमायाकरण्डम्,
स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषममृतयुतं धर्मनाशाय सृष्टम्।।

इस श्लोक में जो कुछ कहा गया है उसका भाव यह है कि "स्त्रियाँ सब संदेहों का घर, सब उद्दण्डताओं की राशि, सब प्रकार के टेढ़े-सीधे कामों की खान, सब बुराइयों का निवास, सब तरह के कपट और विश्वास न करने योग्य बातों का स्थान तथा सब तरह की चालबाजियों और धोखे के फलने-फूलने की भूमि होती हैं। इन का हृदय कहाँ तक नीच हो सकता है इस की थाह बड़े-बड़े भी नहीं पा सके हैं। न जाने यह स्त्रीरूप मशीन, जिस में कुछ अमृत और अधिक विष भरा हुआ है, किस ने पुरुषों के धर्म के नाश करने के लिये बना डाली है।"

आज से तिरानवे[1] साल पहले जब भगवान् दयानन्द ने भारत के रंगमंच पर अवतीर्ण हो कर परम-पावन वेद के पवित्र सन्देश का शंख फूंका, पुरुष जाति की स्त्रियों के सम्बन्ध में जो धारणा थी उसे कवि का उपर्युक्त श्लोक बहुत सुन्दरता के साथ बता देता है। उन में अमृत थोड़ा और विष बहुत अधिक है, उन की रचना पुरुषों का धर्म-नाश करने के लिए, उन्हें सन्मार्ग से हटा कर कुमार्ग पर ले जाने के लिए हुई है। यह थी भावना जो कि स्त्रियों के सम्बन्ध में उस समय पुरुषों के अन्दर पाई जाती थी। संसार के धर्मों के उस समय के इतिहास पर दृष्टि डाल जाइये। आप देखेंगे कि अनेक धर्म यहां तक भी सिखाते रहे हैं कि स्त्रियों के भीतर किसी आत्मा या रूह का निवास नहीं होता। इसी लिये उन में किसी तरह

---

१. ऋषि दयानन्द सम्वत् १९२० के प्रारम्भ में गुरु विरजानन्द से शिक्षा समाप्त कर के कार्यक्षेत्र में उतरे थे।

की सोचने-समझने, जानने-बूझने और अनुभव करने की शक्ति नहीं होती। उन के साथ किसी प्रकार का मान-अपमान और आदर–सत्कार का व्यवहार किया जाये, किसी तरह के सुख-दुःखमय जीवन में उन्हें रखा जाये, उन्हें इस का कोई अनुभव नहीं होता–वे इन बातों को महसूस नहीं कर सकतीं। एक शब्द में स्त्री पुरुष की सम्पत्ति है, जैसे दूसरी भौतिक जड़ चीज़ें उस की सम्पत्ति हैं, इस लिये कोई पुरुष अपनी स्त्री से चाहे किसी भी प्रकार का व्यवहार कर सकता है। इस में वह कोई अनौचित्य करता हो यह बात नहीं है। स्त्री का पुरुष की तरह कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व (personality) नहीं होती है। संसार में उस की सत्ता पुरुष के लिये है और उसी प्रकार से है जिस प्रकार से दूसरी सांसारिक चीजों की सत्ता पुरुष के लिये है। ईसाइयत जैसे प्रसिद्ध धर्मों में भी ये विचार रहे हैं।

यद्यपि हिन्दूधर्म में दर्शनिक तौर पर यह कभी नहीं माना गया कि स्त्रियों में कोई आत्मा या रूह नहीं होती हिन्दू धर्म ने दार्शनिक रूप में यह कभी स्वीकार नहीं किया कि स्त्रियों में किसी तरह की सोचने-समझने, जानने-बूझने और अनुभव करने की शक्ति नहीं होती, दर्शनिक तौर से हिन्दूधर्म ने उन में इन सब बातों का रहना स्वीकार किया है, पर पिछली अनेक शताब्दियों से अपने अमली जीवन में हिन्दू लोग भी स्त्रियों से इसी ढंग का बर्ताव करते रहे हैं कि मानो वे उन में किसी प्रकार की आत्मा या रूह की उपस्थिति स्वीकार न करते हों। मेरे घर में अनाज रहता है, कपड़े-लत्ते होते हैं और गाय-भैंसें बंधी होती हैं। क्यों ? इस लिये कि मेरे अन्दर एक विशेष प्रकार की इच्छाएँ पैदा होती हैं, उन इच्छाओं की पूर्ति मेरे घर में पड़ा अन्न कर देता है। एक दूसरे प्रकार की इच्छाएँ मेरे अन्दर उत्पन्न होती हैं, उन की पूर्ति मेरे वस्त्रों से हो जाती है। एक तीसरे प्रकार की इच्छायें मेरे मन में स्थान करती हैं, उन की पूर्ति मेरी गाय-भैंसों से उत्पन्न होने वाले दूध और घी-मक्खन कर देते हैं। इसी प्रकार मेरे अन्दर एक और प्रकार की इच्छायें पैदा होती हैं। उन की पूर्ति भी मुझे किसी प्रकार करनी चाहिये। इस के लिए मैं विवाह कर के अपने घर में एक स्त्री ला रखता हूं। यदि एक स्त्री से मेरी अनियन्त्रित इच्छायें पूरी नहीं होती हैं तो मैं आवश्यकतानुसार एक से अधिक स्त्रियां भी अपने पास रख सकता हूं। मेरे घर में स्त्री भी एक वैसी ही खाने-पीने की सी उपयोगी चीज होती है जैसी अनाज और घी-दूध जैसी दूसरी बीसियों चीजें। बस, इस से अधिक ऊंची कोई और स्थिति अपने व्यावहारिक जीवन में हम हिन्दू लोग भी स्त्रियों को प्रायः नहीं देते रहे हैं। हम ने यह बहुत कम स्वीकार किया है कि संसार के विद्या-विज्ञान को, सभ्यता और संस्कृति को, ऊंचा उठाने में स्त्री भी उसी प्रकार भारी भाग ले सकती है जिस प्रकार पुरुष लेता है–वह भी इस संसार को अधिक उन्नत

और अच्छा बनाने के लिये वैसा ही काम कर सकती है जैसा कि पुरुष करता है। हम ने पुरुषों के सम्बन्ध में तो यह स्वीकार किया कि प्रत्येक पुरुष में परमात्मा की ओर से पचासों प्रकार की शक्तियें और संभावनायें रख दी गई हैं। यदि उन्हें खिलने और खुलने का अवसर दिया जाये तो न जाने कौन पुरुष किस दिन क्या बन कर दिखा सकता है और संसार की उन्नति को और उन्नत करने में समर्थ हो सकता है। यदि अवसर मिले तो न जाने हम में से कौन एक उत्कृष्ट कवि हो सकता है, एक अच्छा न्यायाधीश और एक तीव्र-बुद्धि बैरिस्टर बन सकता है, एक निर्भय सैनिक और योग्य सेनापति तथा ऐड-मिरल (जल सेनापति) बन सकता है, आकाशचारी वायुयान-संचालक हो सकता है, एक देश का राष्ट्रपति चुना जा सकता है। तथा एक भारी व्यापारी या प्रखर विद्वान् एवं धुरन्धर व्याख्याता बन सकता है। और इस प्रकार अपनी विशेष योग्यता से संसार की सभ्यता, संस्कृति और विद्या-विज्ञान की वृद्धि करता हुआ उसे अधिक उन्नत बनाने में कारण बन सकता है। हम ने पुरुषों में इन सभी ईश्वरप्रदत्त शक्तियों की संभावना स्वीकार की है और इन संभावनाओं को वास्तविकता का रूप देने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार सभी प्रकार की सहायता-सुविधा देने के उन के प्रति अपने कर्तव्य को हम बहुत कुछ पहचानते रहे हैं। पर स्त्री में हम ने इस प्रकार की संभावनायें (Possibilities) प्रायः कभी स्वीकार नहीं कीं। हम ने प्रायः कभी नहीं माना कि कोई स्त्री भी संसार के विद्या-विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति को आगे बढ़ाने में किसी प्रकार का हाथ बटा सकती है। हमारे मस्तक में प्रायः यह कभी नहीं आया कि स्त्री भी वकील, न्यायाधीश, सिपाही, सेनापति, ऐडमिरल, राष्ट्रपति एवं व्याख्याता और उपदेष्टा आदि में से कुछ बन सकती है। हम ने यह नहीं माना और इसी लिये हम ने इस दिशा में स्त्रियों को भी किसी तरह की सहायता-सुविधा देने की जरूरत है इस बात को कभी नहीं पहचाना। हम स्त्रियों की पुरुष के सामने जो स्थिति समझते रहे हैं उस का निर्देश ऊपर की पंक्तियों में किया जा चुका है। उस स्थिति को अधिक स्थिर करने के लिये हमारे पण्डित-पुरोहित स्मृतियों और सूत्रग्रंथों में उस का सन्निवेश कर के उसे कानून का रूप देते रहे हैं। इस प्रकार की स्मृतियों और सूत्रग्रंथों में क्या कुछ पाया जाता है उस के उदाहरण यहाँ देने की आवश्यकता नहीं है। हमारे लिये इतना याद रख लेना पर्याप्त है कि उस सारी शिक्षा का दो शब्दों में निचोड़ यह है कि स्त्री सिर्फ पुरुष के खाने-पीने की सी उस के उपभोग की सामग्री है। और उसे अपने खाने-पीने की सी वस्तु समझते हुए भी पुरुष को स्त्री से पूरी तरह सावधान रहना चाहिये क्योंकि वह दुनिया-भर के दोष और छल-कपटों का घर होती है। इस प्रकार के विचार रखने वाले लोग

स्त्री को क्या समझते रहे हैं इसे ऊपर उद्धृत श्लोक अति स्पष्टता से कह रहा है।

२
स्त्रियों की स्थिति और ऋषि दयानन्द

यह थी स्त्रियों की स्थिति जिस समय ऋषि दयानन्द का आविर्भाव हुआ। ऋषि से पुरुष द्वारा नारी पर होने वाला यह अत्याचार सहा न गया। उन्होंने मेघ-गम्भीर गर्जना से कहा--पुरुषो ! तुम्हें स्त्रियों पर होने वाले इस अत्याचार को बन्द करना चाहिये और उन्हें अपने साथ समता की स्थिति देनी चाहिये। लोगों ने कहा, भगवन् ! स्त्रियों की यह स्थिति तो वेदविहित है। ऋषि ने उत्तर दिया--यह झूठ है, वेद ऐसा कुछ नहीं कहते। वे तो स्त्री की बहुत ही गौरवमय स्थिति का वर्णन करते हैं। लोगों ने कहा--जाने दीजिये भगवन् ! वेद को हमारी स्मृतियाँ, हमारे सूत्रग्रंथ और पुराण स्त्रियों की स्थिति ऐसी ही बताते हैं जैसी कि आप देख रहे हैं। दयानन्द बोले--इन ग्रंथों की प्रामाणिकता वहीं तक है जहाँ तक ये ग्रंथ श्रुति भगवती के अनुकूल चलते हैं। जब ये ग्रंथ उस के विरुद्ध जायें तो इन की प्रामाणिकता नहीं रहती। तुम्हारे धर्म का विशुद्ध रूप वेद में वर्णित हुआ है। उसे पहचानो और अपना व्यावहारिक जीवन उसी के अनुसार बनाओ।

वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति

प्रिय सज्जनो ! हम आर्यसमाज के लोग उसी पवित्र वैदिक धर्म के मानने वाले हैं जिस का संसार में, विशेषकर भारतवर्ष में, बहुत पुराने समय में प्रचार था और जिसे आधुनिक समय में ऋषि दयानन्द ने फिर से लोगों के सामने अपने विशुद्ध रूप में उपस्थित किया। वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति क्या है इसे दिखाने के लिये निम्न पंक्तियें आपकी सेवा में रखी जा रही हैं।

तीन कसौटियाँ

यदि हमें किसी धर्म में स्त्रियों की क्या स्थिति है इसे स्पष्ट समझना हो तो तीन बातों का ध्यान रखना चाहिये। (१) एक तो यह कि किसी धर्म में भविष्य जीवन के लिये बच्चों की तैयारी के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उस में कन्याओं का क्या स्थान रखा गया है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो किसी धर्म में बालकों की शिक्षा पर जितना बल दिया गया

है उतना ही बालिकाओं की शिक्षा पर भी बल दिया गया है कि नहीं, यह हमें सब से प्रथम देखना चाहिये। (२) दूसरी बात देखने की यह है कि जब स्त्री-पुरुष मिल कर, विवाहित हो कर, अपना जीवन व्यतीत करना आरम्भ करते हैं तब पुरुष के सामने स्त्री की क्या स्थिति किसी धर्म में रखी गई है। और (३) तीसरी बात जो देखनी चाहिये वह यह है कि किसी धर्म में कुटुम्ब से बाहर का जो स्त्री का जीवन है, उस की घर से बाहर समाज में जो स्थिति है, वह कैसी है। किसी भी धर्म में नारी का क्या स्थान है यह समझना हो तो हमारे लिये इन तीन बातों का देखना अत्यन्त आवश्यक है। मैं क्रमशः एक-एक बात को ले कर, वेद उस सम्बन्ध में स्त्री जीवन का क्या आदर्श रखता है यह आपकी सेवा में रखने का यत्न करूँगा।

३
वेद और स्त्री-शिक्षा

पहले बालिकाओं की भविष्य जीवन की तैयारी अर्थात् शिक्षा को लीजिये। वेद में भविष्य के लिये तैयारी के जीवन को, विद्यार्थी-जीवन को, ब्रह्मचर्यकाल कहा जाता है। एक विद्यार्थी के जीवन का आदर्श क्या होना चाहिये यह ब्रह्मचर्य शब्द की रचना को देखने से ही साफ हो जाता है। पर इस समय हमें इस शब्द के अर्थों की बारीकियों में जाने की आवश्यकता नहीं है। मैं अधिक स्पष्टता से इस सम्बन्ध में वेद के अभिप्राय को आप के सामने रखना चाहता हूं। अथर्ववेद का ब्रह्मचर्य-सूक्त (अथर्व. ११.५.) विद्यार्थी का शिक्षा-काल किन परिस्थितियों में बीतना चाहिये, शिष्य को कैसे गुरुओं से शिक्षा मिलनी चाहिये, शिष्य और गुरु का पारस्परिक सम्बन्ध किस तरह का रहना चाहिये तथा विद्यार्थी को अपने शिक्षाकाल में क्या-क्या पढ़ना चाहिये, इन सब बातों को बहुत ही सुन्दर ढंग से बताता है। ब्रह्मचर्य-सूक्त में वर्णित इन सब बातों को यहाँ बता सकना संभव नहीं है। वहां पर विद्यार्थी को पढ़ाना क्या-क्या चाहिये इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है सिर्फ उसे ही थोड़े में कह कर मैं संतोष करूंगा। उस सूक्त के चौथे[1] मन्त्र में कहा गया है कि विद्यार्थी को चाहिये कि वह अपने अन्दर ज्ञान की आग को सदा प्रज्वलित रखे। उसे प्रज्वलित करने के लिये वह उस में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीन लोकों को समिधा बना कर डालता रहे अर्थात् इन तीन लोकों में—विश्व

१. इयं समित्पृथिवि द्यौर्दितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।। अथर्व. ११. ५. ४।

भर में—पाये जाने वाले पदार्थों के सम्बन्ध में सब विद्या-विज्ञानों को वह सीखता रहे। इस विद्या-प्राप्ति के साथ-साथ उसे चाहिये कि वह तीन बातों का ध्यान और रखे। एक तो, यह कि वह हर समय आलस्य से रहित हो कर मुस्तैद, चौकन्ना, जागरूक, कटिबद्ध (मेखलाधारी) रहे। दूसरे, उसे प्रतिदिन शारीरिक व्यायाम (श्रम) करते रहना चाहिये। तीसरे, उसे अपना जीवन तपस्वी अर्थात् सादा और कष्टसहिष्णु बनाना चाहिए। उसी सूक्त में यह भी आदेश कर दिया गया है कि विद्यार्थी को भौतिक विद्या-विज्ञानों के साथ-साथ आत्मा-परमात्मा के ज्ञान या ब्रह्मविद्या को भी पूरी तरह सीखना चाहिये और इस प्रकार अपने को भविष्य जीवन के लिये सब तरह से तैयार और योग्य बना लेना चाहिये। उसी सूक्त में आगे चल कर कहा गया है कि कन्या को भी ब्रह्मचर्य का जीवन बिता कर ही विवाहित जीवन में प्रवेश करना चाहिये[1]। कन्या के ब्रह्मचर्य का जीवन बिताने का अभिप्राय है कि वह ब्रह्मचारी के कर्तव्यकर्म को पूरा करे अर्थात् जो कुछ ब्रह्मचारी के लिए जानना और करना आवश्यक है उसे जाने और करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सूक्त में बालिकाओं की शिक्षा पर भी उतना ही बल दिया गया है जितना बालकों की शिक्षा पर दिया गया है।

अथर्ववेद के चौदहवें काण्ड में तो इस विषय को सर्वथा ही स्पष्ट कर दिया गया है। उस काण्ड में स्त्री और पुरुष के विवाहित जीवन के कर्तव्यकर्मों का वर्णन किया गया है। वहाँ यह भी बताया गया है कि किस योग्यता के स्त्री और पुरुष को विवाहित जीवन में प्रवेश करना चाहिये। उसी काण्ड के प्रथम सूक्त का छठा मन्त्र **"चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात्सूर्या पतिम्"**[2] है। इस मन्त्र में कन्या के माता-पिता को सम्बोधन करके कहा गया है कि उन्हें चाहिये कि जब उन की कन्या विवाहित हो कर पति के घर में जाने लगे तो उसे दहेज दें। पर वह दहेज कैसा? 'चित्ति' अर्थात् दिमागी शक्ति (Intellectuality) उस में गदैले-तकिये आदि की जगह हो, 'चक्षु' अर्थात् चीजों की गहराई में जाकर ध्यान से देखने की शक्ति (Power of Observation) उस में अजंन अर्थात् सुरमा आदि शृंगार की चीजों के स्थान में हो, और द्युलोक तथा पृथिवी लोक के बीच में आने वाले सारे जगत् का ज्ञान उस में 'कोश' अर्थात् रुपये पैसे की जगह हो। यह मन्त्र तो यहां तक बढ़ता है कि माता-पिता को चाहिये कि वे अपनी कन्या को दहेज भी दें तो वह ज्ञान का दहेज हो। यही दहेज वस्तुतः आवश्यक दहेज है। दूसरे दुनियादारी के दहेज कोई दे सकें तो

---

१. **ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अथर्व. ११.५.१८।**

२. **अथर्व. १४.१.६।**

दे दें, न दे सकें तो न दें। इस की कोई विशेष चिन्ता नहीं। पर ज्ञान का दहेज तो कन्या को मिलना ही चाहिये। ऋग्वेद[1] में भी ऐसा ही उपदेश है। यह मन्त्र सुन लेने के पीछे वेद में स्त्रियों की शिक्षा के सम्बन्ध में क्या आदेश है इसे दिखाने के लिये किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं रह जाती। पर इस सम्बन्ध में कुछ और प्रमाण भी दे देना अनुपयुक्त न होगा।

वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों में स्त्री से इस प्रकार की बातें कही गईं और प्रार्थनाएं की गई हैं कि "हे पत्नि ! तू हमें ज्ञान का उपदेश कर[2]", "पति को धन कमाने के ढंग बता[3]", "तू सब प्रकार के कर्मों का ज्ञान रखती है[4]", "तू सब कुछ जानने वाली हमें धनधान्य की पुष्टि दे[5]", "तू हमें बुद्धियों से धन दे[6]" "तू हमारे घर की प्रत्येक दिशा में ब्रह्म अर्थात् वैदिक ज्ञान का प्रयोग कर[7]।" इन सब वचनों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेद की सम्मति में प्रत्येक स्त्री को विवाह से पहले जहाँ तक हो सके सब प्रकार के ज्ञान प्राप्त कर लेने चाहिये ताकि वह अपने गृहस्थ जीवन में उन से यथायोग्य उपयोग ले सके।

इस प्रकार हम ने देखा है कि वेद का धर्म बालकों की तरह ही बालिकाओं की शिक्षा पर भी पूरा बल देता है और कहता है कि उन्हें भी बालकों की तरह संसार का प्रत्येक विज्ञान और प्रत्येक विद्या सिखाई जानी चाहिये।

४
वेद और स्त्रियों का विवाहित जीवन

अब मैं वैदिक धर्म के अनुसार विवाहित जीवन में स्त्री की क्या स्थिति है इसे आप की सेवा में उपस्थित करूंगा।

१. 'चित्तिरा...पतिम्'। ऋग. १०.८५.७।
२. त्वं विदथमा वदासि। अथर्व. १४.१.२०।
३. पतिं देवि राधसे चोदयस्व। अथर्व. ७.४६.३।
४. कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसम्। अथर्व. ७.४७.१।
५. आद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु। अथर्व. ७.४७.२।
६. यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहिसहस्रपोषं सुभगे रराणा।। अथर्व. ७.४८.२।
७. ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः। अथर्व. १४.१.६४।

विवाह की आयु

इस सम्बन्ध में हमें पहले यह देख लेना चाहिये कि विवाहित जीवन में प्रवेश करने के समय वर और वधू की आयु क्या होनी चाहिये। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हुए वर और वधू का एक वार्तालाप ऋग्वेद के १०वें मण्डल के १८३ सूक्त में दिया गया है। वहाँ दोनों ओर से एक दूसरे को युवा, युवति, पुत्रकाम और पुत्रकामा[1] इन शब्दों से सम्बोधन किया गया है। जिस से स्पष्ट प्रकट होता है कि वेद की सम्मति में उन्हीं स्त्री-पुरुषों को विवाहित जीवन में प्रवेश करना चाहिये जो युवा अर्थात् जवान हो चुके हों, और जिन में सन्तानोत्पत्ति की इच्छा उत्पन्न होने लग गई हो। इस प्रकार वेद बाल-विवाह की जड़ पर कुल्हाड़ा रख देता है। इसी प्रकार गृहस्थ में प्रवेश करते हुए वर-वधू के पारस्परिक वार्तालाप में या दूसरों द्वारा उन के सम्बोधन में वेद के भिन्न-भिन्न स्थलों में प्रयुक्त किये गये पतिकामा, जनिकामः[2] आदि विशेषण भी इसी बात का उपदेश देते हैं कि स्त्री और पुरुष का विवाह उस समय होना चाहिये जब कि उन के अन्दर एक दूसरे के लिए चाह पैदा होनी आरम्भ हो जाये। यह चाह यौवन में ही स्त्री पुरुष में उत्पन्न होती है। अतः दोनों का विवाह युवावस्था में होना ही स्वाभाविक है।

इस सम्बन्ध में एक बात और देखने योग्य है। अथर्ववेद का १४वां काण्ड तथा ऋग्वेद का १०.८५ सूक्त जो कि स्त्री और पुरुष के विवाहित जीवन के कर्त्तव्य-कर्मों और धर्मों का प्रतिपादन करते हैं कन्या को कन्या या इस के पर्यायवाची शब्दों से स्मरण नहीं करते। वहां उस के लिये 'सूर्या' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार वहां आरम्भ में ही वरों के लिये 'आदित्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। अब यदि हम, ऋषि दयानन्द ने पुराने शास्त्रों के आधार पर वैदिक विद्यार्थी जीवन के—ब्रह्मचर्य के—जो तीन भेद किये हैं उन के आधार पर, 'आदित्य' और 'सूर्या' शब्द का अभिप्राय समझना चाहें तो 'आदित्य' वह पुरुष कहलाता है जिसने ४८ वर्ष की आयु तक कभी स्वप्न में भी कोई गन्दा विचार अपने मन में उत्पन्न नहीं होने दिया और जो अपनी जीवनी शक्ति का एक कतरा भी अपने शरीर से बाहर न होने दे कर अपने दिमाग को विद्याओं से भरता रहा तथा योगाभ्यास से अपना आत्मा उच्च और पवित्र बनाता रहा हो। ऐसा पुरुष आदित्य इस लिये कहलाता है कि वह किसी से

---

१. ऋग्. १०. १८३. १, २।

२. अथर्व. २. ३०. ५।

दबता नहीं और संसार के अज्ञान और मिथ्या विश्वासों के अन्धकार को छिन्न-भिन्न करता रहता है जिस प्रकार यह भौतिक आदित्य—आकाश में चमकने वाला सूर्य—किसी से दबता नहीं और संसार के अन्धकार को छिन्न-भिन्न करता रहता है। इसी प्रकार जो बालिका २४-२५ साल की आयु तक कभी स्वप्न में भी अपने को अपवित्र न करती हुई अपने शरीर, दिमाग और आत्मा को उन्नत करती है उसे आदित्य ब्रह्मचारिणी कहा जाता है। सूर्य आदित्य का ही दूसरा पर्याय है। इस प्रकार वर को "आदित्य" और वधू को "सूर्या" अर्थात् आदित्या कहने का अभिप्राय यह है कि वेद की सम्मति में आदर्श विवाह वह है जो कि आदित्य ब्रह्मचारी बालक और आदित्य ब्रह्मचारिणी कन्या में सम्पन्न होता है। जो लोग इस ऊंचे आदर्श तक नहीं पहुंच सकते उन के लिए "वसु" और "रुद्र" ब्रह्मचर्य के निचले दो विकल्प हैं। कम से कम वसु ब्रह्मचर्य तो प्रत्येक बालक और बालिका को पूरा करना ही चाहिये। अर्थात् कम से कम २४-२५ वर्ष की ब्रह्मचारी पुरुष और १६-१७ वर्ष की ब्रह्मचारिणी कन्या से कम आयु के बालक और बालिकाओं का विवाह नहीं होना चाहिये। इस से कम आयु में विवाह करना पाप गिना गया है।

लोग कहेंगे, तुम्हारी आदित्य ब्रह्मचर्य की कल्पना एक निरी स्वप्न जगत् की कल्पना सी (Utopia) है—एक न हो सकने वाली बात है। क्या कभी इतनी ऊंची आयु तक भी बालक और बालिकायें अपने को इतना पवित्र, कि स्वप्न में भी बुरे विचार मन में पैदा न हों, रख सकते हैं ? हम इतना ही कहना चाहते हैं कि कमजोर निश्चय वाले लोगों को प्रत्येक नई बात प्रायः अशक्य लगा करती है। संसार की प्रायः सभी बड़ी-बड़ी लहरें (Movements) प्रारम्भ में अधिकांश लोगों को असंभव लगती रही हैं। पर दृढ़ निश्चय वाले लोग उन के अनुसार बहुत कुछ कर दिखाते रहे हैं। प्रारम्भ में कौन समझता था कि कभी सोशलिज्म (Socialism) और बौल्शेविज्म (Bolshevism) भी सफल हो सकेंगे। पर आज संसार का एक बड़ा भाग उन के आगे सिर झुका रहा है। वैदिक धर्म का आदित्य ब्रह्मचर्य का आदर्श भी पूरा हो सकता है यदि हम में इस के लिए प्रेम और निश्चय की दृढ़ता हो। लोग कहते हैं कि आर्यसमाज की आवश्यकता नहीं रही। मैं तो कहता हूं, जब तक वेद का यह आदित्य ब्रह्मचर्य का आदर्श पूरा नहीं हो जाता—जब तक हम अपने बालक और बालिकाओं के लिये ऐसी परिस्थितियें पैदा नहीं कर सकते जिन में उन्हें आदित्य ब्रह्मचर्य की अवधि तक स्वप्न में भी पवित्र रहते हुए अपने शरीर, मन और आत्मा को सब प्रकार से योग्य बनाने का अवसर मिल सके तब तक, यदि और बातों को छोड़ भी दें तो भी, आर्यसमाज की संसार को आवश्यकता है। आर्यसमाज को अपने इस भारी कर्त्तव्य को समझना चाहिये।

पति-पत्नी एक-दूसरे को स्वयं चुनते हैं

वेद में वर-वधू के विवाह की आयु की अवधि दिखाने के पश्चात् हम यह दिखाना चाहते हैं कि वैदिक धर्म में उन्हीं स्त्री-पुरुषों का विवाह-सम्बन्ध हो सकता है जिन्होंने एक-दूसरे को भली प्रकार जान लिया और देख लिया है। ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १८३ वें सूक्त में विवाह करने की इच्छा वाली वधू अपने भावी पति को सम्बोधन कर के कहती है—"हे वर ! मैंने अपने मन से अच्छी प्रकार तुम्हें जान लिया है, तुम बहुत अच्छे ज्ञानी हो और गुरुकुल में तप का—सादगी और संयम का—जीवन व्यतीत करके आये हो और तुम्हें संतान की कामना है, आइये हम दोनों मिल कर सन्तानोत्पत्ति करें[१]।" इसी प्रकार वर वधू से कहता है—"हे वधू ! मैंने तुम्हें अपने मन से जान लिया है, तुम उच्च गुणों वाली युवती हो और मुझे चाह रही हो, तुम्हें संतान की कामना भी है, आओ हम मिल कर सन्तानोत्पत्ति करें[२]।" इसी प्रकार अथर्व. २.३०.१ में वर-वधू 'एक-दूसरे को चाहने वाला[३]' ऐसे शब्दों से याद करते हैं। अथर्व. २.३६.५ में वधू से कहा गया है कि—"हे वधू ! तुम ऐश्वर्य की नौका पर चढ़ो और अपने पति को, जो कि तुम ने स्वय पसन्द किया है, संसार-सागर के परले पार पहुँचा दो[४]।" अथर्व. १४.१.६ में कहा है कि—"वर वधू को चाहने वाला हो और वधू पति को पसन्द कर रही हो[५]।" इन उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद की सम्मति में वर-वधू का विवाह एक दूसरे को अच्छी प्रकार जान लेने के पीछे परस्पर की सहमति से होना चाहिये। परस्पर की सहमति के बिना वर-वधू का विवाह नहीं होना चाहिये।

---

१. अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम।। ऋग्. १०.१८३.१।

२. अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे।। ऋग् १०.१८३.२।

३. यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः। अथर्व. २.३०.१।

४. भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः।। अथर्व. २.३६.५।

५. सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादादात्।। अथर्व. १४.१.६।

चुनाव में माता-पिता का सहयोग

एक बात और है। यद्यपि विवाह में वर-वधू की पारस्परिक सहमति का रहना अत्यावश्यक है, पर युवक और युवती को अपना जीवन-भर का साथी चुनने में अपने माता-पिता आदि गुरुजनों की सलाह का भी पूरा ध्यान रखना चाहिये ताकि वे अनुभवहीनता के कारण अपना साथी चुनने में कोई गलती न कर बैठें। इसी भाव को बतलाने के लिए अथर्ववेद के १४.१.६ मन्त्र में कहा है—**'मनसा सवितादटात्'** अर्थात् "कन्या को उत्पन्न करने वाला पिता अपने मन से—सारी बातें सोच-समझ कर—कन्या को पति के हाथ में देता है।" उसी मन्त्र में कहा है—**'अश्विनास्तामुभा वरा'** अर्थात् "वर और कन्या के माता-पिता कन्या और वर को पसन्द करने वाले बनते हैं।" इस प्रकार हम ने देखा कि माता-पिता आदि गुरुजनों की सलाह लेते हुए वर-वधू एक दूसरे को अच्छी प्रकार जान और देख-भाल कर परस्पर की अभिरुचि और सहमति से विवाह करें ऐसा वेद का आदेश है।

पति के घर में पत्नी की स्थिति

जब विवाह हो कर वधू पति के घर में आ जाती है तो वहां उस की स्थिति किसी भी प्रकार से हीन और अपमानजनक नहीं होती। प्रत्युत उसे पति के घर में बहुत ही सम्मानजनक स्थान मिलता है और पति के घर वाले उस के अपने यहां आ जाने से अपना भारी गौरव अनुभव करते हैं। इसे दिखाने के लिये हम वेद से यहां कुछ उद्धरण देते हैं—"हे वर ! यह वधू तुम्हारे कुल की रक्षा करने वाली है,[१]" "यह वधू पति के घर में जाकर रानी बने और वहां प्रकाशित होवे,[२]" "हे वधू ! तू ऐश्वर्य की नौका पर चढ़ कर पति को पार पहुंचा,[३]" "यह स्त्री हमारे खिले हुए घर में एक खिली हुई कली है,[४]" "ये स्त्रियें शुद्ध, पवित्र और यज्ञिय हैं, ये प्रजा, पशु और अन्न देती हैं,[५]" "हे मातृभूमि ! कन्याओं में जो तेज होता है वह हमें दो, [६]" "ये

१. एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि। अथर्व. १.१४.३।

२. सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु। अथर्व २.३६.३।

३. भगस्य नावमारोह पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः।। अथर्व. २.३६.५।

४. कोशे काशः समुब्जितः। अथर्व. ६.३.२०।

५. शुद्धाः पूताः योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः।
अदुः प्रजां बहुलां पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम्।। अथर्व. ११.१.१७।

६. कन्यायां वर्चो यद्भूमे तेनास्माँ अपि संसृज। अथर्व. १२.१.२५।

स्त्रियें कभी दुःख से रोयें नहीं, इन्हें नीरोग रखा जाये और रत्नादि पहनने को दिये जायें,[१]" "हे वधू ! तू पति के घर में जाकर गृहपत्नी और सब को वश में रखने वाली बन,[२]" "हे वधू ! तू श्वसुर, सास, देवर और ननद की साम्राज्ञी या उन में चमकने वाली बन,[३]" "हे पत्नि ! अपने सौभागय के लिये मैं तेरा हाथ पकड़ता हूं,[४]" "हे पत्नि ! मैं सदा तेरा भरण-पोषण करूंगा,[५]" "मैंने अपनी पत्नी को देख-भाल कर पसन्द कर के लिया है, मैं अपने मित्रों-सहित उस के कहे में चलूंगा,[६]" "हे वधू ! तू हमारे घर चलने के लिये तैयार हो, वहाँ तुझे अमृत का लोक प्राप्त होगा,[७]" "हे वधू ! तू कल्याण करने वाली है और घरों को उद्देश्य तक पहुंचाने वाली है,[८]" "तुम पति-पत्नी दोनों यहाँ हंसते-खेलते हर्ष में रहो, सुन्दर घरों में सुन्दर सन्तानों वाले बनो,[९]" "हम इस पत्नी के सब अंगों में रोग न आने दे कर इसे सर्वथा नीरोग रखते हैं,[१०]" "हे पत्नि ! मैं ज्ञानवान् हूं तू भी ज्ञानवती है, मैं सामवेद हूं तो तू ऋग्वेद है,[११]" "यह वधू विराट् अर्थात् चमकने वाली है, इस ने सब को जीत लिया है[१२]"।

ये उद्धरण हम ने अथर्ववेद से दिये हैं। इन में जो भाव प्रकट किये गये हैं वैसे ही भाव ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ८५ वें सूक्त में भी प्रकट किये गये हैं। स्थानाभाव से उस सूक्त के उद्धरण हम यहाँ नहीं दे रहे। पति के घर में आने पर वधू की वहाँ कितनी सम्मान-जनक और गौरवमयी स्थिति वैदिक धर्म में कही गई है इस की कुछ झलक ऊपर के उद्धरणों से हमें मिलती है।

---

१. इमा नारीः...अनश्रवो अनमीवाः सुरत्नाः...। अथर्व. १२.२.३१।
२. गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी। अथर्व. १४.१.२०
३. सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ।। अथर्व. १४.१.४४।
४. गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्। अथर्व. १४.१.५०
५. ममेयमस्तु पोष्या। अथर्व. १४.१.५२।
६. जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम्। तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः। अथर्व. १४.१.५६।
७. आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकम्। अथर्व. १४.१.६१।
८. सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शम्भूः।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान्।। अथर्व. १४.२.२६।
९. ....हसामुदौ महसा मोदमानौ। सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ...। अथर्व १४.२.४३।
१०. अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि। अथर्व. १४.२.६९।
११. अमोऽहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक् त्वम्। अथर्व. १४.२.७१।
१२. विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत्। अथर्व. १४.२.७४।

एक-पति और एक-पत्नी व्रत

वैदिक धर्म में एक पुरुष की एक ही पत्नी हो सकती है तथा एक स्त्री का एक ही पति हो सकता है। यह नियम जीवन भर के लिये लागू है। अर्थात् पति के मर जाने पर स्त्री को तथा स्त्री के मर जाने पर पति को दूसरा विवाह करने का अधिकार नहीं है।

तलाक नहीं हो सकता

साथ ही वैदिक धर्म में तलाक की भी जगह नहीं है। वर-वधू को विवाह से पूर्व भली-भाँति देख-भाल और पड़ताल कर के अपना साथी चुनने का आदेश दिया गया है— खूब अच्छी तरह परख कर अपना साथी चुनो। पर जब एक बार विवाह हो गया तो फिर विवाह टूट नहीं सकता—तलाक नहीं हो सकता। फिर तो एक दूसरे की कमी और दोषों को दूर करते हुए प्रेम और सहिष्णुता से गृहस्थ में रहो। एक पुरुष की एक ही पत्नी और एक स्त्री का एक ही पति होना चाहिये तथा विवाहित पति-पत्नी में कभी तलाक नहीं होना चाहिये इस विषय पर प्रकाश डालने वाले वेद के कुछ स्थल पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। अथर्व. ७.३७.१ में पति से पत्नी कहती है—"हे पति तुम मेरे ही रहो, अन्य नारियों का कभी चिन्तन भी मत करो[1]।" अथर्व. २.३०.१ में पति पत्नी से कहता है—"हे पत्नी ! तू मुझे ही चाहने वाली हो, तू मुझ से कभी अलग न हो[2]।" अथर्ववेद के चौदहवें काण्ड और ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ८५ वें सूक्त में विवाह के समय नव वर-वधू को उपदेश दिया है कि "तुम दोनों पति-पत्नी सारी आयु भर इस विवाहित जीवन के बन्धन में स्थिर रहो, तुम कभी एक दूसरे को मत छोड़ो[3]।" अथर्ववेद में वहीं चौदहवें काण्ड में कहा है— "ये नव विवाहित पति-पत्नी सारी आयु भर एक-दूसरे के साथ इस प्रकार इकट्ठे रहें जिस प्रकार चकवा और चकवी सदा इकट्ठे रहते हैं[4]।" ऋग् १०.८५.४७ में विवाह के समय वर-वधू अपने आप को पूर्ण रूप से एक-दूसरे में मिला देने का संकल्प करते हुए कहते हैं— "सब देवों ने हम दोनों के हृदयों को मिला कर इस प्रकार एक कर दिया है जिस प्रकार दो

---

१. यथासो मम केवल न्यासां कीर्तयाश्चन। अथर्व. ७.३७.१।
२. मां कामिन्यसो मन्नापगा असः। अथर्व. २.३०.१।
३. इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। अथर्व. १४.१.२२। ऋग्. १०.८५.४२।
४. चक्रवाकेव दम्पती...विश्वमायुर्व्यश्नुताम्। अथर्व. १४.२.६४।

पात्रों के जल परस्पर मिला दिये जाने पर एक हो जाते हैं[1]।" अथर्व. १४.१.५२. में वर अपनी वधू को सम्बोधन कर के कहता है—"हे पत्नि ! तू मुझ पति के साथ बुढ़ापे तक चलने वाली हो[2]।" "हे पत्नि ! तू मुझ पति के साथ सौ वर्ष तक जीवित रह[3]।" वेद के इन और ऐसे ही अन्य स्थलों में स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है कि आदर्श स्थिति यह है कि एक स्त्री का एक पति और एक पुरुष की एक ही पत्नी रहनी चाहिये तथा उन में कभी तलाक नहीं होना चाहिये।

विवाह वास्तव में वह दिव्य सम्बन्ध है जिस में दो व्यक्ति अपना हृदय एक-दूसरे को प्रदान कर देते हैं। हृदय एक ही बार और एक ही व्यक्ति को दिया जा सकता है। एक बार दिया हुआ हृदय फिर वापिस नहीं लिया जा सकता। इसी लिये वेद एक-पति और एक-पत्नी के व्रत का विधान करते हैं तथा तलाक का निषेध करते हैं। वेद की सम्मति में एक बार पति-पत्नी रूप में जिस का हाथ पकड़ लिया, जीवन भर उसी का होकर रहना चाहिये। यदि एक-दूसरे में कोई दोष और त्रुटियें दीखने लगें तो उन से खिन्न हो कर एक-दूसरे को छोड़ नहीं देना चाहिये। प्रत्युत स्नेह और सहानुभूति के साथ सहनशीलता की वृत्ति का परिचय देते हुए परस्पर के दोषों को सुधारने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। जो दोष दूर ही न हो सकते हों उन के प्रति यह सोच कर कि दोष किस में नहीं होते, उपेक्षा की वृत्ति धारण कर लेनी चाहिये। स्नेह और सहानुभूति से एक-दूसरे की कमियों को देखने पर वे कमियें परस्पर के परित्याग का हेतु कभी नहीं बनेंगी। इसी अभिप्राय से वैदिक विवाह-संस्कार में वर-वधू मिल कर मन्त्र-ब्राह्मण के वाक्यों से कुछ आहुतियें देते हैं जिन का भावार्थ इस प्रकार है—"तुम्हारी मांग में, तुम्हारी पलकों में, तुम्हारे रोमों के आवर्तों में, तुम्हारे केशों में देखने में, रोने में, तुम्हारे शीलस्वभाव में, बोलने में, हंसने में, रूप-काँति में, दाँतों में, हाथों और पैरों में, तुम्हारी जंघाओं में, पिंडलियों में, जोड़ों में, तुम्हारे सभी अंगों में कहीं भी जो कोई दोष, त्रुटि या बुराई है, मैं इस पूर्णाहुति के साथ उन सब तुम्हारी त्रुटियों और दोषों को शान्त करता हूँ[4]।" विवाह संस्कार की समाप्ति पर ये वाक्य पढ़ कर आहुतियें दी

१. समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ। ऋग्. १०. ८५. ४७।
२. मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। अथर्व. १४. १. ५०।
३. मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्। अथर्व. १४. १. ५२।
४. लेखासंधिषु पक्ष्मस्वावर्तेषु च यानि ते।

जाती हैं। इन आहुतियों द्वारा वर-वधू यह संकल्प करते हैं कि हम ने एक-दूसरे को उस के सारे गुण-दोषों के साथ ग्रहण किया है। हम एक-दूसरे के दोषों से खिन्न हो कर परस्पर झगड़ेंगे नहीं, और न ही कभी एक-दूसरे का परित्याग करने की सोचेंगे। हम तो विवाह-संस्कार की इन पूर्णाहुतियों के साथ यह संकल्प दृढ़ करते हैं कि हम सदा परस्पर के दोषों को स्नेह और सहानुभूति से सुधारने और सहने का प्रयत्न करते रहेंगे। विवाह से पहले हम ने अपने साथी को इस लिये चुना था कि वह हमें अपने लिये सब से अधिक उपयुक्त और गुणी प्रतीत हुआ था। अब विवाह के पश्चात् हमारी मनोवृत्ति यह हो गई है कि क्योंकि मेरी पत्नी मेरी है और मेरा पति मेरा है, इस लिये मेरे लिये मेरी पत्नी सब से अधिक गुणवती है और मेरा पति मेरे लिये सब से अधिक गुणवान् है। अब हमारे हृदय मिल कर एक हो गये हैं। अब हमें एक-दूसरे के गुण ही दीखते हैं, अवगुण दीखते ही नहीं। और यदि कभी किसी को किसी में कोई दोष दीख भी जाता है तो उसे स्नेह और सहानुभूति से सह लिया जाता है तथा सुधारने का यत्न किया जाता है। विवाह की इन पूर्णाहुतियों में हम ने ऐसा संकल्प दृढ़ कर लिया है और अपनी मनोवृत्ति ऐसी बना ली है। जब हमारे दिल और आत्मा एक हो गये हैं तो हमारा ध्यान आपस की ऊपरी शारीरिक त्रुटियों की ओर जा ही कैसे सकता है ?

इस प्रकार वैदिक धर्म में न तो अनेक-पत्नी प्रथा (Polygamy) का स्थान है और न ही अनेक-पति प्रथा (Poliandry) का। इस के साथ वैदिक धर्म में तलाक का भी विधान

तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा।।
केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत्।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा।।
शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा।।
आरोकेषु दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्।
तानिते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा।।
ऊर्वोरुपस्थे जंघ्योः सन्धानेषु च यानि ते।
तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा।।
यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन्।
पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा।।

मन्त्र ब्राह्मण. १.३.१-६।
गोभि. गृह्य. २.३.५।

नहीं है। यह ऊपर दिये गये वेद के प्रमाणों से अत्यन्त स्पष्ट है।

पुनर्विवाह

वेद में चार वर्णों और चार आश्रमों की जो ऊंची, पवित्र और आध्यात्मिकता से भरी हुई मर्यादा वर्णित की गई है, वेद में ब्रह्मचर्य के जीवन पर, संयम और इन्द्रिय-जय-प्रधान जीवन, पर जो बेहद बल दिया गया है, तथा विवाहित जीवन के ऊंचे आदर्शों के सम्बन्ध में जो कुछ वेद में स्थान-स्थान पर कहा गया है, उस सब पर बारीकी से विचार करते हुए प्राचीन आचार्यों और ऋषियों ने तथा इस युग के महान् ऋषि दयानन्द ने वेद की शिक्षाओं का यह भी निष्कर्ष निकाला है कि द्विजों में—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में—विवाह केवल एक बार ही होना चाहिये। पति-पत्नी की मृत्यु हो जाने पर भी द्विजों को दूसरी बार विवाह नहीं करना चाहिये। पति-पत्नी की मृत्यु हो जाने पर केवल शूद्रों में पुनर्विवाह हो सकता है। यदि पुरुष अक्षत-वीर्य हो और स्त्री अक्षत-योनि हो तो पति-पत्नी की मृत्यु हो जाने पर द्विजों में भी पुनर्विवाह हो सकता है। नहीं तो द्विजों में पुनर्विवाह का विधान नहीं है। द्विजों में पति-पत्नी में से किसी के मर जाने आदि आपत्कालों में सन्तान की इच्छा होने पर नियोग किया जा सकता है[1]। द्विजों में पुनर्विवाह का निषेध इस अभिप्राय से किया गया है कि उन की शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार से हुई है कि उन के लिये संयम का जीवन बिता सकना आसान होता है। आपत्-काल में उन की सन्तान की आवश्यकता की पूर्ति नियोग द्वारा हो ही जाती है। शूद्र, शूद्र इस लिये कहलाता है कि उसे अवसर दिये जाने पर भी वह शिक्षा-दीक्षा में उन्नति नहीं कर पाता है। उस की शिक्षा-दीक्षा ऊंची न होने के कारण शूद्र से संयम की उतनी आशा नहीं की जा सकती। इस लिये पति-पत्नी में से किसी की मृत्यु हो जाने पर शूद्रों में पुनर्विवाह का विधान कर दिया गया है। परन्तु द्विज पुनर्विवाह न कर के जीवन भर संयम से रहें यह अवस्था तभी आ सकती है जब कि समाज की रचना

---

१. को वां शयुत्रा विधवेय देवरम्। ऋग्. १०.४०.२.।। उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ। ऋग्. १०.१८.८.।। अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्। ऋग्. ०.१०.१०. ।। इत्यादि वेदमन्त्रों में आचार्यों ने द्विजों के लिये नियोग का विधान बतलाया है। तथा—इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्। धर्मं पुराणमनु पालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं च धेहि।। अथर्व. १८.३.१।। इत्यादि मन्त्रों में आचार्यों ने द्विजेतरों के लिये पुनर्विवाह का विधान बतलाया है।

वर्णाश्रम-धर्म के आधार पर हो और समाज के रहन-सहन और शिक्षा-दीक्षा में संयम पर भारी बल दिया जाता हो। समाज-रचना ऐसी न होने की अवस्था में लोगों से संयम की उतनी आशा नहीं की जा सकती। आजकल की समाज-रचना उस प्रकार की नहीं है। आजकल के रहन-सहन और शिक्षा-दीक्षा में संयम पर वह बल नहीं दिया जाता। इस लिये आजकल के लोगों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे पति-पत्नी के मर जाने पर संयम से रहेंगे और पुनर्विवाह की आवश्यकता अनुभव नहीं करेंगे। संयम की दृष्टि से आजकल के लोग प्रायः सभी शूद्र ही हैं। इस लिये आजकल के संयमहीन युग में नियोग भी नहीं चल सकता और पुनर्विवाह की व्यवस्था के बिना भी काम नहीं चल सकता। इसी लिये वर्तमान युग में वैदिकधर्मियों ने पुनर्विवाह की—विधवा विवाह और विधुर विवाह की—पद्धति को स्वीकार कर लिया है। पुनर्विवाह अधर्म और पाप नहीं है, वह शूद्रों का धर्म है—कम संयम वाले लोगों का धर्म है।

पति की सम्पत्ति में पत्नी का अधिकार

विवाह के पीछे स्त्री और पुरुष के हृदय मिल कर एक हो जाते हैं। वह जो कुछ खाते, पीते और भोगते हैं मिल कर खाते, पीते और भोगते हैं। इस अभिप्राय से अथर्व. १२.३.३६ में कहा गया है कि "हे पति और पत्नी ! जो तुम एक-दूसरे से छिपा कर खाते हो उसे मिला दो, मिल कर उस का उपभोग करो, तुम दोनों मिल कर अपने इस लोक को बनाओ[1]।" विवाह के उपरान्त पुरुष की सारी संम्पत्ति पर पत्नी का पूरा अधिकार हो जाता है। विवाह के समय पति, पत्नी को सम्बोधन कर के प्रतिज्ञा करता है—"हे पत्नी ! मैं तुझ से स्तेय कर के कुछ नहीं खाऊंगा[2]।" स्तेय का अर्थ होता है, किसी के अधिकारों को मार कर अपना स्वार्थ पूरा करना। पति कहता है, हे पत्नी ! मैं तेरे अधिकारों की परवाह न कर के संपत्ति का भोग नहीं करूंगा। प्रत्युत मुझे संपत्ति का भोग करते हुए तेरे अधिकारों का पूरा ध्यान होगा। मैं अपनी संपत्ति का इस प्रकार खर्च करूंगा कि मेरे जीते तुझे किसी प्रकार का कष्ट न हो। और मरते समय मैं उस का ऐसा प्रबन्ध करता जाऊंगा कि मेरे पीछे भी

१. यद्यज्जाया पचति त्वत्परः परः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः।
सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु सम्पादयन्तौ सह लोकमेकम्।। अथर्व. १२.३.३६।
२. न स्तेयमद्मि। अथर्व. १४.१.५७।

कोई तेरे अधिकारों को छीन न सके। अर्थात् मेरे घर में आने के बाद तेरे अधिकारों की पूरी रक्षा होगी–उन्हें कोई मार न सकेगा। इस से यह स्पष्ट निर्देश मिलता है कि पति को चाहिये कि वह अपनी पत्नी के लिये अपनी संपत्ति का कोई विशेष भाग निश्चित कर देवे जिस से पति के जीवनकाल में या उस के मर जाने के बाद कुटुम्ब के किसी व्यक्ति के हाथों उस की पत्नी को अपने अधिकारों से वंचित न होना पड़े तथा किसी प्रकार के क्लेश उसे न सहने पड़ें।

पति विवाह के समय इसी भाव को एक दूसरे प्रतिज्ञामन्त्र में और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में पत्नी के आगे रखता है। वह पत्नी से प्रतिज्ञा करता है कि–"हे पत्नी ! आज से मैं जीवन-भर तेरा पालन-पोषण करूंगा, तू आज से मेरी पोष्य हो गई है[1]।" इस प्रतिज्ञा द्वारा पत्नी का जीवन-भर पालन-पोषण करने का भार पति अपने ऊपर लेता है। वह अपने जीते-जी और मरने के बाद भी अपनी सम्पत्ति का प्रबनध इस प्रकार कर देगा कि पत्नी को किसी प्रकार कष्ट न हो, किसी अवस्था में भी उस के अधिकारों को हड़पा न जा सके। इस प्रकार प्रति अपनी सम्पत्ति में पत्नी के अधिकार को पूर्ण रूप से स्वीकार करता है। पति के मरने के बाद भी उस की सम्पत्ति में पत्नी का अधिकार बराबर बना रहता है यह बात भी वेद में स्पष्ट शब्दों में कही गई है। ऋग्वेद में एक जगह उपमा दी गई है कि "जिस प्रकार पति-विहीन विधवा पति के धन को प्राप्त करती है[2]।" वेद के इस वाक्य में पति की सम्पत्ति में विधवा के अधिकार का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। वैदिक धर्म में पति की संपत्ति में पत्नी का अधिकार को सदा ही स्वीकार किया जाता रहा है। श्री द्वारकानाथ मिश्र एम. ए., डी. एल्. (M.A.D.L.) ने अपनी पुस्तक 'दी पोजिशन ऑफ् विमेन इन हिन्दू लॉ' (The Position of Women in Hindu Law–हिन्दू-धर्मशास्त्रों में स्त्रियों का स्थान) में मीमांसा के आधार पर दिखाया है कि पत्नी पति की सम्पत्ति में समान अधिकारिणी है–पत्नी की सहमति के बिना पति दान भी नहीं कर सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक धर्म में स्त्री की इतनी परवाह की जाती है कि पति उस के हृदय के साथ अपना हृदय मिला कर एक कर लेने की प्रतिज्ञा कर चुकने पर भी उस के अधिकारों की रक्षा के लिये उद्यत रहता है और अपनी सम्पत्ति में से एक विशेष भाग उस के लिये निश्चित कर देता है। यह सम्पत्ति का भाग किस प्रकार और कितना निश्चित होगा यह विस्तार से वेद में नहीं बताया गया है। क्यों कि यह

---

१. ममेयमस्तु पोष्या। अथर्व. १४.१.५२।

२. परिवृक्तेव पतिविद्यमानट्। ऋग्. १०.१०२.११।

चीज़, देश, काल और अवस्थाओं के अनुसार बदलने वाली है। पति की सम्पत्ति में पत्नी के भाग का निश्चय करते हुए सन्तानों के भाग को भी ध्यान में रखना होगा। इस लिये पति की सम्पत्ति में पत्नी के भाग के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा न करते हुए वेद ने इतना ध्रुव तौर पर कह दिया है कि पत्नी पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी है, पत्नी पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी है, पत्नी का भली-भाँति पालन-पोषण करना और उस के अधिकारों की रक्षा करना पति का आवश्यक धर्म है।

इस प्रकार हम ने देखा कि वैदिक धर्म में स्त्री की विवाहित जीवन की स्थिति पुरुष से किसी प्रकार हीन और अपमानजनक नहीं है। प्रत्युत वह बड़ी प्रशस्त और गौरवमय है।

पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व पिता की सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार के सम्बन्ध में वेद की क्या सम्मति है इस सम्बन्ध में भी दो शब्द कह देना अप्रासंगिक न होगा। वेद के प्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य यास्क ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ निरुक्त के तृतीय अध्याय के ३-५ खण्डों में इस विषय पर बड़ा सुन्दर विचार किया है और वहाँ इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक वेद-मन्त्रों को उद्धृत किया गया है। वहाँ ऋग्. ३.३१.१ मन्त्र को उद्धृत कर के उस के अर्थ पर विचार करते हुए यास्क ने लिखा है कि अनेक आचार्य इस मन्त्र से यह परिणाम निकालते हैं कि पुत्रों की भाँति ही पुत्री का भी अपने पिता की सम्पत्ति में भाग होना चाहिये, पुत्र और पुत्री समान रूप से पिता के दामाद अर्थात् सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हैं। वहाँ उन्होंने मनु का मत दिखाते हुए एक श्लोक[2] भी उद्धृत किया है जिस में कहा गया है कि मनु की सम्मति में पुत्र और पुत्री अपने पिता की सम्पत्ति के समान रूप से उत्तराधिकारी हैं। वहाँ यास्काचार्य ने अथर्व. १.१७.१ और ऋग्. १.१२४.७ मन्त्रों[3] को उद्धृत कर

१. शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे।। ऋग्. ३.३१.१।

२. अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।।

३. अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः।। अथर्व. १.१७.१।
अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः।। ऋग् १.१२४.७।

के अपना मत यह दिखाया है कि जिन कन्याओं का कोई भाई न हो वे अपने पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती हैं। ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के १७वें सूक्त में एक मन्त्र१ आता है जिस मन्त्र[1] में उपमा-वाक्य द्वारा यह कहा गया है कि पिता के घर में रहने वाली कन्या भाइयों के समान ही पिता की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती है। इस प्रकार इस अंश में तो वेद का अभिप्राय अत्यन्त स्पष्ट है ही कि जिस कन्या का भाई न हो अथवा जो कन्या पिता के ही घर में रहे उस का अपने पिता की सम्पत्ति में अधिकार रहना चाहिये। और कई आचार्यों के अनुसार, जैसा कि यास्क ने लिखा है, ऋग्. ३.३१.१ में यह उपदेश भी दिया गया है कि सभी कन्याओं का पिता की सम्पत्ति में भाइयों के समान ही अधिकार है। जैसा कि यास्क ने लिखा है कई आचार्य इस मन्त्र को कन्या के उत्तराधिकार में न लगा कर पुत्र के उत्तराधिकार में लगाते हैं। यदि इस मन्त्र के अर्थ में मतभेद हो और यह न भी माना जाये कि पिता की सम्पत्ति में विवाहित कन्या का भी अधिकार होता है तो भी कोई हानि नहीं है और न ही उस अवस्था में कन्याओं के साथ कोई अन्याय ही होता है, क्योंकि जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है विवाहित कन्याओं का अपने पतियों की सम्पत्ति में तो अधिकार रहेगा ही।

५
वेद और स्त्रियों की सामाजिक स्थिति

अब हम देखना चाहते हैं कि वैदिक धर्म में स्त्री की कुटुम्ब से बाहर की सामाजिक स्थिति किस प्रकार की रखी गई है।

परदा नहीं है

यहाँ प्रारम्भ में ही यह स्मरण रख लेना चाहिये कि वैदिक धर्म में परदे की जगह नहीं है। विवाह के बाद जब वधू पहले-पहल पति-घर में आती है तो पति-ग्राम के लोगों से पति के घर वाले कहते हैं—"यह कल्याण-मंगल-बढ़ाने वाली वधू हमारे घर में आई है, आओ इसे देखो[2]।" परदे का न होना स्त्री के सामाजिक जीवन की एक भारी रुकावट को हटा देता है। इस के न रहने से उस का समाज में स्वच्छन्दता से मिलना और विचारना (Free movement and

१. अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्।
कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो येन मामहः।। ऋग्. २.१७.७।

२. सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। अथर्व. १४.२.२८।

free mixing in society) बहुत कुछ आसान हो जाता है।

स्त्रियाँ राजा और अन्य राज्याधिकारी भी बन सकती हैं

किन्तु वेद यहीं तक नहीं ठहरा है। अगर हम ऋषि दयानन्द-कृत ऋग्वेद और यजुर्वेद के भाष्यों को उठा कर देखें तो हमें वहां स्त्री की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में जो कुछ मिलता है वह अद्भुत है। वहाँ हम देखते हैं कि एक स्त्री चाहे तो सेना या पुलिस का सिपाही बन सकती है, प्राड्विवाक अर्थात् वकील बन सकती है, उपदेशक, अध्यापक और व्याख्याता बन सकती है, यहाँ तक कि वह एक देश का राष्ट्रपति या राजा भी चुनी जा सकती है। वेदों का स्वाध्याय जिन्होंने गम्भीरता से किया है उन्हें पता है कि वेद के राजनैतिक प्रकरणों में राष्ट्र का प्रबन्ध ठीक ढंग से चलाने के लिये प्रत्येक राज्य में 'सभा' और 'समिति' नाम की दो नियामक सभाओं (Legislative Chambers) के स्थापित करने की आज्ञा है। इन में समिति नामक सभा ऊंची और अधिक शक्तिशाली होती है। अथर्व. ७.३८.४ और १२.३.५२ में क्रमशः सभा और समिति में जाकर स्त्रियों के भाग लेने और बोलने का वर्णन आया है[1]। जब कोई स्त्री सभा और समिति में जाने के लिये चुनी जा सकती है तो वह राष्ट्र के किसी भी ऊंचे से ऊंचे पद को सुशोभित करने के लिये भी चुनी जा सकती है, यह स्पष्ट ही है।

यजुर्वेद के बीसवें अध्याय के प्रथम दस मन्त्रों में राजा के राज्यारोहण का वर्णन है। इन मन्त्रों में राज्यासीन हो रहा राजा अपने एक आलंकारिक शरीर का वर्णन कर रहा है। वह कह रहा है कि मैं राज्यासीन होकर अपने राष्ट्र में अमुक-अमुक कल्याण-मंगल के कार्य करूंगा। वह अपने द्वारा राज्य में किये जाने वाले इन मंगल-कार्यो के साथ अपने आप को तन्मय कर लेने की भावना व्यक्त करता है। इस तन्मयता की भावना को प्रकट करने के लिये वह राज्य में अपने द्वारा किये जाने वाले एक-एक कार्य को गिना-गिना कर उसे अपने शरीर का एक-एक अंग बताता जाता है। वह रूपक से प्रजा के कल्याण के लिये किये जाने वाले कार्यों को ही अपना शरीर बना लेता है। इस रूपक का अभिप्राय यह है कि राजा यह बताना चाहता है कि राज्यासीन हो जाने के पश्चात् मुझे अपने शरीर के सुख-आराम की चिन्ता नहीं होगी, मुझे तो प्रजा के भाँति-भाँति के कल्याण करने की ही चिन्ता होगी, अब से प्रजा का कल्याण ही मेरा स्वरूप हो जायेगा ! राजा प्रजा-कल्याण-रूप शरीर के अपने इस रूपक में

---

१. अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद। अथर्व. ७.३८.४।
यदक्षेषु वदा यत्समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्यां। अथर्व. १२.३.५२।

पुरुष-शरीर के सब अंगों को तो गिनाता ही है, वह स्त्री के विशेष अंग[1] को भी गिनाता है। राजा के शरीर के इस रूपक में पुरुष के विशेष अंग के साथ स्त्री के विशेष अंग को गिनाने का स्पष्ट रूप में यह संकेत है कि जिस प्रकार कोई पुरुष राजा चुना जा सकता है उसी प्रकार कोई स्त्री भी राजा चुनी जा सकती है, और जैसे राजा चुने गये किसी पुरुष को प्रजा के कल्याण में तन्मय हो जाना चाहिये उसी प्रकार राजा चुनी गई स्त्री को भी प्रजा के कल्याण में तन्मय हो जाना चाहिये। यजुर्वेद के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि पुरुषों की भाँति स्त्रियें भी राजा या राष्ट्रपति चुनी जा सकती हैं। पाठकों को यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि वेद में निर्वाचित-राज-पद्धति को ही स्वीकार किया गया है आनुवंशिक एकतन्त्र राजपद्धति को नहीं।

वैदिक नारी की सामाजिक आकांक्षा

यहाँ ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १५९ वें सूक्त का सारांश दिया जाता है। वैदिक धर्म में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को समझने में उस से अच्छी सहायता मिलेगी। एक गृहपत्नी प्रातःकाल उठते ही अपने उद्गार कहती है—"यह सूर्य उदय हुआ है, इस के साथ ही मेरा सौभाग्य भी ऊंचा चढ़ निकला है। मैं अपने घर और समाज की ध्वजा हूँ, उस की मस्तक हूँ। मैं भारी व्याख्यात्री हूँ। मेरे पुत्र शत्रु-विजयी हैं। मेरी पुत्री संसार में चमकती है। मैं स्वयं दुश्मनों को जीतने वाली हूँ। मेरे पति का असीम यश है। मैंने वह त्याग किया है जिस से इन्द्र (सम्राट्) विजय पाता है। मुझे भी विजय मिली है। मैंने अपने शत्रु निःशेष कर दिये हैं[2]।"

---

१. मेऽपचितिर्भसत्। यजुः. २०.९.।

२. उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः।।
अहं केतुरहं मूर्धाऽहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्।।
मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः।।
येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युत्तमः।
इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम्।।
असपत्ना सपत्नघ्नी जयन्त्यभिभूवरी।
आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसामिव।।

वेद के इस सूक्त की व्याख्या की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं अत्यन्त स्पष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक धर्म में स्त्री की सामाजिक स्थिति पर किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं है। वह जो कुछ भी चाहे बन और कर सकती है। उसे अपनी शक्ति को विकसित कर के संसार में कुछ भी बनने और करने का अधिकार है जो कि पुरुष बन और कर सकता है। उस के सब क्षेत्रों में अधिकार पुरुष के समान हैं। जो कुछ पुरुष प्राप्त कर सकता है वह स्त्री भी प्राप्त कर सकती है। जहाँ पुरुष पहुँच सकता है वहाँ स्त्री भी पहुँच सकती है। दोनों के अधिकार समान हैं।

जहाँ तक स्त्री के अधिकारों का प्रश्न है वहाँ तक उन्हें कोई नहीं हड़प सकता है। एक स्त्री अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार जो कुछ बनना चाहे बन सकती है। उसे रोका नहीं जा सकता। प्रत्युत समाज को उस की सहायता करनी होगी।

स्त्रियों का एक महान् कर्तव्य

परन्तु यदि हम स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी वेद के सारे प्रकरणों को मिला कर पढ़ें और उन की भिन्न-भिन्न शिक्षाओं का समन्वय करें तो हमें उन से एक विशेष निर्देश निकलता प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वेद स्त्रियों की सेवा में एक डेपुटेशन ले जाते हों और उन से कहते हों कि देवियो ! अधिकार और हक की दृष्टि से तुम सर्वथा पुरुषों के समान हो, तुम्हारे हक छीने या रोके नहीं जा सकते। तुम जो चाहो बन सकती और कर सकती हो। इस में तुम्हारी सहायता की जायेगी। परन्तु हम तुम्हें आफिस की कुर्सियों, न्यायाधीशों के मंचों और राष्ट्रपतियों के सिंहासनों की ओर जाने से जान-बूझ कर मना करना चाहते हैं। हम इन सब कामों से ऊंचा एक काम तुम्हारे सुपुर्द करना चाहते हैं उसे तुम्हीं कर सकती हो। पुरुष उसे नहीं कर सकते। वह काम है मनुष्य-समाज को सच्चे और वास्तविक मनुष्य पैदा कर के देना।

सज्जनो ! आज हमें घोड़ों की नस्ल की उन्नति करने के लिये अश्व विशेषज्ञ (Horse-breeders) की आवश्यकता है, हम उन्हें तैयार करने हैं। गौओं की नस्ल और कुत्ते-बिल्लियों की नस्ल को उन्नत करने के लिये गो-विशेषज्ञ, कुत्ता-विशेषज्ञ (Cow-Breeders, Dog-

---

समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी।
यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च।। ऋग्. १०.१५९। १-६।
इस सूक्त की व्याख्या हमारे ग्रंथ 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' के पृष्ठ १५९-१६१ पर देखिये।

breeders) और बिल्ली-विशेषज्ञों (Cat-Breeders) की आवश्यकता है, और हम उन्हें तैयार करते हैं। किन्तु आज हम मनुष्यों की नस्ल को उन्नत करने के लिये मानव-विशेषज्ञों (Man-Breeders) की आवश्यकता का अनुभव नहीं करते हैं। वेद कहता है, देवियो ! तुम मनुष्यों की नस्ल को उन्नत करने वाले मानव-विशेषज्ञों (Man-Breeders) का काम करो। मनुष्य-समाज को सच्चे मनुष्य तैयार कर के देना मनुष्य-समाज की सब से भारी सेवा और सब से पवित्र कार्य है।

आप वेदों को पढ़ जाइये। वहाँ विवाह का एकमात्र उद्देश्य लम्पटता से बच कर सन्तान उत्पन्न करना बताया गया है। स्थान-स्थान पर स्त्री के लिये प्रजावती, पुत्रवती, प्रजाकामा, वीरसूः आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ है। पचासों जगह उस से उत्तम सन्तान देने की प्रार्थनायें की गई हैं। वेद विवाह का प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति बताते हुए स्त्रियों से इस प्रयोजन को विशेष रूप से पूरा करने का आग्रह क्यों करते हैं यदि यह जानना हो तो हमें ऋग्वेद के १० वें मण्डल का ४७वां सूक्त उठा कर देखना चाहिये। उस सूक्त में सन्तान के अभिलाषी परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो ! हमें अमुक-अमुक गुणों वाली सन्तान दीजिये। आप के विनोद के लिये उस सूक्त का सारांश यहाँ दिया जाता है—"हे परमात्मन् ! हम आप से एक धन मांगते हैं। वह धन है, सर्वगुण सम्पन्न सन्तान। आप तो सभी धन देने वाले हैं हम ने आपका दाहिना हाथ पकड़ लिया है। आप हमें गोपति, आयुधारी, रक्षा देने वाले, सन्मार्ग पर ले चलने वाले, क्रियाशील, भारी-भारी आपत्तियों से बचाने वाले, वेदज्ञ, देवों के गुण वाले, लम्बे-चौड़े सुडौल शरीर वाले, गम्भीर, ऋषियों की आज्ञा सुनने वाले, उग्र दुश्मनों का पराभव करने वाले, बल और अन्न के रक्षक, वीर, पार लगाने वाले, धनदाता, सुदक्ष, दस्युहन्ता, शत्रुओं के नगरों का भेदन करने वाले, सत्यशील, घोड़ों वाले, रथों वाले, वीरों वाले, सैकड़ों और हजारों शक्तियों वाले, बलिष्ठ, सदाचारी लोगों से घिरा रहने वाले, सुख में रहने वाले और सुख देने वाले पूर्णशक्ति से युक्त सातों इन्द्रियों वाले, ऋत को धारण करने वाले, सुमेधा, बृहस्पति अर्थात् बड़े-बड़ों के रक्षक या ज्ञानी, औरों को बुद्धि देने वाले, लोगों को सब से बढ़ कर आश्रय और सहायता दे सकने वाले, पुत्र-रूप धन को हमें दीजिये। हम आपकी हृदय से प्रार्थना करते हैं[१]।" सूक्त द्वारा प्रार्थना करने वाला मानो गुणवाली गिनाते-गिनाते थक जाता है पर उस का सन्तोष नहीं

१. जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम।
विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।।

होता। आखिर वह दो विशेषण प्रयुक्त करता है—'चित्रं वृषणम्'—अद्भुत और वर्षा करने वाला। इस 'चित्र' या अद्भुत में वे सारे गुण आ जाते हैं जो कि यहाँ गिनाये जा सके, और 'वृषण' या वर्षा करने वाला विशेषण सन्तान में अभिलषित सारी परोपकार-भावनाओं की सूचना दे देता है। सूक्त के शब्दों में जो रस, सुन्दरता और भाव हैं उन्हें हम अपने शब्दों में नहीं ला सके हैं। जब इतनी ऊंची सन्तान प्राप्त करना हमारा ध्येय हो तो उस के लिये हमें विशेष यत्नशील होना पड़ेगा। मनुष्य-समाज को मनुष्यों का समाज रखने के लिये हमें उत्कृष्ट सन्तान की कितनी आवश्यकता है यह आसानी से समझा जा सकता है। उत्कृष्ट सन्तानें मनुष्य-समाज को देवियाँ ही दे सकती हैं। यह कार्य पुरुषों से साध्य नहीं है। इसी लिये वेद में स्त्रियों के उत्कृष्ट सन्तान पैदा करने के कर्तव्य पर सब से अधिक बल दिया गया है।

यहाँ यह न समझ लेना चाहिये कि स्त्रियों से उत्तम मनुष्य घड़-घड़ कर समाज को देने की प्रार्थना विशेष रूप से कर के वेद उन्हें सब प्रकार की शिक्षायें और विद्या-विज्ञान जानने से वंचित करना चाहता है। शिक्षा के क्षेत्र में वेद स्त्रियों की जो स्थिति रखता है वह हम ने ऊपर संक्षेप से अच्छी तरह दिखा दी है। यहां तक वेद स्त्रियों की शिक्षा पर बल देता है कि

स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयिणाम्।
चर्कृत्यं शंस्यं भूरिवारमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।।
सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र।
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।।
सनद्वाजं विप्रवीरं तरुत्रं धनस्पृतं शूशुवांसं सुदक्षम्।
दस्युहनं पूर्भिदमिन्द्र सत्यमस्मभ्यं चित्रं वृष्णं रयिं दाः।।
अश्वावन्तं रथिनं वीरवन्तं सहस्रिणं शतिनं वाजमिन्द्र।
भद्रव्रातं विप्रवीरं स्वर्षामस्मभ्यं चित्रं वृष्णं रयिं दाः।।
प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां बृहस्पतिं मतिरच्छा जिगाति।
य आङ्गिरसो नमसोपसद्योऽस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।।
वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश्चरन्ति सुमतीरियानाः।
हृदिस्पृशो मनसा वच्यमाना अस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।।
यत् त्वा यामि दद्धि तन्न इन्द्र बृहन्तं क्षयमसमं जनानाम्।
अभि तद् द्यावापृथिवी गृणीतामस्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिं दाः।।

ऋग्. १०.४७।१-८।

इस सूक्त की विस्तृत व्याख्या हमारे ग्रन्थ 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' के पृष्ठ १५६-१५९ पर देखिये।

विवाह के अवसर पर वेद कन्या के माता-पिता से दहेज में भी ऊंचे प्रकार की शिक्षा ही देने को कहते हैं वस्तुतः देखा जाये तो सन्तानोत्पत्ति के मार्ग पर चलने वाली देवी को उच्च शिक्षा की भारी आवश्यकता है। एक घड़ा बनाने वाले कुम्हार को घड़ा बनाने के लिये पहले घड़े और मिट्टी के सम्बन्ध में कितना ज्ञान अपेक्षित होता है यह हर एक जानता है। जो देवी मनुष्य बनाने का काम अपने ऊपर लेना चाहती है उसे मनुष्य-स्वभाव (Human Nature) के विस्तृत-ज्ञान की जो आवश्यकता है इसे आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। किस समय मनुष्य-समाज को कैसे मनुष्यों की आवश्यकता है यह समझ सकना और उस के अनुसार उपयुक्त मनुष्य पैदा करके समाज को देना पूर्ण शिक्षित माताओं से ही बन सकता है। पूर्ण शिक्षित मातायें ही यह जान सकेंगी कि समय की आवश्यकताओं के अनुसार विशेष प्रकार के मनुष्य पैदा करने के लिये सन्तानों को किन परिस्थितियों में रखना चाहिये, उन पर कैसे संस्कार किस तरह डालने चाहिये। इसी लिये वेद स्त्रियों की शिक्षा पर पूरा बल देता है और उन से अपनी शक्तियों और योग्यता को मनुष्य-समाज के कल्याण और संसार की उन्नति के लिये उत्कृष्ट सन्तानें पैदा करने में लगाने की मानो प्रार्थना करता है। स्त्रियें अपनी सारी योग्यता उत्तम सन्तानें तैयार करने में लगा दें। क्योंकि यह कार्य वे ही कर सकती हैं। पुरुष से यह कार्य बन नहीं सकता। और पुरुष सब प्रकार की सांसारिक चिन्ताओं से स्त्रियों को मुक्त करने का भार अपने ऊपर ले लें। किन्तु यह कभी न भूलना चाहिये कि जो देवियें सन्तानोत्पत्ति के मार्ग में न पड़ना चाहें--विवाहित जीवन में प्रवेश न करना चाहें--उन्हें पूरा अधिकार है कि वे पुरुषों की तरह जो कुछ बनना चाहें बने, जिस तरह समाज की सेवा करना चाहें करें। विवाहित स्त्री भी यदि सन्तान के प्रति अपने कर्तव्यों में किसी तरह की कमी न आने देते हुए समाज-सेवा का कार्य करना चाहे तो खुशी से कर सकती है।

सज्जनो ! आपकी सेवा में वैदिक धर्म में स्त्रियों की जो स्थिति है उसे दिखाने के लिये ये कुछ पंक्तियें उपस्थित की गई हैं। इस सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर समय और स्थान इस की आज्ञा नहीं देते। जो कुछ आपने सुना है, मैं समझता हूँ, उस से आप भली-भाँति जान गये होंगे कि वैदिक धर्म में स्त्रियों की स्थिति कितनी स्वतन्त्र, कितनी सन्मान-जानक और कितनी गौरवमय है।

वेद और गो-पालन

१
वैदिक गृहस्थ के जीवन में गौ का स्थान

वैदिक गृहस्थ के जीवन में गौ का बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। गौ उस की एक बहुत प्यारी सम्पत्ति है। उसे जब कभी अपने भगवान् से ऐश्वर्य की प्रार्थना करनी होती है तो उस ऐश्वर्य में और-और वस्तुओं के साथ प्रायः गौ भी अवश्य सम्मिलित रहती है। पचासों स्थानों पर वेद में प्रभु-भक्त याचक द्वारा अपने भगवान् से गृहस्थ के अभीष्ट ऐश्वर्य में गौओं की अभ्यर्थना की गई है। वह एक नहीं, अनेक गौवें अपने पास रखना चाहता है। उदाहरण के लिये अथर्व. २.२६ में वह कहता है—

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु। अथर्व. २.२६.२।
सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ।।

अथर्व. २.२६.४।

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम्।। अथर्व. २.२६.५।

प्रथम मन्त्रखण्ड का अर्थ है—"मेरे इस गौओं के ठहरने के घर में (गोष्ठ) पशु बह कर आवें"। अगले दोनों मन्त्रों का अर्थ देने से पहले इस वाक्य के सम्बन्ध में दो पंक्तियें और लिख देना आवश्यक है। सूक्त के प्रथम मन्त्र में जो पशु दिन के समय बाहर जंगल या खेतों में चरने चले गये थे उन्हें वापिस बुलाया जा रहा है। वे सुख-पूर्वक वापिस मेरे घर में आ जावें यह प्रार्थना की जा रही है। प्रस्तुत मन्त्रखण्ड उसी प्रसङ्ग में दूसरे मन्त्र का प्रथम चरण है। इस में पुशओं के लौट कर आने के लिये 'सं स्रवन्तु' क्रिया का प्रयोग किया गया है। इस का शब्दार्थ है "बह कर आवें"। यह क्रिया उन वस्तुओं के चलने में प्रयुक्त होती है जो चलते हुए ऐसा प्रतीत हो कि मानो धारा में चल रहे हैं। जैसे, सेनाओं का चलना, नदियों आदि के पानी का बहना इत्यादि। यहाँ इस क्रिया के प्रयोग से यह अवगत होता है कि वापिस लौट कर आ रहे पशु एक, दो या दस-पाँच नहीं हैं, प्रत्युत वे इतने अधिक हैं कि चलते हुए उन का एक प्रवाह-सा आता हुआ प्रतीत होता है। लौट कर उन के घर में ठहरने के स्थान

को 'गोष्ठ' कहा गया है। गोष्ठ का शब्दार्थ वह घर या स्थान है जहाँ गौवें ठहरें। इस शब्द के प्रयोग से यह व्यंजित होता है कि इन पशुओं में गौओं की प्रधानता है। गोष्ठ शब्द के प्रयोग से ही यह बात व्यक्त नहीं होती। ऊपर उद्धृत किये गये दोनों मन्त्रों से यह बात आप ही सुव्यक्त है। इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है–

"मैं गौवों के दूध को अपने शरीर में सिंचन करता हूँ, उन के घी से मैं अपने शरीर में बल और रस (वीर्यादि) सिंचन करता हूँ, उन के दूध और घी से हमारे घर के सारे ही वीर (पुरुष) सिंचित होते हैं, मुझ गोपति में गौवें स्थिर हो कर रहें।"

"मैं अपने इस घर (अस्तकम्) में गौओं का दूध लाता हूँ (आहरामि), धान्य और रस लाता हूँ, यहाँ वीर (पुरुष) आये हुए हैं और उन की पत्नियाँ आई हुई हैं।"

इन मन्त्रों में दूध-घी खाने के लिये 'सिच्' क्रिया का प्रयोग हुआ है। इस का अर्थ सींचना होता है। खेतों और उद्यानों आदि को प्रभूत जल प्रदान कर के आप्लुत करने को सींचना कहते हैं। वैदिक गृहस्थ दूध-घी खाता नहीं, वह अपने आपको उस से सींचता है। वह छटाँक-दो-छटाँक या पाव-दो-पाव दूध-घी से तृप्त नहीं होता, उसे उस के कटोरे-के-कटोरे और घड़े-के-घड़े चाहिये। तभी तो हमारा घर 'वीरों' और वीर-पत्नियों से भर सकता है। जिस घर के लोगों को अपने आपको दूध-घी से सींचना हो उन्हें एक दो गौवों से कहाँ सन्तुष्टि हो सकती है, उन्हें घर में बह कर आती हुई गौवों की धारा की आवश्यकता है।

इसी लिये जब गो-प्रिय वैदिक गृहस्थ अथर्व. ३.१२ में अपने रहने के लिये एक सुन्दर शाला (घर) का निर्माण करता है तो उस को और-और ऐश्वर्यों से भरने के साथ 'गोमती ...घृतवती पयस्वती' (अथर्व. ३.१२.२) और 'घृतमुक्षमाणा' भी बनाता है। उस में गौवें रख कर उसे घी और दूध से भरना चाहता है, इतना भरना चाहता है कि वह हमारे लिये घी सिंचन करने वाली (उक्षमाणा) बन सके। वह अपनी शाला के सम्बन्ध में इच्छा रखता है कि उस में–

आत्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पदन्दमानाः।

अथर्व. ३.१२.३।

एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः। अथर्व. ३.१२.७।

"सायंकाल को बाहर से चर कर बछड़े और उछलती हुई गौवें आया करें।" "दही से लबालब भरे (परिस्रुत) कुम्भ और कलश रहा करें।" वह अपनी पत्नी को प्रतिदिन कहना चाहता है कि–

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामममृतेन संभृताम्।
इमां पातृनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्।।

अथर्व. ३.१२.८।

"हे नारि ! इस कुम्भ को अमृत से भरी हुई घी की धारा से पूरा भर ले और फिर इस अमृत से इन पीने वालों को खूब चिकने, सुन्दर और कान्तिमान् शरीर वाला बना (सम्-अङ्ग्धि), हमारे द्वारा किये हुए इष्ट और आपूर्त के शुभ कर्म इस घर की रक्षा करते रहें।"

अथर्ववेद के दो सूक्तों के इन उद्धरणों से पाठकों को यह स्पष्ट हो गया होगा कि अपने घी-दूध से उस के शरीर को सींच कर चिकना, सुन्दर, बलिष्ठ और कान्तिमान् बनाने वाली गौ और तज्जन्य पदार्थों से वैदिक गृहस्थ को कितना प्रेम है और वह उन्हें कितने भारी मात्रा में अपने पास रखना चाहता है। यहाँ और भी कितनी ही उद्धरण इस भाव को स्पष्ट करने के लिये दिये जा सकते थे। हम विस्तारभय से ऐसा नहीं करना चाहते और इस की कोई आवश्यकता भी नहीं है। वेद का प्रत्येक पारायण करने वाला जानता है कि वैदिक आर्य गृहस्थ के लिये गो-धन की कितनी कीमत है और वह धन को पाने के लिये कितना उत्सुक रहता है और भगवान् से इस के लिये कितनी प्रार्थनायें करता है। साधारण दृष्टि से भी वेद की एक बार आवृत्ति कर लेने से यह बात विदित हो सकती है।

गौओं के लिये राष्ट्रिय प्रार्थना

न केवल वेद का प्रत्येक गृहस्थ ही अपने लिये वैयक्तिक रूप में भगवान् से गो-धन की याचना करता है प्रत्युत कई स्थलों पर सारे राष्ट्र के लोगों के लिये भी गो-धन की याचना की गई है। उदाहरण के लिये यजुर्वेद का निम्न मन्त्र देखिये–

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।

यजुः. २२.२२।

जिस अध्याय का यह मन्त्र है उस का शतपथ में अश्वमेध में विनियोग किया गया है। अध्वर्यु इस मन्त्र द्वारा अश्वमेध करने वाले सम्राट् के राष्ट्र में अभ्युदय की प्रार्थना भगवान् से कर रहा है। वह कहता है—"हे भगवन् (ब्रह्मन्), इस के राष्ट्र में ब्रह्मतेज वाले ब्राह्मण उत्पन्न हों, शस्त्र चलाने में निपुण, दूर का निशाना बींधने वाले, महारथी, शूर क्षत्रिय हों, दूध देने वाली गौवें उत्पन्न हों, भार उठाने में समर्थ बैल हों, शीघ्रगामी घोड़े हों, नगरों की रक्षा करने वाली (पुरंधिः) स्त्रियें हों, इस यजमान (सम्राट्) के पुत्र (वीरः) विजयी, रथारोही, सभाओं में जाने योग्य और युवा हों, जब-जब हम चाहें तब-तब बादल बरसा करें, अनाज (ओषधयः) फल वाले हो कर पका करें, हमें अलब्ध ऐश्वर्य की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा (योगक्षेमः) प्राप्त हो"। मन्त्र में उत्पन्न होने के लिये 'आ जायताम्' क्रिया का प्रयोग हुआ। इस में है। इस में 'आ' उपसर्ग की व्यंजना देखने योग्य है। "आ" का अर्थ होता है 'समन्तात्'—'चारों ओर'। इस लिये 'आ जायताम्' क्रिया का भाव यह हुआ कि मन्त्र में वर्णित ब्राह्मणादि एक दो नहीं, प्रत्युत राष्ट्र में चारों ओर—कोने-कोने में—उन का प्रादुर्भाव हो। पाठक स्पष्ट देख रहे हैं कि राष्ट्र के इस ऐश्वर्य की प्रार्थना में 'दूध पीने वाली गौवों' को भी साथ रखा गया है।

२

राज्य और गो-पालन तथा गोपालन के सम्बन्ध में वेद के निर्देष

जिन गौओं का राष्ट्र के व्यक्तियों को वीर और बलिष्ठ बनाने में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसी लिये जो राष्ट्र के ऐश्वर्य का एक अत्यन्त आवश्यक अंग हैं, उन गौवों का राष्ट्र के घरों में उचित भरण-पोषण हो रहा है कि नहीं इस का सदा निरीक्षण रखना वेद में राज्य का भारी कर्तव्य बताया गया है। राजा के इस कर्त्तव्य का अनेक स्थानों पर निर्देश मिलता है। उदाहरण के लिये ऋग्. ६.२८ का निम्न सूक्त देखिये। इस में गो-पालन के सम्बन्ध में कई सुन्दर शिक्षाओं का वर्णन करते हुए इस सम्बन्ध में राजधर्म का भी इशारे से निर्देश कर दिया गया है। सूक्त इस प्रकार है—

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः।।१।।
इन्द्रो यज्वने पृणते च शिक्षत्युपेद् ददाति न स्वं मुषायति।
भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम्।।२।।
न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह।।३।।

न ता अर्वा रेणुककाटो अश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि।
उरुगायमभयं तस्य ता अनुगावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः।।४।।
गावो भगो गाव इन्द्रो मे अच्छान् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामीद्धृदा मनसा चिदिन्द्रम्।।५।।
यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु।।६।।
प्रजावतीः सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः।।७।।
उपेदमुपपर्चनमासु गोषूप पृच्यातम्।
उप ऋषभस्य रेतस्युपेन्द्र तव वीर्ये।।८।।

सूक्त के मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है–

"(गावः) गौवें (आ अग्मन्) आवें (गोष्ठे) हमारे गोष्ठ अर्थात् गौवों के रहने के स्थान में (सीदन्तु) बैठें अर्थात् रहें (उत) और (भद्रं) हमारे लिये मंगल (अक्रन्) करें (अस्मे) हम में रहती हुई (रणयन्तु) रमण करें अर्थात् आनन्दपूर्वक रहें (इह) यहाँ हमारे घर में ये गौवें (प्रजावतीः) सन्तानों वाली हो कर (पुरुरूपाः) बहुत रूपों वाली अर्थात अनेक प्रकार की (स्युः) होती रहें और इस प्रकार (इन्द्राय) सम्राट के लिये (पूर्वीः) बहुत (उषसः) उषः कालों अर्थात् दिनों तक (दुहानाः) दूध देने वाली बनी रहें।।१।।"

इस मन्त्र से निम्न उपदेश मिलते हैं–

१. हर एक गृहस्थ के घर में गोष्ठ अर्थात् गौवों के रहने का स्थान भी अवश्य रहना चाहिये। कोई घर गौवों के बिना न रहे। गौ पाल कर सब को अपना भद्र करना चाहिये।
२. गौ पालने वालों को इस प्रकार उन की संतानें उत्पन्न करानी चाहिये कि उन से अनेक प्रकार की उत्तमोत्तम गौवें तैयार हो सकें, जिन में पहले की अपेक्षा अधिक दूध और मक्खन उत्पन्न होता हो, अधिक बलिष्ठ बछड़े और बछड़ियें उत्पन्न होते हों, तथा रूपाकृति की सुन्दरता-विविधता भी पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ती जावे। यह सब भाव **'प्रजावतीः पुरुरूपाः'** इन दो शब्दों का है।
३. "इन्द्र के लिये दूध देने वाली बने रहें" इस वाक्य से यह भाव प्रतीत होता है कि गौवों से जो भी दूध-घी की आय गृहस्थों को हो उस में कुछ भाग का राज्य का भी रहना चाहिये।

४. ''हम मैं रहती हुई रमण करें'' इस वाक्य की ध्वनि यह है कि जिस प्रकार घर के मनुष्य मिल कर आनन्द से रहते हैं उसी प्रकार हमारी गौवें भी हम में मिल कर आनन्द से रहें। हम अपनी गौवों को अपने जैसा ही समझें और अपने जैसी ही उन की आराम की चिन्ता करें।

''(इन्द्रः) सम्राट् (यज्वने) राज्य-संघटन के लिये अपना भाग दान करने वाले, और इस प्रकार (पृणते) राज्य की आवश्यकताओं की तृप्ति करने वाले के लिये (शिक्षति) अपनी रक्षा देता है, (उपेद्दाति) और समीप पहुँच कर देता है, (स्वं) उस के धन को (न मुषायति) अपहरण नहीं करता या नहीं होने देता (अस्य) इस के (रयिं) धन को (भूयः भूयः) बार-बार (वर्धयन् इत्) बढ़ाता हुआ (देवयुम्) सम्राट रूप देव को अर्थात् राज्य के भले को चाहने वाले को इस को (अभिन्ने) अभेद्य (खिल्ये) स्थान में(निदधाति) रखता है।।२।।''

यहाँ प्रसंग गौवों का चल रहा है। इस लिये मन्त्र में प्रयुक्त धन शब्द का अर्थ गौ समझना चाहिये। जो व्यक्ति अपने गो-धन की आय में से राज्य को अपना देयांश देता रहता है, राज्य उस की गौवों की रक्षा करता है और उन पर किसी प्रकार का आक्रमण नहीं होने देता, यह मन्त्र का भावार्थ है। प्रथम मन्त्र में **'इन्द्राय दुहानाः'** इन शब्दों में जो बात संक्षेप से कही गई थी वही इस मन्त्र में आकर अधिक स्पष्ट हो गई है और सम्राट् द्वारा गो-धन की आय का कुछ अंश लेने का प्रयोजन भी स्पष्ट हो गया है। राज्य को क्योंकि गौवों की विशेष रक्षा और परवाह करनी है इस लिये प्रत्येक गृहस्थ से एक विशेष गो-कर भी राज्य ले सकेगा।

'भूयो भूयो रयिमिदस्य वर्धयन्' इस वाक्य का भाव यह है कि जिन से लोगों के गो-धन की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रह सके ऐसे उपाय सर्वसाधारण को बताते रहना राज्य का एक कर्त्तव्य होगा। गोपालन और गोसंवर्धन के विशेषज्ञ रख कर राज्य को यह कार्य कराते रहना होगा। तभी उस के लिये लोगों से गो-कर लेना संगत हो सकेगा।

''(ताः) वे गौवें (न नशन्ति) नष्ट नहीं होतीं (तस्करः) चोर, उन पर (न दभाति) प्रहार नहीं करता (अमित्रः) शत्रु का (व्यथिः) पीड़ा देने वाला शस्त्रादि (आसां) इन का (न आदधर्षति) धर्षण नहीं करता (याभिः) जिन से (देवान्) देवों का (यजते) यजन करता है—अर्थात् जिनकी आय से राज्य के संचालक देवों को राज्य-संघटन के लिये कुछ अंश दिया जाता है अथवा जिन के घृतादि से अग्निहोत्रादि यज्ञ किये जाते हैं (च) और (ददाति) अतिथि आदि को घृत-दुग्धादि

का दान करता है (ताभिः) उन के (सह) साथ (गोपतिः) गोपालक गृहस्थ (सचते) देर तक संयुक्त रहता है।।३।।"

क्यों कि सम्राट् द्वारा रक्षा प्राप्त होती है इस लिये–

१. गौवें नष्ट नहीं होने पातीं। राज्य की ओर से गौवों में रोग न होने देने के और रोग हो जाने की अवस्था में उन्हें फैलने न देने के उपाय होते रहते हैं।
२. किसी की गौ को चोर नहीं चुरा सकते।
३. शत्रु लोग उन को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं दे सकते।
४. और इस प्रकार गोपालक गृहस्थ के पास उस की गौवें सदा बनी रहती हैं।
५. पाँचवीं शिक्षा इस मन्त्र से यह मिलती है कि गोपति को, गृहस्थ को, अपनी गौवों से सदा देवों का यजन और अतिथि आदि का सत्कार करते रहना चाहिये। देवों के यजन का भाव हम ने मन्त्र के अर्थ में ही संक्षेप से समझा दिया है।

"(ताः) उन गौवों को (रेणुककाटः) धूल उड़ा कर आता हुआ (अर्वा) शत्रु का घोड़ा (न अश्नुते) प्राप्त नहीं हो सकता (ताः) वे गौवें (संस्कृतत्रम्) किसी प्रकार की हिंसा या सूनागृह की (अभि) ओर (न उपयन्ति) नहीं जातीं (तस्य) उस (यज्वनः) यज्वा (मर्तस्य) पुरुष की (ताः) वे गौवें (अभयं) अभय होकर (उरुगायं) फिरने के विस्तृत देशों में (अनुविचरिन्त) विचरण करती हैं। मन्त्र में अर्वा का अर्थ हिंसक भी हो सकता है क्योंकि 'ऋ' धातु के गति और हिंसा दोनों अर्थ होते हैं। तब अर्थ यह होगा कि धूल उड़ा कर आता हुआ कोई व्याघ्रादि हिंसक पशु उन्हें प्राप्त नहीं हो सकता।।४।।"

क्योंकि राज्य की ओर से रक्षा का पूरा प्रबन्ध रहता है इस लिये–

१. शत्रुओं के घुड़सवार आकर उन्हें भगा कर नहीं ले जा सकते।
२. अथवा व्याघ्रादि हिंसक पशु जंगलों में उन पर आक्रमण नहीं कर सकते।
३. किसी प्रकार की दूसरी हिंसा भी उन्हें प्राप्त नहीं हो सकती अर्थात् कोई पुरुष उन्हें मार नहीं सकता और वे सूनागृह (Slaughter House) आदि में वध होने के लिये भी नहीं भेजी जा सकतीं।
४. वे निर्भय हो कर चरने के लिये जंगलों में दूर-दूर तक विचरण करती हैं।

मन्त्र में आये यज्वा शब्द का भाव हम ऊपर द्वितीय मन्त्र की व्याख्या में स्पष्ट कर आये हैं।

"(इन्द्रः) सम्राट् (मे) मुझे (गावः) गौवें (अच्छान्) देवे (गावः) गौवें (भगः) धन हैं (गावः) गौवें (प्रथमस्य) उत्कृष्ट (सोमस्य) सोम का (भक्षः) भक्षण हैं (जनासः) हे मनुष्यो, (इमाः) ये (याः) जो (गावः) गौवें हैं (सः) वे (इन्द्रः) परमैश्वर्य हैं (हृदा) हृदय और (मनसा) मन से (इन्द्रं) इस परमैश्वर्य को (चित्) ही (इच्छामि) चाहता हूँ।।५।।"

"मुझे इन्द्र गौवें देवे" इस वाक्य से यह प्रतीत होता है कि गौवों के क्रय-विक्रय पर राज्य का पूरा नियन्त्रण रहना चाहिये। कोई व्यक्ति जो गाय खरीदे उसे पहले राज्य के विशिष्ट कर्मचारी देख लें कि उस में किसी प्रकार का रोग या कोई भयंकर त्रुटि तो नहीं है। जब वे उस के दूध को प्रयोग में लाने योग्य कह दें तभी वह गृहस्थ में घर में जा सकती है। क्योंकि कोई गौ राज्य की अनुमति के बिना क्रय नहीं की जा सकती इस लिये आलंकारिक ढंग में यह कहा जा सकता है कि सम्राट् हमें गौवें देता है। पाठक देखें कि वैदिक राज्य में नागरिकों के स्वास्थ्य की चिन्ता का कितना भार राज्य पर डाला गया है।

गौ का दूध-दही सोम है

गौवों को 'उत्कृष्ट सोम का भक्षण' इस लिये कहा गया है कि उन से ही दूध, दही और घी जैसे उत्कृष्ट सोम पदार्थ प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य में कई स्थानों पर दूध-दही आदि को भी सोम कहा गया है। उदाहरणार्थ **'सोमो वै दधि'** (कौ. ८.६) **'सोमः पयः'** (श. १२.७.३. १३), **'रस सोमः'** (श. ७.३.१.३) ब्राह्मण के इन वाक्यों में दूध-दही और घृतादि रसों को विस्पष्ट रूप में सोम शब्द से अभिहित किया गया है। यों प्रसिद्ध सोम ओषधि को भी गौ के दूध-घी के साथ मिला कर भक्षण किया जाता है। सोम में गौ के दूध-घी को मिला देने से और भी अधिक उत्कृष्टता आ जाती है। जो लोग वेद के सोम का अर्थ शराब करते हैं, वेद के इस वर्णन से उन के मत का खण्डन हो जाता है। यहाँ गौ के दूध-दही आदि को सोम कहा गया है। सोम वास्तव में एक ओषधि का नाम है जो स्फूर्तिदायक, शक्ति और बुद्धि की वर्धक होती है और जिस में मादकता बिल्कुल नहीं होती। गौ के दूध-दही में ये गुण होने के कारण उन्हें भी सोम कह दिया गया है।

'गौवें इन्द्र हैं' इस वाक्य में हम ने 'इन्द्र' का अर्थ परमैश्वर्य किया है। पहले वाक्य में इन्द्र (सम्राट्) से गौवें देने की प्रार्थना है। इस वाक्य में गौवों को ही इन्द्र बना दिया है। इस लिये इस वाक्य में इन्द्र का अर्थ सम्राट् से भिन्न कोई दूसरा होना चाहिये। गौवें तो स्वयं

सम्राट् हो नहीं सकतीं। यदि इन्द्र देवता का अर्थ परमात्मा करें तो गौवें परमात्मा भी नहीं हो सकतीं। और इसी प्रकार इन्द्र का प्रसिद्ध पौराणिक अर्थ होने पर वे वैसा इन्द्र भी नहीं हो सकतीं। इस लिये हमें यहाँ अगत्या इन्द्र के धात्वर्थ की सहायता से उस का परमैश्वर्य ऐसा अर्थ करना पड़ता है। इन्द्र को ब्राह्मण में एक स्थान पर **'रुक्म एवेन्द्रः'** (श. १०.४.१.६) ऐसा कह कर सुवर्ण के अर्थ में ग्रहण भी किया गया है। सुवर्ण क्योंकि परमैश्वर्य की वस्तु है इसी लिये उसे इन्द्र कहा है। वेद की दृष्टि में गौवें भी एक प्रकार का धन हैं और उत्कृष्ट कोटि का धन हैं इस लिये गौणी वृत्ति से उन्हें इस मन्त्र में इन्द्र कह दिया गया है जिस से मन्त्र में काव्य का एक विशेष चमत्कार आ गया है। जो स्वयं इन्द्र (परमैश्वर्य) हैं उन्हें इन्द्र (परमैश्वर्यवान् सम्राट्) से माँगा जा रहा है।

इस मन्त्र में गौवों को 'भग' और 'इन्द्र' कहा है। इन दोनों शब्दों का जो वास्तविक और बुद्धि-संगत अभिप्राय है वह ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है। 'भग' और 'इन्द्र' वेद के तथा पुराणों के प्रसिद्ध देवताओं में से हैं। यहाँ गौवों के लिये भी ये नाम प्रयुक्त हो गये हैं। इसी से, वेद का वास्तविक आशय न समझने के कारण, प्रतीत होता है गौ में देवत्व की वह कल्पना कर ली गई है जो प्रचलित हिन्दू-धर्म में पाई जाती है।

"(गावः) हे गौवो, (यूयं) तुम (कृशं चित्) पतले-दुबले पुरुष को भी (मेदयथ) स्निग्धता प्रदान कर के मोटा कर देती हो (अश्रीरं चित्) सुन्दरता-रहित को भी (सुप्रतीकम्) सुन्दर अंगों वाला (कृणुथ) कर देती हो (भद्रवाचः) हे भद्रवाणी वाली गौवो, (गृह) हमारे घर को (भद्र) कल्याण युक्त (कृणुथ) कर दो (सभासु) सभाओं में (वः) तुम्हारे (बृहत्) बहुत (वयः) अन्न का (उच्यते) बखान किया जाता है।।६।।"

इस मन्त्र से निम्न बातों पर प्रकाश पड़ता है–

१. गौ के दुग्ध और घृत के सेवन से पतले-दुबले शरीर मोटे-ताजे बन जाते हैं।
२. जो सुन्दर नहीं हैं उन के शरीर में गौ के दुग्ध का सेवन करने से स्वास्थ्य-जनित सुन्दरता आ जाती है।
३. जिस घर में गौवें रहती हैं और उन के दुग्ध का सेवन होता है वह घर कल्याण और मंगल से भर जाता है।
४. गौओं में बड़ा अन्न है। इन के दुग्ध, दही, मक्खन आदि में बड़ी उत्कृष्ट श्रेणी की अन्नशक्ति है। इन की इस अन्न-शक्ति का सभाओं में बखान हो सकता है। उन में विद्वानों के व्याख्यान हो सकते हैं, जिन में घण्टों तक गौ के दुग्धादि के

गुणों का वर्णन किया जा सकता है। इन के दुग्धादि के गुणों पर पुस्तकें लिखी जा सकती हैं।

"(सूयवसं) उत्तम घास को (रिशन्तीः) खाती हुई (सुप्रमाणे) उत्तम पानी पीने के स्थानों में (शुद्धाः) निर्मल (अपः) जल (पिबन्तीः) पीती हुई हे गौवो, तुम (प्रजावतीः) पुत्र पौत्रों से युक्त होकर रहो (स्तेनः) चोर और (अघशंसः) पाप करने वाला पुरुष (वः) तुम पर (मा) मत (ईशत) प्रभुता कर सके (रुद्रस्य) परमात्मा का (हेतिः) प्रहरण (वः) तुम्हें (परिवृज्याः) छोड़े रखे अर्थात् तुम शीघ्र न मरो प्रत्युत दीर्घ आयु वाली होओ।।७।।"

इस मन्त्र से निम्न बातें ज्ञात होती हैं–

१. गोवों को जो घास आदि खाने को दिया जाये वह बहुत उत्तम हो। सड़ा, गला, मैला पुराना और बोदा घास उन्हें खाने को न दिया जाये।
२. उन के पीने का पानी भी अति निर्मल होना चाहिये। गदला और किसी तरह के मैलेपन और अपवित्रता से युक्त पानी उन्हें पीने को न दिया जाये।
३. ऐसा करने से उन की सन्तानें उत्तम होंगी। दुर्बल और क्षीण बछड़े-बछड़ी उत्पन्न नहीं होंगे।
४. ऐसा करने से वे देर तक जी सकेंगी। परमात्मा का मृत्यु-रूप शस्त्र उन पर जल्दी नहीं गिरेगा।
५. हमें अपनी गौओं की चोर-डाकुओं से रक्षा करनी चाहिये। ऐसा उत्तम प्रबन्ध रखना चाहिये कि हमारे इस उत्कृष्ट धन को वे पापी लोग हम से अलग न कर सकें। इस का एक उपाय ऊपर द्वितीय और तृतीय मन्त्र में बताया गया है अर्थात् सम्राट् को इस का प्रबन्ध करना चाहिये। प्रजा जनों को इसके लिये राज्य को गो-कर देना चाहिये।

"(आसु) इन (गोषु-उप) गौओं में (इद) यह जो (उपपर्चनम्) बैल के समीप जा कर मिलने का गुण या इच्छा है (ऋषभस्य) और बैल के (रेतसि) वीर्य में (उप) जो गौओं के पास जाकर मिलने का गुण है वह (इन्द्र) हे सम्राट्, (तव) तेरे (वीर्ये) पराक्रम में अर्थात् तेरे पराक्रम की अधीनता में (उप-उपपृच्यताम्) मिले।।८।।"

इस मन्त्र में यह स्पष्ट है कि सन्तानेच्छा के समय गौ और बैल अपनी इच्छा से न मिल सकें। ऐसा नहीं होना चाहिये कि किसी भी गौ को किसी भी बैल से मिला कर सन्तान

उत्पन्न कराई जा सके। प्रत्युत यह क्रिया सम्राट के पराक्रम के अधीन होनी चाहिये। राज्य की शक्ति का इस पर पूरा नियन्त्रण रहना चाहिये। वे ही साँड सन्तान उत्पन्न कर सकें जिन्हें राज्य के इस विभाग के विशेषज्ञ स्वीकृत कर चुके हों। और ऐसे साँडों से मिलाने से पहले प्रत्येक गोपति गृहस्थ को अपनी प्रत्येक गौ की राज्य के इन विशेषज्ञों से परीक्षा करानी होगी। जो गौ इन द्वारा सन्तान उत्पन्न कराने के योग्य समझी जायेगी वही उन परीक्षित साँडों से मिलने दी जायेगी। गौओं पर राष्ट्र के स्वास्थ्य और बल-वीर्य की निर्भरता है, इस लिये बीमार और दुर्बल गाय और साँड मिल कर दुर्बल बच्चे और शक्ति-हीन दुग्ध पैदा न कर सकें इस का राज्य को पूरा नियन्त्रण करना होगा। इस मन्त्र के ही भाव को वेद के अन्य स्थलों में दूसरे शब्दों में भी स्पष्ट किया गया है। उदाहरण के लिये अथर्व.१३.१.१६ में राजा से प्रार्थना की गई है, **'वाचस्पते....गोष्ठे नो गा जनय'**—"हे वाचस्पति राजन् ! हमारे गोष्ठ में गौवें उत्पन्न कराइये।" राजा द्वारा हमारे गोष्ठ में गौवें उत्पन्न कराने का यही भाव है कि हमारी गौओं की सन्तानोत्पत्ति पर राज्य का नियन्त्रण रहना चाहिये। उस के इस विषय के विशेषज्ञ कर्मचारियों की अनुमति प्राप्त किये बिना किसी गृहपति की गौवें सन्तान उत्पन्न न कर सकें। अथर्व. १३. १ के प्रारम्भिक मन्त्रों में राजा के राज्यासीन होने का वर्णन है। राज्यासीन हो रहे राजा को ही इस मन्त्र में वाचस्पति शब्द से कहा है, क्योंकि वह राष्ट्र की वाणी और तदुपलक्षित ज्ञान का रक्षक होता है अथवा स्वयं उत्कृष्ट व्याख्याता होता है।

अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड का २१ वाँ सूक्त भी हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ वही है जो ऋग्. ६.२८ है। अथर्ववेद के सूक्त में ऋग्वेद के सूक्त का केवल ८वाँ मन्त्र नहीं है। पाठक देखें वेद के इन मन्त्रों में गृहस्थ के लिये गोपालन का कितना महत्त्व और उस की कितनी उपयोगिता बताई गई है और इसी लिये उस पर राज्य का कितना नियन्त्रण रखा गया है। इसी प्रसंग में ऋग् १०.१६९ सूक्त भी देखने योग्य है—

मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृड।।१।।
याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामानि वेद।
या अङ्गिरसस्तपसेह चक्रु स्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्म यच्छ।।२।।
या देवेषु तन्वमैरयन्त यासां सोमो विश्वा रूपाणि वेद।
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः प्रजावतीरिन्द्र गोष्ठे रिरीहि।।३।।

प्रजापतिमह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासाँ वयं प्रजया संसेदम।।४।।

मन्त्रों का अर्थ क्रमशः प्रकार है—

"(मयोभूः) सुख देने वाला (वातः) वायु (उस्राः) गौओं की (अभिवातु) ओर चले, ये गौवें (ऊर्जस्वतीः) बल वाली या रसीली (ओषधीः) ओषधियों को (आरिशन्ताम्) खायें (पीवस्वतीः) मोटा करने वाले और (जीवधन्याः) जीवन देने वाले जलों का (पिबन्तु) पान करें (रुद्र) हे रुद्र, (पद्वते) पैरों वाले (अवसाय) हमारे अन्न, अर्थात् गौवों के लिये (मृड) सुख कीजिये।।१।।"

इस मन्त्र से निम्न निर्देश मिलते हैं—

१. गौवों के रहने के स्थान ऐसे होने चाहियें जहाँ उन्हें सुख देने वाला स्वच्छ निर्मल वायु निरन्तर मिलता रहे। इस से यह भी ध्वनित होता है कि ऐसा वायु प्रभूत मात्रा में मिल सके इस के लिये उन्हें दिन में जंगलों और खेतों में चरने के लिये भी भेजना चाहिये।

२. उन्हें जो ओषधि अर्थात् घास खाने को दी जावें वे बल-वर्धक औा स्वादु रस से भरी होनी चाहियें। ओषधि शब्द की यह भी ध्वनि है कि गौवों के बल और स्वास्थ्य की वृद्धि के लिये उन्हें उपयुक्त रासायनिक ओषधियें भी खिलाते रहना चाहिये।

३. गोवों के पीने का पानी गन्दा, मैला, सड़ा, पुराना न हो प्रत्युत जीवन देने वाला और उन्हें मोटा-बलिष्ठ करने वाला स्वच्छ, ताजा और पवित्र होना चाहिये।

४. 'रुद्र' वेद में कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। रोग निवारक वैद्य के अर्थ में भी इस का प्रयोग हुआ है और सेनापति के अर्थ में भी। परमात्मा के वाचक तो सभी देवतावाची पद प्रायः हैं ही। वैद्य अर्थ में रुद्र द्वारा गौवों के सुखी किए जाने का भाव यह होगा कि ऐसे वैद्यों का प्रबन्ध भी रहना चाहिये जो गौवों के रोगों को दूर कर के उन्हें सुखी करते रहें। सेनापति अर्थ में भाव यह होगा कि राज्य की सेनाओं का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिये कि जब हम चाहें तभी हमें उन की रक्षा प्राप्त हो सके। जिस से कोई दुष्ट हमारी गौवों को और इसी लिये हम को दुःखी न कर सके। परमात्मा तो सभी रोगों और सभी दुःखों के नाशक हैं इस लिये उस अर्थ में तो प्रार्थना का भाव स्पष्ट ही है। सायण ने यहाँ रुद्र का अर्थ ज्वरादि-नाशक देव ही किया है। रुद्र के प्राण, अग्नि आदि भी अर्थ होते हैं। उन की संगति भी यहाँ लग सकती है। पर विस्तार भय से हम इतनी दूर तक नहीं जाते।

"(याः) जो (सरूपाः) समान रूप वाली हैं (विरूपाः) विभिन्न रूप वाली हैं (एकरूपाः) सर्वथा एक समान रूप वाली हैं (इष्ट्या) यज्ञ के द्वारा (अग्निः) सम्राट् (यासां) जिन के (नामानि) नामों अर्थात् भेदों को (वेद) जानता है (याः) जिन्हें (अंगिरसः) अंगिरा लोग (तपसा) तप द्वारा (इह) यहाँ (चक्रुः) बनाते हैं (ताभ्यः) उन के लिये (पर्जन्य) हे मेघ ! (महि) बहुत बड़ा (शर्म) सुख (यच्छ) दीजिये।।२।।"

१. **'सरूपाः, विरूपाः और एकरूपाः'** शब्दों की यह ध्वनि है कि हमारे पास अनेक रूपों अर्थात् अनेक प्रकार अथवा श्रेणियों की गौवें रहनी चाहिये। किन्हीं के दूध में मक्खन अधिक हो, किन्हीं के दूध में मलाई अथवा दूध में पाई जाने वाली कोई और चीज अधिक हो, किन्हीं के बछड़े खेती के लिये बढ़िया बैल बन सकते हों।

२. "अग्नि अर्थात् सम्राट् इन नामों अर्थात् भेदों को जानता है", इस वाक्य की व्यंजना यह है कि राज्य के पास ऐसे विशेषज्ञ विद्वान् कर्मचारी रहने चाहिये जो आवश्यकतानुसार गौवों के इन रूपों को बढ़ाते रह सकें।

३. "अग्नि यज्ञ के द्वारा इन के भेदों को जानता है", यह वाक्य भी सुस्पष्ट है। ज्ञान की सारी बातें यज्ञ द्वारा जानी जाती हैं। यज्ञ अर्थात् सुव्यवस्थित संगतीकरण अर्थात् संघटन के बिना किसी विद्या की उन्नति नहीं हो सकती। आवश्यकतानुसार गौवों की नस्लों (प्रकारों) को बनाने और बढ़ाने के लिये राज्य यज्ञ करता है अर्थात् उपयुक्त विद्वानों के संघटन (Oraganisations) बनाता है।

४. 'अंगिरसः' का अर्थ सायण ने यहाँ 'ऋषयः' अर्थात् ऋषि लोग ऐसा किया है। ऋषि उच्च कोटि के तत्त्वदर्शी विद्वानों को कहते हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'अंगिरसः', का और-और अर्थो के साथ एक अर्थ **'प्राणादिविद्याविदः', 'सर्वविद्यासिद्धान्तविदः', 'प्राप्तविद्यासिद्धान्तरसानाम्'**, ऐसा भी किया है। उन के अनुसार विद्या-रस में निमग्न रहने वाले विद्वानों को अंगिरसः कहते हैं। अब, "अंगिरा लोग तप के द्वारा गौवों को बनाते हैं", इस का भाव यह हुआ कि विद्या-तत्त्वों के पारदर्शी विद्वान् लोग तप कर के अर्थात् अनेक कष्ट उठा कर गौवों के प्रकारों का निर्माण, उन का संवर्धन, पालन और संरक्षण करते हैं। गौ का दूध, मक्खन आदि स्वास्थ्य के लिये इतना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि कष्ट उठा कर भी उस की प्रभूत मात्रा में प्राप्ति के उपाय करने चाहिये, यहाँ प्रयुक्त इस 'तपसा' पद की

यह ध्वनि भी है। और ज्ञानी लोग गोपालन के भारी महत्त्व को सदा समझते हैं यह ध्वनि 'अंगिरसः' पद की है।

५. "पर्जन्य गौवों के लिये बहुत बड़ा सुख देवे", इस वाक्य का व्यंग्यार्थ यह है कि जहाँ तक हो सके बादल की वर्षा से उत्पन्न हुए जंगल के घास गौवों को अधिक खिलाने चाहिये। इस के लिये उन्हें जंगल में चरने भेजना चाहिये। दिन-रात उन्हें घर में ही नहीं बाँध रखना चाहिये। पानी भी जहाँ तक हो सके शुद्ध वर्षा-जल का ही देना चाहिये।

"(याः) जो (देवेषु) राष्ट्र के भाँति-भाँति के व्यवहारशील लोगों में (तन्वं) अपने शरीर से उत्पन्न दूध को (ऐरयन्त) भेजती हैं, (यासां) जिन के (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों अर्थात् भेदों को (सोमः) सोम (वेद) जानता है (अस्मभ्यं) हमारे लिये (पयसा) अपने दूध से (पिन्वमानाः) सिंचन करती हुई और (प्रजावतीः) सन्तानों से युक्त (ताः) उन गौवों को (इन्द्र) हे सम्राट्, (गोष्ठे) हमारे गौ बांधने के स्थान में (रिरीहि) प्राप्त करा।।३।।"

मन्त्र-गत वर्णन से अधोलिखित बातों का निष्कर्ष निकलता है–

१. भाँति-भाँति के व्यवहार करने वाले राष्ट्र के सभी लोगों को गौ का दूध पीना चाहिये। "गौवें अपने शरीर से उत्पन्न दूध को देवों में भेजती हैं", इस वाक्य की यही ध्वनि है।

गौवों की हत्या नहीं की जा सकती

यहाँ गौवों के शरीर से उत्पन्न होने के कारण उन के दूध को ही उपचार से उन का शरीर (तन्वं) कह दिया है। **"अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः"** इन शब्दों के साहचर्य में 'तन्वं' का यही अभिप्राय लेना होगा। गौ को मार कर उस का मांस खाने या उस के मांस द्वारा यज्ञ करने की कल्पना इस मन्त्र से नहीं लेनी चाहिये। क्योंकि गौ को वेद में अनेक स्थानों पर 'अघ्न्या' अर्थात् न मारने-योग्य कहा है। वेद में गौ के अतिप्रसिद्ध नामों में से एक यह 'अघ्न्या' नाम है और उस का वेद में पचासों स्थानों पर प्रयोग हुआ है। वेद में गौ का यह नाम रहते हुए वेद के किसी वाक्य से गो-वध-विषयक अर्थ नहीं निकाला जा सकता है। वेद में निरपराध प्राणियों की हिंसा को बड़ा बुरा और भयंकर कर्म बताया गया है। अथर्व. १०.१.२६ में कहा है–**"अनागो हत्या वै भीमा।"** अर्थात् "निष्पाप और निरपराध प्राणियों की हत्या निश्चय ही

बहुत भयानक कर्म है।" निरपराध और निष्पाप प्राणियों की हत्या को भयानक और क्रूर कर्म बता कर वेद सभी प्राणियों की हिंसा को निन्दनीय और निषिद्ध ठहरा देते हैं। उन प्राणियों में गौ भी आ ही जाती है। भला गौ से बढ़ कर निरपराध और निष्पाप प्राणी दूसरा कौन सा होगा ? वेद में स्थान-स्थान पर दोपाये और चौपाये पशु-पक्षी आदि प्राणियों के मारने का निषेध किया गया है। यजुः. १३.४४. में कहा है–**"मा हिंसीर्द्विपादं चतुष्पादम्।"** अर्थात्, "दोपाये और चौपाये प्राणियों की हिंसा मत करो।" चौपाये प्राणियों में गौ भी आ जाती है। अतः गौ की हत्या वेद-विरुद्ध है। इस के अतिरिक्त वेद में अनेक स्थानों पर गौ को किसी अवस्था में भी नहीं मारा जाना चाहिये। इस बात का स्पष्ट उल्लेख भी मिलता है। यजुः. १३.४३. में आदेश है–**"गां मा हिंसीः"** अर्थात्, "गौ की हिंसा मत करो।" ऊपर ऋग्. ६.२८.४ मन्त्र की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि–**"न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि"** अर्थात्, "गौवों को कभी हिंसा के लिये सूनागृह में नहीं जाने दिया जाता।" ऋग्. ८.१०१.१५ मन्त्र में स्पष्ट विधि-वाक्य है कि गौ को कभी मत मारो। पूरा मन्त्र इस प्रकार है–**"माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।"** अर्थात्, "गौ राष्ट्र के रुद्र, वसु और आदित्य ब्रह्मचारी रह कर विद्या प्राप्त करने वाले प्रजा-जनों की माता, पुत्री और बहिन है। भाव यह है कि प्रजाजनों को गौ के साथ माता, बहिन और पुत्री की भाँति गहरा प्रेमभाव रखना चाहिये। गौ अमृत की नाभि अर्थात् केन्द्र है क्योंकि उस से अमृत जैसे गुणों वाला दूध प्राप्त होता है। मैं परमात्मा, ज्ञानवान् पुरुषों को आज्ञा देता हूँ कि वे निष्पाप और कभी भी न काटी जाने योग्य (अदितिं) गौ को न मारें।" मन्त्र का भाव अति स्पष्ट है। गौ अमृत पिलाती है। उस के साथ माता, बहिन और पुत्री की तरह प्यार किया जाना चाहिये। वह निष्पाप है। वह कभी काटी जाने के योग्य नहीं है उसे कभी नहीं मारना चाहिये। इन और ऐसे ही अन्य मन्त्रों के रहते वेद के किसी वाक्य से गौ को मारने का अर्थ नहीं निकाला जा सकता। इसी प्रसङ्ग में ऋग्. १०.८७.१६ मन्त्र भी देखने योग्य है। मन्त्र इस प्रकार है–**"यहः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः। यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च।"** अर्थात, "जो व्यक्ति पुरुष के मांस से अपने को पुष्ट करता है, जो राक्षस-व्यक्ति घोड़े के मांस से अथवा अन्य किसी पशु के मांस से अपने को पुष्ट करता है, जो कभी न मारने योग्य (अघन्या) गौ को मार कर उस के दूध को हर लेता है ऐसे इन राक्षस पुरुषों के सिरों को भी हे राजन् (अग्ने), अपने शस्त्र से काट डाल।" इस

मन्त्र में सभी पुशओं के मांस को खाने का निषेध किया गया है। मांस खाने वाले व्यक्ति को यातुधान अर्थात् राक्षस कहा गया है। मन्त्र के अनुसार मनुष्य को मार कर खाना जैसा भारी अपराध है, किसी पशु को मार कर खाना भी वैसा ही अपराध है, और गौ को मार कर खाना भी वैसा ही भारी अपराध है। ऐसा अपराध करने वाले का सिर भी काटा जा सकता है। मन्त्र के "अपि"—भी—पद की यह ध्वनि है कि यदि ऐसा अपराधी पुरुष समझाने-बुझाने या किसी अन्य दण्ड से ठीक न हो तो उसे सिर काटने अर्थात् मृत्यु का दण्ड भी दिया जा सकता है। गौ को मारने वाले को दण्ड देने का विधान वेद में और भी अनेक स्थानों पर मिलता है। उदाहरण के लिये ऋग्. ७.५६.१७ में कहा है—**"आरे गोहा नृहा।"** "अर्थात्, "गौ को मारने वाला और मनुष्य को मारने वाला व्यक्ति समाज से दूर रहे।" ऐसे व्यक्ति को समाज में नहीं रहने देना चाहिये। उसे जेलखाने आदि में डाल कर समाज से दूर रखना चाहिये। यजुः. ३०.१८. में कहा है—**"अन्तकाय गोघातम्।"** अर्थात्, "गौ की हत्या करने वाले को मृत्यु को सौंप देना चाहिये।" इस प्रकार जब वेद में गो-हत्या को दण्डनीय अपराध माना गया है तो वेद के किसी वाक्य से गौ को मार कर खाने की आज्ञा नहीं निकाली जा सकती।

वेद में एक दूसरे स्थान पर भोजन के सम्बन्ध में कहा है—**"पुष्टिं पशूनां परिजग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्। पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्।"** (अथर्व. १९.३१.५) अर्थात्, "चौपाये और दोपाये पशुओं तथा जो कोई अनाज (धान्य) है उस से मैं पुष्टि प्राप्त करता हूँ। पशुओं का दूध (पयः) पीता हूँ और अनाजों को (ओषधीनाम्) चबा कर उन का रस लेता हूँ। सब को उत्पन्न करने वाले (सविता) और सब के पालक और रक्षक (बृहस्पति) परमात्मा ने मेरे लिये यही नियम बनाया है (नियच्छात्)।" इस भोजन का नियम बाँधने के प्रकरण में यदि पुष्टि प्राप्त करने के लिये पशुओं का मांस खाना भी वेद को अभीष्ट होता तो **"पशूनां पयः"**—पशुओं का दूध—इतना न कह कर **"पशूनां पयः मांसं च"**—पशुओं का दूध और मांस—ऐसा कह दिया जाता तथा पशुओं का दूध पीने और मांस खाने दोनों का ही विधान कर दिया जाता। पर यहाँ तो केवल पशुओं के दूध के पीने का ही विधान किया गया है। इस से स्पष्ट है कि वेद की सम्मति में किसी भी पशु का मांस नहीं खाना चाहिये। और इसी लिये किसी भी पशु को मारा नहीं जाना चाहिये। फलतः गौ का भी दूध ही पीना उचित है। उस का मांस नहीं खाना चाहिये। और इसी लिये गौ को भी मारा नहीं जाना चाहिये। इसी भाँति अथर्व. ४.२७ सूक्त में भी प्रसंग से भोजन के सम्बन्ध में निर्देश आया है। इस

सूक्त में मरुतों का वर्णन है। यहां मरुतों का वर्णन सैनिकों के रूप में है। प्रंसग से इन सैनिकों के भोजन का वर्णन किया गया है। उन के भोजन के सम्बन्ध में कहा है—**"पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ।"** (अथर्व. ४.२७.३.) अर्थात्, "जो ज्ञानी (कवि) मरुत् (सैनिक) **गौओं के दूध और भाँति-भाँति के** अन्न तथा ओषधियों के रस का सेवन करते हैं और इस **प्रकार अपने भीतर घोड़ों जैसी तेज दौड़ने की** शक्ति उत्पन्न करते हैं।" पाठक देखेंगे कि यहाँ **सैनिकों—क्षत्रियों—के** अन्दर शक्ति का संचार करने के लिये वेद ने गौ के दूध का और अनाज **तथा ओषधियों का ही** भोजन के रूप में विधान किया है। गौ के या अन्य किसी पशु के **मांस का नहीं। वेद के इस प्रकार के मन्त्रों** की उपस्थिति में वेद के किसी वाक्य या शब्द **से गौ को मारने का अर्थ नहीं** निकाला जा सकता। यदि कहीं ऊपर-ऊपर से ऐसा अर्थ प्रतीत होता हो तो उस वाक्य या शब्द का दूसरा अर्थ खोजना चाहिये जो वेद के इन स्पष्ट गोवध-निषेधपरक मन्त्रों से विरोध न खाता हो। इसी लिये हम ने ऊपर 'तन्वं' का अर्थ गौ के शरीर से उत्पन्न होने वाला गौ का दूध किया है। प्रकरण और वेद के आशय के अनुकूल इस पद का यही अर्थ हो सकता है। या इस का अर्थ गौ का चमड़ा कर के यह भाव भी लिया जा सकता है कि जो अपने चमड़े से जूते आदि देती है। यास्काचार्य ने निरुक्त में गौ का अर्थ गौ का चमड़ा भी किया है[1]।

२. 'पिन्वमानाः' (पिवि सेचने) क्रिया का भाव यह है कि हमें गौ का दूध खूब पीना चाहिये। दूध द्वारा हमें अपने आप को सींचना चाहिये। पाव-आध-पाव दूध पीकर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये।

३. न्यायाधीश के रूप में राजा का जो स्वरूप प्रकट होता है उसे सोम कहते हैं। सोम गौओं के सब भेदों को जानता है। इस वाक्य का भाव यह है कि राज्य के न्याय विभाग से सम्बन्ध रखने वाले कर्मचारियों को गौओं के सम्बन्ध में सब आवश्क जानकारी रहनी चाहिये। जिस से वे गौवों सम्बन्धी अभियोगों को आसानी से सुलझा सकें।

४. "इन्द्र गौवों को हमारे गोष्ठ में प्राप्त करा", इस प्रार्थना से यह ध्वनित होता है कि सम्राट का यह कर्तव्य है कि वह ऐसे उपाय करे जिन से राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को घर में गौ रखना संभव हो सके। बहुवचन की यह ध्वनि है कि एक ही नहीं,

---

१. निरुक्त २. ५।

प्रत्येक घर में अनेक गौवें रह सकें ऐसा राज्य को प्रबन्ध करना चाहिये।

५. 'प्रजावतीः' शब्द की यह ध्वनि है कि राज्य को यह भी प्रबन्ध करना चाहिये कि प्रत्येक घर की गौवें उत्कृष्ट सन्तानें उत्पन्न कर सकें।

"(विश्वैः) सब (देवैः) विविध व्यवहारशील राज्य के कर्मचारियों और (पितृभिः) सभा और समिति नामक नियामक राज्यसभाओं के सदस्यों के साथ (संविदानः) एक मति को प्राप्त होता हुआ (प्रजापतिः) प्रजा-पालक राजा (मह्यं) मुझे (एताः) इन गौवों को (रराणः) देता हुआ (शिवाः सतीः) इन्हें कल्याणकारी बना कर (नः) हमारे (गोष्ठ) गोष्ठ में (उप आ अकः) भेजे (वयं) हम (तासां) उन गौवों की (प्रजया) सन्तान से (संसदेम) युक्त हो कर रहें।।४।।"

मन्त्र से निम्न बातों पर प्रकाश पड़ता है--

१. राजा का कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक घर में गौवें रह सकें इस बात का प्रबन्ध करे। वे गौवें सामान्य न हों। शिवा अर्थात् पूर्णरूप से मंगलकारिणी हों। गौवों से मिल सकने योग्य मंगल उन से भली-भांति मिल सकते हों।

२. प्रत्येक गृहस्थ की गौवों से उत्कृष्ट सन्तान उत्पन्न हो सकने का प्रबन्ध भी राज्य को करना चाहिये।

३. राष्ट्र में गो-पालन और गो-संवर्धन के कार्य के सम्बन्ध में आवश्यक बातें करवाने के लिये आवश्यक हो तो राज्य-कर्मचारियों और राज्य की नियामक सभाओं का सहयोग भी प्राप्त कर लेना चाहिये। अर्थात् इस सम्बन्ध में नियामक सभाओं (Legislatures) से नियम पास करवा के राज्य-कर्मचारियों द्वारा उन का पालन करवाना चाहिये। **"देवैः पितृभिः संविदानः प्रजापतिः"**, इस वाक्य का यही भाव है। अथर्व. ७.१२.१. में सभा और समिति के सदस्यों को 'पितरः' कहा गया है। उसी से हम ने यहाँ 'पितृभिः' का अर्थ सभा और समिति के सदस्य किया है। और इस पद के साहचर्य से 'देवैः' का अर्थ हम ने राज्य कर्मचारी किया है। देव शब्द संस्कृत साहित्य में राजा के लिये प्रचुर रूप में प्रयुक्त होता ही है। इस लिये बहुवचनान्त 'देवैः' प्रयोग में यह शब्द राज्य-कर्मचारियों को कहेगा जब कि ये देव, प्रजापति अर्थात् राजा से सम्बन्ध रखने वाले हों।

राष्ट्र के लिये गोपालन का महत्त्व, उस के उपाय और उस के सम्बन्ध में राजा के कर्त्तव्यों पर वेद जो प्रकाश डालता है वह इन मन्त्रों में कितना स्पष्ट है।

३

गोपालन-विषयक कुछ अन्य निर्देश

इस प्रसंग में अथर्व. ३.१४. सूक्त पर भी एक दृष्टि डाल लेनी चाहिये। यह सूक्त भी गोपालन-विषयक ही है। इस में भी गोपालन के सम्बन्ध में अनेक निर्देश उपलब्ध होते हैं। सूक्त ६ मन्त्रों का है। स्थानाभाव से हम प्रत्येक मन्त्र का प्रतिपाद अर्थ नहीं देते। वहां से गोपालन के सम्बन्ध में कुछ स्थूल निर्देश करने वाले दो चार वाक्यों को ही हम यहां उद्धृत कर रहे हैं–

सं वो गोष्ठेन सुषदा। अथर्व. ३.१४.१।

शिवो वो गोष्ठो भवतु। अथर्व. ३.१४.५।

अयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः। अथर्व. ३.१४.६।

इन वाक्यों में यह कहा गया है कि गौवों के रहने का स्थान (गोष्ठ) ऐसा होना चाहिये जिस में गौवें सुख-पूर्वक बैठ सकें और रह सकें। वह उन के लिये सब भांति शिव अर्थात् कल्याणकारी होना चाहिये। और उस में उन्हें सब प्रकार की पुष्टि प्राप्त हो सके अर्थात् उस में पुष्टिदायक खान-पान आदि का गौवों के लिये पूरा प्रबन्ध रहना चाहिये।

अबिभ्युषीः अथर्व. ३.१४.३।

इस शब्द द्वारा यह निर्देश किया गया है कि ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि हमारी गौवों को कहीं किसी तरह का भी डर न प्राप्त हो सके।

रायस्पोषेण बहुला भवन्ती। अथर्व. ३.१४.६।

इस वाक्य में कहा गया है कि अपने धन द्वारा खूब खिला-पिला कर हमें अपनी गौवों को पुष्ट करना चाहिये जिस से उन की संख्या हमारे घर खूब बढ़ सके।

मया गावो गोपतिना सचध्वम्। अथर्व. ३.१४.६।

अर्थात् "हे गौवो, मुझ गोपति के साथ मिल कर रहो," इस वाक्य की ध्वनि यह है कि प्रत्येक गृहस्थ को अपने घर में गौवें रख कर गोपति बनना चाहिये।

अनमीवाः। अथर्व. ३.१४.३।

इस शब्द द्वारा कहा गया है कि हमें अपनी गौवों को सदा नीरोग रखना चाहिये। रोगी गौवों का दूध नहीं पीना चाहिये, यह इस शब्द से स्वयं ही निकल आता है।

बिभ्रतीः सोम्यं मधु। ३.अथर्व. १४.३।

अर्थात् "गौवें सोममय अर्थात् सोम[1] के गुणों से युक्त मधुर दूध अपने अन्दर रखती हैं" इस वाक्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वेद में गोपालन का इतना अधिक महत्त्व क्यों है।

सं वः सृजतु...समिन्द्रो यो धनंजयः। अथर्व. ३.१४.२।

अर्थात् "धन-प्रदाता सम्राट् (इन्द्र) तुम्हें मेरे साथ जोड़े या मेरे यहां उत्पन्न करे (संसृजतु)।" इस वाक्य द्वारा इस सूक्त में भी राज्य का कर्त्तव्य बता दिया गया है कि वह ऐसा प्रबन्ध करे जिस से सोममय दूध का पान कराने वाला गोधन राष्ट्र के प्रत्येक गृहपति के घर में रह सके।

४

गौवों को कैसे साँड से मिलाया जाये ?

गौवों की उत्तम नस्ल प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि उन का उत्तम वृषभों को साथ संयोग करा कर सन्तानें उत्पन्न कराई जायें। वेद में इस के महत्त्व को बहुत अधिक समझा गया है। अथर्ववेद के नवम काण्ड का चतुर्थ सूक्त बड़े-बड़े २४ मन्त्रों का है। इस सूक्त में सन्तानोत्पादन के लिये नियुक्त किये जाने वाले वृषभ की महिमा गाई गई है और आलंकारिक ढंग में यह उपदेश किया गया है कि यदि किसी के घर में कभी बहुत उत्तम कोटि का बछड़ा उत्पन्न हो जाये तो उसे नगर की गौवों में सन्तान उत्पन्न करने के लिये दान कर देना चाहिये। उसे 'ऐन्द्र' बना देना चाहिये अर्थात् राज्य को सौंप देना चाहिये। वेद की दृष्टि में यह कार्य बड़ा पवित्र है, क्योंकि इस से राष्ट्र के लोगों का कल्याण होता है। इस लिये यज्ञ कर के, ब्राह्मणों को दान कर के उन द्वारा राष्ट्र के काम पर उस वृषभ को नियुक्त कराना चाहिये। सूक्त के २१ वें मन्त्र में सम्राट् (इन्द्र) का कर्तव्य भी बताया गया है कि वह उत्तम वृषभ-रूप चेतन धन राष्ट्र को प्रदान करे और इस प्रकार उत्तम दूध देने वाली, सदा बछड़ों से युक्त, धेनु हमें देता रहे। प्रजाजनों या राज्य (इन्द्र) की ओर से जो वृषभ सन्तानोत्पत्ति के लिये नियुक्त किया जाये वह **'साहस्रः'** (अथर्व. ६।४।१) अर्थात् सहस्रों बच्चे उत्पन्न कर सकने में समर्थ

---

१. जो लोग सोम का अर्थ शराब करते हैं उन की धारणा का वेद के इस वाक्य से खण्डन हो जाता है। यहाँ गौ के दूध को सोम के गुणों वाला कहा गया है। वास्तव में वेद का सोम एक ओषधि है जो शक्ति और स्फूर्ति देती है, बुद्धि-वर्धक होती है और जिस में मादकता बिल्कुल नहीं होती।

हो, **'त्वेषः'** (६।४।१) अर्थात् बड़ा तेजस्वी हो, **'ऋषभः'** (६।४।१) अर्थात् गतिशील, चंचल, फुर्तीला हो, **'पयस्वान्'** (६।४।१) अर्थात् बहुत दूध देने वाली नस्ल की गौ का पुत्र हो जिस से उस की सन्तानें भी दूध दे सकें, **'उस्रियः'** (६।४।१) उस्रा अर्थात् गौवों से सम्बन्ध कर सकने योग्य हो, **'पुमान्'** (६।४।३) अर्थात् पुरुषत्व युक्त हो, **'अन्तर्वान्'** (६।४।३) अर्थात् गर्भ धारण करने में समर्थ हो, **'स्थविरः'** (६।४।३) स्थिर प्रकृति का हो अर्थात् अपने गुणों को स्थिर रखता हो। ऐसा वृषभ नियुक्त करने का प्रयोजन यह है कि वह **'तन्तुमातान्'** (६।४।१) अर्थात् सन्तान-रूप तन्तु को आगे फैला सके। क्योंकि यह वृषभ **''पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानाम्''** (६।४।४)—उत्तम बछड़ों का बाप और गौवों का पति होता है, **''प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा घृतं तद्वस्य रेतः''**—(६।४।४) इस के वीर्य से ताजा दूध, पीयूष, आमिक्षा और घृत प्राप्त होते हैं, **''सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि''** (६।४।६) **''आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः''** (६।४।७)—इस के कारण 'सोम'[1] जैसे दूध के घड़े भरे जाते हैं और इसके वीर्य के कारण आज्य और घृत प्राप्त होता है'', **''त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्''** (६।४।६)—''यह रूपवान् बच्चे उत्पन्न करने वाला होता है'', और क्योंकि इस के कारण ही **''इन्द्र, वरुण, मरुत्''** आदि (६।४।८) राज्याधिकारी देवों के शरीरों में ओज भरने वाला दूध प्राप्त होता है, इस लिये यह वृषभ स्वयं भी एक दिव्य वस्तु है। वृषभ की इसी दिव्यता को ध्यान में रख कर सूक्त में उस का एक बड़ा सुन्दर आलंकारिक वर्णन किया गया है—उसे सभी देवों का रूप बना दिया गया है। स्थानाभाव से हम सूक्त के आलंकारिक वर्णन से युक्त और संख्या में प्रचुर मन्त्रों का यहां प्रतिपद अर्थ देने में असमर्थ हैं। सूक्त का सारांश ही हम ने इन पंक्तियों में दिया है।

यज्ञों में गो-हिंसा वेद-विरुद्ध है

सायणादि भाष्यकार इस सूक्त को बैल को मार कर उस के मांस से यज्ञ करने में लगाते हैं। यह उन की भूल है। मार कर जिसे यज्ञ में जला दिया गया है उस बैल से ऊपर वर्णित चीजें प्राप्त नहीं हो सकतीं। सूक्त के अन्तिम मन्त्र **''एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र**

---

१. इस मन्त्र में गौ के दूध को सोम जैसा कहा गया है। जो लोग सोम का अर्थ शराब करते हैं उन के मत का वेद के इस वाक्य से खण्डन हो जाता है। सोम वास्तव में एक ओषधि है जिस का रस स्फूर्तिदायक, शक्ति और बुद्धि का वर्धक होता है और जिस में किसी प्रकार की मादकता नहीं होती।

तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु, मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्" (६.४.२४) में गोओं को सम्बोधन कर के कहा गया है कि "इस युवा ऋषभ (वृषभ) के साथ हम तुम्हें मिलाते हैं, इस के साथ खेलती हुई इच्छानुसार विचरण करो, हमें कभी अपनी सन्तानों से हीन न करो और ऐश्वर्यों की पुष्टियों से हमें युक्त करो।" यह वर्णन यज्ञ में जला दिये गये ऋषभ पर कभी नहीं घट सकता। यह हमारे दिखाये हुए अर्थ में ही संगत हो सकता है। सूक्त में प्रयुक्त हुए "जुहोति" क्रिया के रूपों से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। "हु" धातु का अर्थ "दान" भी होता है। क्योंकि यजमान अपने उत्कृष्ट ऋषभ को राष्ट्र के काम के लिये दान कर रहा है, इस लिये वह उस का हवन ही है। अन्यत्र वेद में गौ को मार कर उस से यज्ञ करने का स्पष्ट निषेद किया गया है। उदाहरण के लिए अथर्ववेद का निम्न मन्त्र देखिये— .

"**मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरंगै : पुरुधायजन्त, य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः,**" (अथर्व. ७.५.५) अर्थात् "वे याज्ञिक लोग (देवाः) मूर्ख और अज्ञानी (मुग्धाः) हैं, जो कुत्ते से (शुना) यज्ञ करते हैं अथवा गौ के अंगों से भांति-भांति के (पुरुधा) यज्ञ करते हैं। जो इस यज्ञ को मन से जानता है वही हमें यज्ञ के रहस्य को बता सकता है, ऐसे यज्ञ के रहस्यवेत्ता ज्ञानी को ही हमें बताओ।" इस मन्त्र में पशुओं की बलि दे कर यज्ञ करने की निन्दा की गई है। ऐसे यज्ञ करने वालों को मूर्ख कहा गया है। निकृष्ट पशुओं में कुत्ता गिना दिया गया और उत्तम पशुओं में गौ गिना दी गई। बीच में सभी प्रकार के पशु आ गये। किसी भी पशु की बलि दे कर यज्ञ करने वाला याज्ञिक मूर्ख है। यज्ञ तो मन से विचार-पूर्वक काम करने का नाम है। ऐसे कामों में पशुहिंसा का कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार इस मन्त्र में पशुमात्र की बलि से यज्ञ का निषेध करते हुए गौ की बलि से यज्ञ का तो स्पष्ट ही निषेध कर दिया गया है। ऐसे यज्ञों को मूर्खों का काम बताया गया है। इस मन्त्र की उपस्थिति में वेद के किसी संदर्भ को गौ की बलि दे कर यज्ञ करने-विषयक अर्थ में नहीं लगाया जा सकता। इस लिये अथर्ववेद के इस ९.४ सूक्त को सायणादि भाष्यकारों ने जो बैल को मार कर उस के मांस से यज्ञ करने में विनियुक्त किया है **वह वेद-विरुद्ध है। फिर जैसा हम ने ऊपर दिखाया है सायणादि का यह अर्थ इसी सूक्त की अन्तःसाक्षी के भी विरुद्ध है।**

वेद में गोपालन के महत्त्व और इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्बन्ध में राज्य के कर्त्तव्य

को अनेक प्रसंगों में बताया गया है। स्थानाभाव हमें इस प्रसंग में अधिक लिखने से रोकता है।

वेद में गोपालन का जो स्थान है वह पाठकों ने देख लिया है। हिन्दू जाति में गौ के प्रति जो आदर और स्नेह की गहरी भावना पाई जाती है उस का मूल स्रोत आर्यों के धर्मग्रन्थ वेद में गोपालन के सम्बन्ध में दिये गये उपर्युक्त और इन जैसे अन्य महत्त्वपूर्ण उपदेश ही हैं। ऋषि दयानन्द वेद के परम प्रचारक थे। इसी लिये वे गोपालन का प्रचार भी देश में पूरे बल से चाहते थे। इसी कारण उन्होंने 'गोकरुणानिधि' लिखी और गो-रक्षिणी सभाओं का आन्दोलन चलाया था। वेद के ये उपदेश और ऋषि का जीवन हम आर्यों का गो-रक्षा के सम्बन्ध में जो कर्त्तव्य है उस की ओर स्पष्ट निर्देश करते हैं।

वैदिक समाज-व्यवस्था

१.
आज के समाज की भीषण आर्थिक विषमता

एक ओर तो वे लोग हैं जो आकाश को चूमने वाले राजमहलों जैसे विशाल भवनों में रहते हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जिन्हें सिर छिपाने के लिये फूस की झोंपड़ी भी नसीब नहीं होती। एक ओर तो वे लोग हैं जिन के घरों के आगे एक-एक दरवाजे पर एक-एक मोटर खड़ी रहती है, जिन के घरों के एक-एक कमरे में एक-एक टेलीफोन और एक-एक रेडियो रहता है, जिन के कमरों में काश्मीर और फारस के मखमली कालीन बिछे रहते हैं, जो स्प्रिंगदार पलंगों पर साइबेरिया के पक्षियों के रूई से भी मुलायम पंखों से भरे हुए रेशमी गदैलों और रजाइयों में सोते हैं, और दूसरी ओर वे लोग हैं जो सारी आयु-भर पैदल यात्रा करते हैं, जिन की झोंपड़ियों के फर्श पर गोबर और मट्टी का पोचा भी मुश्किल से लगता है, जिन्हें पैर फैलाने की टूटी चारपाई भी नहीं मिल पाती, जो जीवन भर जमीन पर ही सोते हैं, जिन्हें रात को सरदी से बचाव करने के लिये फटी गुदड़ी भी शायद ही मिल पाती है। एक ओर तो वे लोग हैं जिनके ट्रंकों-के-ट्रंक कीमती से कीमती कपड़ों से भरे रहते हैं, जिन के रात को सोने के समय के वस्त्र अलग, प्रातः उठ कर चाय के लिये बैठने के वस्त्र अलग, दोपहर के भोजन पर बैठने के वस्त्र अलग और रात के भोजन पर बैठने के अलग, पढ़ने-लिखने के और आये-गये से मिलने के कमरों में बैठने के वस्त्र अलग, दफ्तर में पहिन कर जाने के वस्त्र अलग, बाजार में जाने और खेलने जाने के समयों के लिये वस्त्र अलग रहते हैं, और वस्त्र पहिनने के समय जिन के एक हाथ को कुर्ते-कोट की एक बांह में डालने के लिये पृथक् नौकर उपस्थित रहता है और दूसरे हाथ को कुर्ते-कोट की दूसरी बांह में डालने के लिये दूसरा नौकर पृथक् उपस्थित रहता है, और दूसरी ओर वे लोग हैं जिन्हें ऋतुओं की कठोरता से अपने तन की रक्षा करने के लिए तथा अपनी लज्जा को ढकने के लिये फटे-पुराने कपड़े भी पूरी तरह नहीं जुड़ पाते। एक ओर तो वे लोग हैं जो चांदी और सोने के बर्तनों में भोजन करते हैं, और दूसरी ओर वे लोग हैं जिन्हें यदि मट्टी के बर्तन भी मिल जायें तो अपना बड़ा भाग्य समझते हैं। एक ओर तो वे लोग हैं जो दिन में पांच-पांच बार राजसी भोजन करते हैं और इतना खाते हैं कि उस से सदा उन्हें अजीर्ण रहता है और दूसरी ओर वे लोग हैं जो भुने चने चबाने के लिये

भी तरसते रहते हैं, जिन्होंने सारी आयु भर भी कभी पूरा पेट भर कर भोजन नहीं किया होता है और जिन्हें यह पता ही नहीं होता है कि पेट-भर कर तृप्त हो कर भोजन करने का क्या आनन्द होता है तथा जो इन धनियों की फेंकी हुई जूठी पत्तलों पर इस प्रकार झपटने के लिये तैयार रहते हैं जिस प्रकार कुत्ते-कौवे तैयार रहा करते हैं। एक ओर तो वे लोग हैं जो कुत्ते-बिल्लियों को पाल कर उन्हें अपनी गोद में बिठा कर दूध पिलाते और बढ़िया-से-बढ़िया माल खिलाते हैं, और दूसरी ओर वे लोग हैं जो अपने बच्चों को दूध के नाम पर आटा-घुला पानी भी पीने को नहीं दे सकते हैं। एक ओर तो वे लोग हैं जो भोजन के लिये और, खेलने के लिये और, कालेज जाने के लिये और, बाजार जाने के लिये और, पढ़ने-लिखने तथा आये-गये से मिलने के कमरों में बैठने के लिये और, तथा कचहरी में जाने के लिये और, इस प्रकार दिन में दस बार बूट और जूते बदलते हैं, और दूसरी ओर वे लोग हैं जो सदा नंगे पैर चलते हैं और जिन के पैरों में सदा बिवाई फटी रहती हैं। एक ओर तो वे लोग हैं जो ब्याह-शादियों और चाय-पार्टियों पर पानी की तरह रुपया बहाते रहते हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जिन्हें अपनी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये भी कहीं से दो कौड़ी नहीं जुड़ पातीं। एक ओर तो वे लोग हैं जिन के लाखों और करोड़ों के कारखाने खड़े हैं, और दूसरी ओर वे लोग हैं जो टूटी दुकान भी नहीं चला सकते और जिन्हें टोकरी ढोने की मज़दूरी भी नहीं मिल पाती। एक ओर तो वे लोग हैं जो सैकड़ों की तो बात ही क्या, हजारों और लाखों एकड़ भूमि के मालिक हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जो एक इंच भूमि को भी अपना नहीं कह सकते। एक ओर तो वे लोग हैं जो सम्पत्ति में लोटते रहते हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जो परले सिरे की गरीबी से दबे रहते हैं। आज समाज में इतनी भीषण आर्थिक विषमता है।

और धन-वैभव के समुद्र में तैरने वाले इन लोगों की धरती पर संख्या कोई बहुत अधिक हो और गरीबी से दबे लोगों की संख्या बहुत थोड़ी हो सो बात नहीं है। धरती का दौर्भाग्य यह है कि इन वैभवशाली लोगों की संख्या तुलना में बहुत थोड़ी है और गरीबी तथा भूखे-नंगेपन का जीवन बिताने वाले लोगों की संख्या बहुत अधिक है। फिर शोचनीय अवस्था यह है कि समृद्धि और सम्पत्ति के स्वामी इन अल्पसंख्यक लोगों की दुकानें, कम्पनियें, कारखाने और जमींदारियें—जहां से धन-वैभव की गंगा बह कर इन के घरों में आती है—चलती हैं इन में काम करने वाले बहुसंख्यक गरीब नौकरों और मजदूरों के बल पर। दुकानों, कम्पनियों, कारखानों और जमींदारियों के मालिक पूंजीपति लोग अपने यहां काम करने वाले नौकरों और मजदूरों को उन की मेहनत के बदले में कम-से-कम वेतन और मज़दूरी देने का प्रयत्न करते हैं। बहुत

बार तो वेतन इतना कम और मजदूरी इतनी थोड़ी रहती है कि सेवकों और मज़दूरों को अपने शरीर और आत्मा के संयोग को स्थिर रखना कठिन हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि ये धनपति लोग अपने नौकरों का खून चूस कर अपना वैभव खड़ा करते हैं।

गरीबी में ही चाहे अपना जीवन बताना पड़ता हो, पर इन नौकरों और मज़दूरों को करने के लिये कोई काम और रूखा-सूखा खाने के लिये कुछ पैसे तो मिल जाते हैं। समाज की व्यवस्था तो इतनी बिगड़ी हुई है कि लाखों आदमी बेचारे ऐसे हैं जिन्हें करने को कोई काम ही नहीं प्राप्त होता, जो दर-दर भटकने पर भी कोई काम नहीं खोज पाते। इन लोगों को बेरोज़गारी से होने वाले जो कष्ट और विपत्तियें सहनी पड़ती हैं उन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

आज की समाज-व्यवस्था मनुष्य के आत्मा का पतन करती है

समाज की वर्तमान व्यवस्था की यह भयंकर बुराई तो है ही कि उस में लाखों और करोड़ों लोगों को गहरी गरीबी में रहना पड़ता है और गरीबी के वर्णनातीत कष्ट भोगने पड़ते हैं, उस की एक घोर बुराई यह हैं कि इस गरीबी से तंग आ कर हजारों व्यक्ति सचाई और धर्म का रास्ता छोड़ देते हैं। वे अपना जीवन-यापन करने के लिये अधर्म का मार्ग अपना कर दूसरों को लूटना और ठगना आरम्भ कर देते हैं। हजारों आदमी ठग, लुटेरे, गठ-कतरे, चोर और डाकू बन जाते हैं। इतना ही नहीं, अनेक बार दूसरों का धन छीनने के लिये लोग उन की हत्या तक कर डालते हैं। ऐसे नृशंस और पैशाचिक वृत्ति के ये लोग बन जाते हैं। इन के उदाहरण से तथा गरीबी के कारण यों भी साधारण आमदनी वाले दूसरे अनेक लोगों के मन में भी अधर्म और अन्याय का अवलम्बन कर के इसी प्रकार के कार्य करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार समाज की वर्तमान व्यवस्था अधिकांश लोगों को गरीब भी बनाये रखती है और उन्हें असत्य, अन्याय और अधर्म पर चलने वाला बना कर राक्षस-प्रकृति का भी बना देती है। आज की समाज-व्यवस्था मनुष्य को शारीरिक दृष्टि से दुःख में रखती है और आत्मिक दृष्टि से पतन के गढ़े में गिरा देती है।

आज की इस समाज-व्यवस्था में निर्धन और गरीब लोग ही आत्मिक-रूप में पतित बनते हों ऐसी बात नहीं है। इस व्यवस्था में धनपति लोग भी आत्मिक दृष्टि से पतित होते रहते हैं। वे अपने नौकरों और मज़दूरों के साथ अन्याय करते हैं। वे अपने नौकरों और मजदूरों

की आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखते तथा कारखाने आदि के चलाने में उन की उपयोगिता और परिश्रम का जो अनुपात है उस का भी ध्यान नहीं रखते। वे अपने नौकरों को बहुत कम पारिश्रमिक देते हैं। वे अपने नौकरों की योग्यता और परिश्रम को लूटते रहते हैं। इस प्रकार वे अधर्म और अन्याय पर चलते रहते हैं। और अपनी आत्मा को पतित बनाते रहते हैं। इतना ही नहीं। ये धनपति लोग अपने धन को बढ़ाने के लिये चीजों की कीमत लागत के अनुपात से बहुत अधिक रखना, चीजों को कम तोलना और कम नापना, ग्राहक को यथासम्भव रद्दी-से-रद्दी चीज़ अपने स्टाक में से देना, चोर-बाजारी करना आदि के अन्याय और अधर्म के काम भी करते रहते हैं। ये लोग जरूरतमन्द और निर्धन लोगों को ऋण भी देते रहते हैं। उस ऋण पर बहुत भारी ब्याज लेते हैं। अपढ़ किसानों और निम्न स्थिति के लोगों को तो ये लोग ऋण दे कर उन का खून ही पी लेते हैं। एक बार लिया गया ऋण कभी चुकने ही नहीं पाता। ब्याज का हिसाब रखने में निहायत धोखे और झूठ का व्यवहार करते हैं। ब्याज लगते-लगते ऋण की राशि इतनी बढ़ जाती है कि ऋण लेने वाले बेचारे इन किसानों और मज़दूरों के लिये उसे चुका सकना असम्भव हो जाता है। तब ये धनपति लोग अपना ऋण वसूल करने के लिये इन गरीबों की जमीन-जायदाद और दूसरे सामान को भी कुड़क करवा लेते हैं। इस प्रकार के अधर्म के आसुरी कार्य ये धनपति लोग करते रहते हैं और अपनी आत्मा को पतित बनाते रहते हैं। इतना बुरा वर्तमान समाज-व्यवस्था लोगों को बना देती है।

२.
आज धन की बेहद पूजा होती है

वर्तमान समाज-व्यवस्था का आधार धन है। इस व्यवस्था में धन एक देवता बना हुआ है। उसने ईश्वर का स्थान ले रखा है। आज की समाज-व्यवस्था में धन ही सब कुछ है। आज धन की पूजा होती है। जब धन ही मनुष्य का उपास्यदेव बन गया है—जब धन ही सभी कुछ है—तो धन को प्राप्त करने के लिये मनुष्य सभी कुछ करेगा। वह सत्य-असत्य न्याय-अन्याय और धर्म-अधर्म की परवाह न कर के जिस किसी तरह भी होगा धनोपार्जन करने का प्रयत्न करेगा। उस के लिये वह ऊपर निर्दिष्ट सभी काम करने के लिये उद्यत रहेगा। वह अपने नौकरों और मजदूरों की योग्यता और परिश्रम को भी, उन्हें कम पारिश्रमिक दे कर, लूटने में संकोच नहीं करेगा और सर्वसाधारण जनता को भी ठगने में नहीं हिचकेगा। उसे तो सत्य से हो, असत्य

से हो, धन कमाना है।

आज मनुष्य को जो कुछ भी प्राप्त होता है वह सब धन से ही प्राप्त होता है। हमें खाने को अन्न, पहिनने को वस्त्र, रहने को मकान और शरीर के सुख के दूसरे सब सामान धन से ही प्राप्त होते हैं। हमें समाज में यश और प्रतिष्ठा भी धन से ही प्राप्त होते हैं। जो जितना अधिक धनी है, जो जितना टैक्स सरकार को देता है, वह उतना ही अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति समझा जाता है। उसे सभा-सोसाइटियों में, जलसे-उत्सवों में और राजदरबारों में सब से आगे कुर्सी मिलती है। उस के ऐबों पर परदा डला रहता है। संस्थाओं वाले लोग उस की खुशामद करते नहीं थकते और थोड़ी सी भी सहायता मिल जाने पर उस की प्रशंसा के पुल बांध दिये जाते हैं। आज अपने बच्चों को पढ़ा-लिखा कर योग्य भी वही बना सकता है जिस के पास धन है। धन खर्च कर के शिक्षा प्राप्त कर सकने वाले लोग ही राजकीय नौकरियों को प्राप्त कर सकते हैं। इन पदों तक पहुंचने के लिये और भी जो दौड़-धूप करनी पड़ती है उस के लिये भी धन की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार शासन और हुकूमत भी धन से ही प्राप्त होते हैं।

आज के प्रजातन्त्रों में भी धन का ही बोल-बाला है

इतना ही नहीं। कहा जाता है कि प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति में असल में तो राज-सत्ता और शासन सर्वसाधारण जनता के ही हाथों में रहता है। यह कहने की ही बात है। आजकल की प्रजातन्त्र-पद्धति में तो राज-सत्ता और शासन उन्हीं लोगों के हाथों में रहता है जिन के पास धन होता है। आजकल के चुनाव लड़ने में और मतदाताओं से अपने लिये मत प्राप्त करने में धन की एक भारी राशि खर्च करनी पड़ती है। जो व्यक्ति उतना धन खर्च नहीं कर सकता वह असैम्बलियों और पार्लियामेंटों में नहीं चुना जा सकता। कोई कितना भी योग्य क्यों न हो, जिस के पास धन नहीं है वह राज्य की इन विधान-सभाओं में नहीं पहुंच सकता। कहने को चाहे कुछ कहा जाता रहे पर परिस्थिति ऐसी है कि आज की समाज-व्यवस्था में प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति में भी असैम्बलियों और पार्लियामेण्टों के सदस्य वे ही बन सकते हैं जिन के पास रुपया होता है। खाली योग्यता की पहुंच वहां नहीं है। इस प्रकार आज राज-सत्ता और शासन भी धन वालों को ही मिलता है।

शासकों का उद्देश्य भी धन कमाना ही रहता है

फिर एक बात और है। आज की धन से प्रभावित इस दूषित समाज-व्यवस्था में जो

लोग राज्याधिकारी बनते हैं उन की वृत्ति न्याय और धर्म का शासन चला कर प्रजा का कल्याण करने की नहीं होती। वे तो राजकीय पदों पर भी धन कमाने की दृष्टि से ही जाते हैं। क्योंकि इन पदों का वेतन बहुत अधिक रहता है, इन के साथ अन्य अनेक प्रकार की सुख-सुविधायें लगी रहती हैं, और इन पदों पर पहुंच कर वे और भी कई तरीकों से धन कमा सकते हैं। ये राजकर्मचारी भी धनपतियों का ही एक वर्ग होते हैं और उन के साथ मिल कर ये भी प्रजा का खून चूसते रहते हैं। इस प्रकार आज सभी में धन की इतनी अधिक तृष्णा है।

धन-लिप्सु राष्ट्र अन्य राष्ट्रों पर घोर अत्याचार करते हैं

धन के इस सर्वग्रासी प्रभाव से प्रभावित हो कर धन-लिप्सु लोग अपने देश के लोगों के साथ तो अन्याय और अधर्म का व्यवहार करते ही रहते हैं, उन का यह पापाचार इस से आगे भी बढ़ता है। वे धन के लोभ और लालसा के वश में हो कर संसार-भर की धन-सम्पत्ति को अपने घर में भर लेना चाहते हैं। ये सब धन के लोभी लोग राष्ट्र-रूप में संगठित हो कर दूसरे दुर्बल देशों पर आक्रमण कर के उन्हें अपना गुलाम बना लेते हैं। धन-लिप्सु लोगों के ये राष्ट्र इन दुर्बल देशों को जीतने के समय उन पर जो विपत्ति के पहाड़ ला गिराते हैं, उन की धन-संपत्ति का जो भारी विध्वंस और उन की जनता का जो असीम संहार करते हैं, वह तो करते ही हैं, उन्हें अधीन करने के पश्चात् उन पर निरन्तर जो अत्याचार करते रहते हैं वे तो वर्णनातीत होते हैं। अपने अधीन राष्ट्रों को वे पनपने नहीं देते। उन्हें पंगु बना कर रख देते हैं। वहां के व्यापार को नष्ट कर देते हैं। उन के कला-कौशल को मिटा देते हैं। उन की संस्कृति और सभ्यता का उच्छेद कर देते हैं। उन की परम्परा से चली आ रही राष्ट्रीय शिक्षा को विध्वस्त कर देते हैं। उन की भाषा का विनाश कर देते हैं और उस के स्थान पर अपनी भाषा को उन पर थोप देते हैं। उन के इतिहास को बिगाड़ देते हैं। और इस गलत इतिहास को पाठशालाओं में पढ़ा कर उभर रही नई पीढ़ी पर यह प्रभाव डालते हैं कि उन के पूर्वज तो अशिक्षित, असभ्य और जंगली होते थे, उन के ये नये शासक ही सभ्य और शिक्षित हैं। यह सब वे इस लिये करते हैं कि पराजित राष्ट्र के लोग स्वतन्त्र होने का यत्न न करें और अपने इन शासकों को देवता मान कर सदा इन के गुलाम बने रहें। ये धन-लिप्सु राष्ट्र अपने अधीनस्थ राष्ट्रों के लोगों को अपने लिये पानी भर कर और लकड़ी काट कर लाने वालों की स्थिति में पहुंचा देते हैं। अधीनस्थ राष्ट्रों की जनता का काम केवल खेती कर के अपने

शासकों के कारखानों के लिये कच्चा माल पैदा करना और अपने शासकों की मज़दूरी और नौकरी करना-भर रह जाता है। पराधीन राष्ट्र इन धन-लिप्सु राष्ट्रों के कारखानों में तैयार किये गये माल के बिकने के बाजार-मात्र रह जाते हैं। और अपने शासक देश के कारखानों का यह माल पराधीन देश के लोगों को जबरदस्ती खरीदना पड़ता है। पराधीन देशों की जनता को हद दर्जे की गरीबी की अवस्था में पहुंचा दिया जाता है। इतना ही नहीं। इन धन-लिप्सु राष्ट्रों के गर्वित शासक लोग पराधीन राष्ट्र के लोगों में भी आत्मा है, वे भी मान अपमान को अनुभव करते हैं, यह समझना ही छोड़ देते हैं। वे पराधीन राष्ट्र के लोगों का पग-पग पर अपमान करते हैं। उन के साथ कुत्ते और बिल्लियों से भी बुरा बर्ताव ये लोग करते हैं। विजेता राष्ट्रों द्वारा विजित राष्ट्रों पर किये गये अन्याय और अत्याचारों की दुःख-भरी कहानी से इतिहास भरा पड़ा है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। अपने शासन-काल में अंग्रेज शासकों ने हमारे देश भारत की जो दयनीय दीन दशा बना रखी थी उस से हम सब भली-भांति परिचित हैं। अपने धन-वैभव को बढ़ाने की लालसा के वशीभूत हो कर जब किसी राष्ट्र के लोग दूसरे राष्ट्रों को अपने अधीन बनाने चलते हैं तो वे निरे पशु और राक्षस बन जाते हैं, और, जब तक वे राष्ट्र उन के अधीन रहते हैं तब तक उन पर वे अपने पाशविक और राक्षसी अत्याचारों की झड़ी लगाये रहते हैं। धन का लोभ उन की आत्मा को बिल्कुल मार देता है।

भीषण युद्धों का मूल-कारण धन-लिप्सा

धन का यह लोभ एक और काण्ड खिलाता है। धन का लोभ मनुष्यों को ईर्ष्यालु बना देता है। एक की समृद्धि को देख कर दूसरा उस से जलने लगता है और उस की हानि के प्रयत्न में रहता है। लोगों के दैनिक जीवन में यह ईर्ष्या की वृत्ति काम करती हुई दिखाई देती है। राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी यह वृत्ति काम करती है। और वहां इस ईर्ष्या की वृत्ति के बहुत ही भयंकर परिणाम निकलते हैं। जब एक सबल धनलिप्सु राष्ट्र किन्हीं दूसरे देशों को गुलाम बना कर वहां अपने बाजार बना लेता है तो दूसरे सबल धनलिप्सु राष्ट्र को उस से ईर्ष्या होने लगती है। ईर्ष्या के वशीभूत हो कर यह दूसरा धनलिप्सु राष्ट्र पहले धनलिप्सु राष्ट्र के इन विदेशी बाजारों को छीनना चाहता है या उन में अपना भी हिस्सा रखना चाहता है जिस से वह अपने देश के कारखानों का माल वहां खपा सके। पहले धनलिप्सु राष्ट्र को यह बात पसन्द नहीं हो सकती। वह अपने लाभ को कम कैसे होने दे ? धन के लोभ से उत्पन्न होने वाली ईर्ष्या की यह आग सुलगती रहती है और एक दिन प्रबल हो कर क्रोध

का रूप धारण कर लेती है। और दोनों राष्ट्रों में युद्ध छिड़ जाता है। युद्ध के परिणाम-स्वरूप दोनों राष्ट्रों का अपार जन-संहार और सम्पत्ति-विनाश होता है। दोनों राष्ट्रों की जनता चली थी अपने को अधिक वैभव और सुख-समृद्धिशाली बनाने, पर लोभ से जलाई गई ईर्ष्या की आग में पड़ कर परस्पर युद्ध कर के वह अपने को विपत्ति और कष्टों के समुद्र में डुबो लेती है।

अनेक बार ऐसा भी होता है कि ये युद्ध केवल दो राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं रहते। इन में युद्ध छिड़ने के थोड़े ही समय पश्चात् धीरे-धीरे कर के धरती के प्रायः सभी राष्ट्र, कोई एक का और कोई दूसरे का पक्ष लेकर, युद्ध में आ कूदते हैं। और वह युद्ध केवल दो राष्ट्रों का न रह कर सारे विश्व का युद्ध बन जाता है। पिछला १९१४-१९१८ का महायुद्ध इसी प्रकार का विश्वयुद्ध था। यह युद्ध आरंभ में हुआ था अंग्रेजों और जर्मनों के बीच में। पर युद्ध आरंभ होने के थोड़े ही काल के पश्चात् धरती के प्रायः सभी बड़े-बड़े राष्ट्र इस युद्ध में कूद पड़े थे। इस विश्व युद्ध में सारे मानव-समाज को जो कष्ट और विपत्तियें सहनी पड़ी थीं, सभी देशों की जो अपार जन-हानि और धन-हानि हुई थी, उस के आंकड़ों को देख कर दिल दहल उठता है। रणचण्डी के उस ताण्डव-नृत्य से राष्ट्रों के घर-घर में दुःख और शोक के सिन्धु उमड़ पड़े थे। इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप लाखों-हजारों गांव उजड़ गये थे—उन के मकान धूल में मिल गये थे और उन की खेती की ज़मीनें बरबाद हो गई थीं। लाखों लोग बेघरबार हो गये थे। लाखों लोग मारे गये थे। लाखों पत्नियें विधवा हो गई थीं। लाखों बच्चे अनाथ हो गये थे। लाखों बहिनें बिना भाइयों की हो गई थीं। और लाखों माता-पिता बिना संतान के हो गये थे। लाखों लोगों के हाथ-पैर कट गये थे और लाखों अन्धे हो गये थे। मन पर लगने वाले युद्ध के धक्के से हज़ारों आदमी पागल हो गये थे। यह परिणाम हुआ था धनलिप्सा से जलाई गई ईर्ष्या की आग से पैदा हुए उस महायुद्ध का ! मनुष्य मनुष्य को खाने वाला बन गया था !

और सन् १९३९-४५ में जो द्वितीय विश्व-युद्ध हुआ था उसकी प्रलयंकर भीषणता तो प्रथम विश्व-युद्ध की भीषणता को भी कहीं पीछे छोड़ गई थी। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के लोगों को इस युद्ध के कारण वे सब कष्ट उस से भी कहीं अधिक मात्रा में सहने पड़े हैं जिस मात्रा में प्रथम युद्ध के कारण सहने पड़े थे। इस द्वितीय विश्व-युद्ध में अकेले जर्मनी और रूस के युद्ध-क्षेत्र में प्रतिदिन कोई बीस हजार सैनिक मारे जा रहे थे। अन्य युद्ध-क्षेत्रों की बात इस से अलग है। जर्मनी ने इंग्लैंड पर जो बम बरसाये थे उन से इंग्लैंड के प्रत्येक तीन

घरों में से एक घर सर्वथा विध्वस्त हो गया था। इतनी भीषण थी जर्मनी की वह बम-वर्षा ! इंग्लैंड और अमेरिका ने जर्मनी पर जो बम-वर्षा की थी वह भी इतनी ही भीषण और संहारकारी थी। अमेरिका ने जापान पर जो बम-वर्षा की थी वह इतनी भीषण थी कि उस से अकेले टोकियो नगर में ८० हजार आदमी मारे गये थे जिन में २५ हजार तो बच्चे थे। टोकियो के लगभग सभी घर विध्वस्त हो गये थे। अमेरिका ने जापान के हिरोशिमा और नागासाकी नगरों पर जो अणुबम (Atom-Bomb) गिराये थे वे इतने घोर संहारकारी थे कि केवल एक-एक अणुबम से कई-कई लाख की आबादी के ये दोनों नगर सर्वथा विनष्ट हो गये थे। इस विश्व-युद्ध में लड़ने वाले देशों की जो अपार धन-सम्पत्ति विनष्ट हुई थी उस की कोई सीमा नहीं है। इस युद्ध में हुई अग्नि-वर्षा के कारण जहां लाखों आदमी मारे गये वहां करोड़ों लोग उजड़ कर बेघरबार और आश्रयहीन हो गये थे। इतनी प्रचण्ड थी इस युद्ध की भीषणता[1]। इन दोनों विश्व युद्धों ने धरती पर काल-रात्रि ला दी थी।

आज के समाज में जिस की इतनी पूजा होती है उस सर्व-ग्रासी धन का लोभ मनुष्य को ऐसा राक्षस और पिशाच बना देता है।

सीमातीत धनलिप्सा के घोर दुष्परिणाम

जब समाज में धन की महत्ता बेहद बढ़ जाती है, जब मनुष्य के लिये धन ही धन सब कुछ हो जाता है, जब सुख-आराम, मान-प्रतिष्ठा और शासन

---

१. द्वितीय विश्व-युद्ध में मृत व्यक्तियों की संख्या इस प्रकार है–

कुल मृत व्यक्तियों की संख्या ९५ लाख से १ करोड़ के बीच में है। जर्मनी पक्ष के मृत व्यक्ति ५२ लाख मित्रराष्ट्रों के ४५ लाख। जर्मनी की हानि सब से अधिक हुई, उस के ३२,५०,००० व्यक्ति मरे। जापान के १५ लाख, इटली के १$\frac{१}{२}$ से २ लाख रूमानिया के १ लाख, हंगरी के ७५ हजार और फिनलैण्ड के ५० हजार व्यक्ति मरे। मित्रराष्ट्रों में रूस की हानि सब से अधिक हुई, उस के ३० लाख व्यक्ति मरे। अमरीका (U.S.A) के ३, २५,०००, ब्रिटिश साम्राज्य के ३,७५,००० से ४,००,०००। फ्रांस के १,५७,०००, पोलैण्ड के १,२५,०००, यूगोस्लाविया के ७५,०००, यूनान के ५०,०००, बेल्जियम के ७,०००, हालैण्ड के ६०००, नार्वे के १०००, और (पर्लहार्बर के बाद से) चीन के २,५०,००० व्यक्ति मरे। इन आंकड़ों में केवल सैनिक मृत्युयें ही हैं। सैनिक तथा नागरिक (Civilian) मृतकों की कुल संख्या २ करोड़ २० लाख ६० हजार है। तथा आहतों की संख्या ३ करोड़ ४४ लाख है। इस प्रकार हताहतों की कुल संख्या ५ करोड़ ६४ लाख ६० हजार है। (गिलिन (J.H. Gillin तथा J.P. Gillin) की कल्चरल सोशियोलोजी (Cultural Sociology), मैकमिलन, न्यूयार्क १९४८, में पृष्ठ १०६ पर दिये गये आंकड़ों से)।

की शक्ति, सब कुछ धन से ही प्राप्त होने लगता है और इस प्रकार जब समाज धन को देवता मान कर उस की उपासना करने वाला पूंजीवादी समाज बन जाता है, तो लोगों में धन की तृष्णा सीमातीत हो जाती है। और धन का यह सीमातीत लोभ दुकानदारों, कम्पनी वालों, कारखाने वालों और जमींदारों द्वारा अपने नौकरों और मजदूरों पर, राज्याधिकारियों द्वारा अपनी प्रजा पर तथा राष्ट्रों द्वारा दूसरे राष्ट्रों की प्रजा पर उस प्रकार के घोर अन्याय और नृशंस अत्याचार करवाता है जिन का कुछ हलका-सा दिग्दर्शन ऊपर के पृष्ठों में कराया गया है।

३.
आज की समाज-व्यवस्था पूंजीवादी है

धन पर आधारित, धन को ही सब कुछ समझने वाली, धन की ही पूजा करने वाली, यह पूंजीवादी समाज-व्यवस्था आज संसार के सभी देशों में चल रही है। रूस जैसे कुछ थोड़े से राष्ट्रों को छोड़ कर धरती के सभी राष्ट्रों का आज का समाज पूंजीवादी है। इस पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के कारण सभी राष्ट्रों की जनता के एक बहुत बड़े भाग को अभाव और गरीबी का, दुःख और कष्टों का, जीवन बिताना पड़ता है।

पूंजीवादी समाज-व्यवस्था को बदलना होगा

यदि धरती के मानव ने इन अन्याय और अत्याचारों तथा इन दुःख और कष्टों से छुटकारा पाना है तो समाज की इस पूंजीवादी व्यवस्था को बदलना पड़ेगा। और उसके स्थान पर समाज की कोई दूसरी व्यवस्था बनानी होगी—समाज का संघटन किसी दूसरे आधार पर करना होगा।

साम्यवाद (कम्युनिज्म)

इस युग में जर्मनी के महान् विचारक कार्लमार्क्स ने पूंजीवादी समाज-व्यवस्था की बुराइयों को अनुभव किया और उस के विरुद्ध आवाज़ उठाई। योरोप के अनेक विचारक कार्लमार्क्स के अनुयायी बन गये। रूस का आधुनिक युग का महान् नेता लेनिन भी कार्लमार्क्स का अनुयायी बन गया। लेनिन के नेतृत्व में रूस के कम्युनिस्ट लोगों ने सन् १९१७ के अक्टूबर की क्रान्ति द्वारा पूंजीवाद की प्रतीक और जनता पर मनमाना अत्याचार करने वाली जारशाही को भी दफना दिया और समाज की पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था को भी अपने देश से उखाड़ फेंका। कार्लमार्क्स के अनुयायी रूस के साम्यवादी (कम्युनिस्ट) लोग पूंजीवाद के स्थान पर अपनी साम्यवाद (कम्युनिज्म)

की व्यवस्था उपस्थित करते हैं। और कहते हैं कि पूंजीवाद की बुराइयों का प्रतीकार एकमात्र साम्यवादी समाज-व्यवस्था की स्थापना से ही हो सकता है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

वैदिक धर्म भी समाज की एक व्यवस्था—समाज का एक संघटन—बताता है। वैदिक धर्म समाज की जो व्यवस्था बताता है उस में पूंजीवाद में जो बुराइयें हैं वे नहीं पाई जातीं। हमारी सम्मति में पूंजीवाद की अपेक्षा साम्यवाद (कम्युनिज़्म) की पद्धति अधिक अच्छी है। परन्तु हमारे विचार में साम्यवाद में भी कुछ दोष हैं। वैदिक समाज-व्यवस्था में साम्यवाद के दोष भी नहीं पाये जाते। पूंजीवाद के और साम्यवाद के जो गुण हैं वे वैदिक समाज-व्यवस्था में विद्यमान हैं। संसार में सच्ची सुख-शान्ति स्थापित करने के लिये हमें पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों के स्थान में वैदिक समाज-व्यवस्था को अपनाना चाहिये। वैदिक धर्म समाज की जो व्यवस्था बताता है उस का नाम है—वर्णाश्रम व्यवस्था।

४.
कोई भूखा नहीं मरना चाहिये

साम्यवाद कहता है कि अभाव और गरीबी के कारण किसी को कष्ट नहीं मिलना चाहिये। धन के अभाव से कोई भूखा-नंगा नहीं रहना चाहिये। सब को भली-भांति खाने-पीने और पहिनने को मिलना चाहिये। यह बात सही है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति भी यही बात कहती है। वेद कहता है—"निश्चय ही परमात्मा ने भूख को मृत्यु का साधन नहीं बनाया है[1]।" वेद की सम्मति में प्रजा के किसी भी व्यक्ति को भूख का कष्ट नहीं होना चाहिये। सब को यथेष्ट खाने को मिलना चाहिये। भूख तो उपलक्षणमात्र है—संकेतमात्र है। भूख हमारे जीवन की प्रधान आवश्यकताओं में से एक है। भूख की भांति हमारे जीवन की अन्य सब प्रधान आवश्यकतायें भी भली-भांति पूरी हो सकनी चाहिये।

पांच आलम्बन पदार्थ

हमारे जीवन की प्रधान आवश्यकतायें पांच हैं। (१) हमें खाने के लिये पौष्टिक अन्न मिलना चाहिये, (२) पहिनने के लिये वस्त्र मिलने चाहिये जिन से ऋतुओं की कठोरता से हमारे शरीर की रक्षा हो सके, (३) रहने के लिये स्वच्छ, हवादार और रोशनीदार मकान मिलने चाहिये जिन में अपने परिवार

---
१. न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुः। ऋग्. १०.११७.१।

के साथ हम आराम से रह सकें, (४) रोगी होने पर हमें उत्तम से उत्तम चिकित्सा मिल सकनी चाहिये, और (५) हमारे बालकों को ऊंची से ऊंची शिक्षा मिल सकनी चाहिये। ये पांचों चीजें हमारे जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। इन के बिना हम न सुख से जी सकते हैं और न किसी प्रकार की उन्नति ही कर सकते हैं। ये पांचों चीजें हमारे जीवन के 'आलम्बन-पदार्थ' हैं। इन पांचों पर हमारा जीवन, उस का सुख और उस की उन्नति, अवलम्बित है। ये पांचों 'आलम्बन-पदार्थ' राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को मिलने चाहियें और इस रूप में मिलने चाहिये कि उन से व्यक्ति की आवश्यकता अच्छी तरह पूरी हो सके। इन पांचों 'आलम्बन पदार्थों' की प्राप्ति प्रत्येक प्रजाजन को होनी चाहिये वेद का ऐसा स्पष्ट आदेश है। वेद में स्थान-स्थान पर प्रजाजन परमात्मा से और अपने राजा से इन की प्राप्ति के लिये प्रार्थना करते हैं। वेद में स्थान-स्थान पर राजा का कर्तव्य बताया गया है कि वह अपनी प्रजाओं को इन पांचों पदार्थों की प्राप्ति कराये। इस प्रकार के वर्णनों से वेद भरे पड़े हैं[1]। यदि किसी राष्ट्र के लोगों को ये पांचों पदार्थ नहीं प्राप्त होते हैं तो निश्चय ही उस राष्ट्र की व्यवस्था—समाज व्यवस्था और राज्य व्यवस्था—दूषित है। आज जो संसार के सब लोगों को ये पांचों पदार्थ भली-भांति प्राप्त नहीं होते उस का कारण आज की समाज और राज्य की पूंजीवादी व्यवस्था है। आज का समाज और आज का राज्य पूंजीवाद पर खड़ा है। और उस के कारण अधिकांश लोगों को ये पांचों पदार्थ आवश्यकतानुसार प्राप्त नहीं होते।

अनुबन्ध पदार्थ

जीवन की इन हमारी पांच प्रधान आवश्यकताओं के अतिरिक्त—जीवन के लिये आवश्यक इन पांच 'आलम्बन-पदार्थों' के अतिरिक्त—हमारे जीवन की कुछ गौण आवश्यकतायें भी रहती हैं। ये गौण आवश्यकतायें हमारे जीवन में सुख और हर्ष की मात्रा को बढ़ाने के लिये होती हैं। जैसे, खाने-पीने, पहिनने, रहने, चिकित्सा और शिक्षा की हमारी आवश्यकतायें अच्छी तरह पूरी हो जाने के बाद यदि हमारे घर में टेलीफोन और रेडियो भी लगा हो तो और अच्छा है, हमारे मकान के चारों ओर अच्छी फुलवारी लगी हो तो और अच्छा है, हमारे घर भांति-भांति की कला-कृतियों से विभूषित हों तो और अच्छा है, बाहर आने-जाने के लिये हमारे पास अपनी

१. इस सम्बन्ध में हम ने अपने ग्रंथ 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' के शिक्षा, कृषि, स्वास्थ्य, गृहनिर्माण और वस्त्र-परिधान आदि प्रकरणों में विस्तार से विचार किया है।

कोई निज की गाड़ी हो तो और अच्छा है। इस प्रकार के पदार्थ हमारे जीवन के लिये आवश्यक नहीं हैं—इन पर हमारा जीवन अवलम्बित नहीं है। हम इन के बिना भी अपना काम चला सकते हैं। किन्तु यदि ये पदार्थ हमारे पास हों तो इन से हमारे जीवन में सुख की मात्रा बढ़ जाती है। ये पदार्थ हमारे जीवन की प्रधान आवश्यकता (Primary Needs) न हो कर गौण आवश्यकतायें (Secondary Needs) हैं। इन गौण पदार्थों को 'अनुबन्ध-पदार्थ' कहा जाता है। ये 'अनुबन्ध-पदार्थ' भी यथा-संभव अधिक से अधिक लोगों को प्राप्त हो सकें इस का प्रयत्न भी राष्ट्र में होना चाहिये। वेद में जीवन की प्रधान पांच आवश्यकताओं की पूर्ति की प्रार्थनाओं के अतिरिक्त जीवन में सुख की मात्रा को बढ़ाने वाली अन्य सामग्री की भी प्रार्थनायें हैं और राजा के लिये आदेश है कि वह प्रजाओं को यह समाग्री भी प्राप्त करायें[1]। 'अनुबन्ध-पदार्थ' भी सब को मिल सकें तो अच्छा है और इस के लिये प्रयत्न भी होना चाहिये, परन्तु पांचों 'आलम्बन-पदार्थ' तो प्रत्येक प्रजाजन को अच्छी तरह मिलने ही चाहिये।

५.
पूंजीवाद लोभ और संचय-शीलता पर आधारित है

पूंजीवादी व्यवस्था में इन पदार्थों को राष्ट्र के सर्वसाधारण लोगों को मिल सकने की संभावना नहीं रहती। क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था आदमी को लोभी और संचय-शील बना देती है। लोभ और संचय की प्रवृत्ति के वशीभूत हुए कुछ थोड़े से लोग, जिन के पास साधन और शक्ति होती है, ऐसा उपाय कर लेते हैं जिस से राष्ट्र की प्राकृतिक सामग्री से उत्पन्न होने वाला सारा धन-वैभव उन्हीं के पास सीमित रहता है और सर्वसाधारण जनता तक नहीं पहुंचने पाता। और ये थोड़े से धनपति लोग राष्ट्र की प्राकृतिक सामग्री से उपजने वाले धन-वैभव को अपने हाथों में ही सीमित रखने के लिये, जैसा ऊपर दिखाया गया है, सभी प्रकार के अच्छे-बुरे तरीकों का आश्रय लेते रहते हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था में धन का सर्वोपरि महत्व नहीं है

पूंजीवाद का यह दोष वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में नहीं है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में धन की महत्ता को बहुत कम कर दिया जाता है। पूंजीवाद में धन की महत्ता सर्वोपरि रहती

१. हम ने अपने ग्रन्थ 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' के राष्ट्र के सौभाग्य की उन्नति आदि प्रकरणों में इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है।

है। वहां धन ही सब कुछ है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में यह बात नहीं है। वहां धन का स्थान बहुत कम महत्त्व का है। धन के इस महत्त्व को वर्णाश्रम-व्यवस्था में कई प्रकार से कम किया गया है। इस सम्बन्ध में निम्न बातें ध्यान में रखने योग्य हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था त्याग के जीवन पर बल देती है

वर्णाश्रम-व्यवस्था में त्याग के जीवन पर बहुत अधिक बल दिया गया है। मनुष्य को धन-सम्पत्ति के मोह में नहीं फंसना चाहिये—धन-सम्पत्ति में उसे लिप्त नहीं रहना चाहिये। उसे धन-सम्पत्ति में लिप्त न हो कर त्याग-पूर्वक उस का भोग करना चाहिये। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति के जीवन का यह एक मुख्य सिद्धान्त है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में, जिसे हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ ईशोपनिषद् भी कहा जाता है, मनुष्य को उपदेश दिया गया है कि "हे मनुष्य ! इस जगत् के सब पदार्थों में परमेश्वर रमे हुए हैं इसलिये संसार के पदार्थों का त्यागपूर्वक उपभोग कर, किसी के धन में लोभ-लालच मत कर[1]।" वेद के इस उपदेश का भाव यह है कि मनुष्य को सदा यह स्मरण रखना चाहिये कि परमात्मा सर्व-व्यापक हो कर सब जगह रमे हुए हैं—कोई जगह उन से खाली नहीं है, वे हमारे प्रत्येक कर्म को देख रहे हैं, इसलिये हमें लोभ में फंस कर दूसरों की सम्पत्ति की ओर लालच-भरी आंखों से नहीं देखना चाहिये और लोभ की इस वृत्ति से पैदा होने वाले अपराधों को नहीं करना चाहिये, और लोभ से बचने के लिये हमें धन-सम्पत्ति में लिप्त न हो कर उस का त्याग-पूर्वक उपभोग करना चाहिये। इस मन्त्र का दूसरा अर्थ यह भी किया जाता है कि "हे मनुष्य ! इस जगत् के सब पदार्थों में परमेश्वर रम रहे हैं, इसलिए उस परमेश्वर द्वारा त्याग किये हुए अर्थात् दिये हुए पदार्थों का उपभोग कर, लोभ-लालच मत कर, धन किस का है ? अर्थात् किसी का भी नहीं है।" इस अर्थ में वेद के इस मन्त्र का भाव यह है कि मनुष्य को परमात्मा ने जितना दिया है उसी पर उसे सन्तोष करना चाहिये, उसे धन-सम्पत्ति का लोभ नहीं करना चाहिये और लोभ से पैदा होने वाले अपराध नहीं करने चाहिये, हमारे सब अपराधों को सर्व-व्यापक परमात्मा देख रहे हैं, अतः लोभ और उस से उत्पन्न अपराधों से हमें दूर रहना चाहिये, हम धन का लोभ कर के पाप क्यों करें ? धन किस का है ? किस के साथ यह जाता है ? यह तो यहीं रह जाता है। धन किस के पास सदा रहा है ? यह तो आज है और कल नहीं है। इसलिये

---

१. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।। यजु. ४०.१।

धन के लोभ में फंस कर हमें पाप नहीं करने चाहिये। वैदिक धर्मियों के सभी शास्त्र त्यागमय जीवन के उपदेशों से भरे पड़े हैं। वेद और शास्त्रों के इन उपदेशों को जो लोग सदा स्मरण रखेंगे, धन-सम्पत्ति में लिप्त न हो कर लोभ की वृत्ति से जो सदा परे रहेंगे और लोभ से दूर रहने के लिये जो त्याग का जीवन रखेंगे, वे लोग उन सब बुराइयों से दूर रहेंगे जो पूंजीवादी लोगों में आ जाती हैं। ऐसे लोगो के लिये धन ही सब कुछ नहीं रह जायेगा। धन उन के लिये बहुत गौण हो जायेगा।

वर्णाश्रम-व्यवस्था दान पर बल देती है

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में दान पर बड़ा बल दिया गया है। वेद में दान के सम्बन्ध में सूक्त के सूक्त[1] आते हैं जिन में बड़े कवितामय ढंग में उपदेश दिया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी धन-सम्पत्ति को दूसरे मनुष्यों के कल्याण के लिये दान करते रहना चाहिये। अथर्ववेद में एक जगह कहा गया है कि "हे मनुष्य ! तुम सौ हाथों से धन कमाओ और हजार हाथों से उस का दान करो।"[2] वेद के इस कवितामय वर्णन का भाव यह है कि मनुष्य को खूब प्रयत्न और पुरुषार्थ से धन-सम्पत्ति का उपार्जन करना चाहिये और अपनी उपार्जित सम्पत्ति का अधिकांश भाग लोकोपकार में दान कर देना चाहिये।

वेद के इस प्रकार के उपदेशों के आधार पर वैदिक-धर्मियों के मनुस्मृति[3] आदि सभी धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सभी का दान करना एक आवश्यक कर्तव्य बताया गया है। प्राचीन समय में जब स्नातक लोग विद्या पढ़ कर गुरुकुलों से वापिस अपने घरों को आने लगते थे तो आचार्य लोग उन्हें विदाई के उपदेश के रूप में अनेक सुन्दर शिक्षायें दिया करते थे। आजकल की भाषा में इस उपदेश को दीक्षान्त-भाषण या कनवोकेशनल ऐड्रेस (Convocational Address) कहा जा सकता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में प्राचीन काल का इस प्रकार का एक दीक्षान्त-भाषण मिलता है। उस में आचार्य अपने स्नातकों को और-और हिदायतों के साथ एक हिदायत यह भी देता है कि उन्हें गृहस्थ-आश्रम में जा कर दान अवश्य करना

१. उदाहरण के लिये देखो ऋग्. १०. १०७, ऋग्. १०.११७, ऋग्. १०.१५१ सूक्त।

२. शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर। अथर्व. ३.२४.५।

३. मनु. १. ८८, ८६, ६० में ब्राह्मणादि वर्णों के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए सब वर्णों का दान एक आवश्यक कर्तव्य बताया गया है।

चाहिये। दान पर बल देते हुए आचार्य कहता है—"श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से दो, शोभा (यश) के लिये दो, लज्जा से दो, भय से दो, प्रतिज्ञा से दो[1]।" अर्थात् किसी भी कारण से दो, दो अवश्य। दान पर इतना अधिक बल उपनिषद् में दिया गया है। हमारे धर्मशास्त्रों के अनुसार जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दान नहीं करता है वह अपने धर्म का पालन नहीं करता है। दान करना ब्राह्मणादि वर्णों के लोगों का एक आवश्यक धर्म है जिस में कभी नागा नहीं होना चाहिये। महाभारत आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के उपदेश भी आते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय का कम से कम दसवां भाग दान अवश्य करना चाहिये[2]। एक तो हमें त्याग का जीवन बसर करना है, धन के लोभ में पड़ कर उस के पीछे पागल हो कर नहीं दौड़ना है, और फिर जो कुछ धन-सम्पत्ति हम ने कमानी भी है उस में से एक बड़ा हिस्सा दान करते रहना है। वर्णाश्रम-धर्म को मानने वाले वैदिक-धर्मियों का यह एक आवश्यक धर्म है। जो लोग वेद और शास्त्रों के इस उपदेश को मान कर दान करना अपना धर्म समझेंगे उन में धन का अनुचित मोह और लोभ नहीं पैदा होगा और वे लोभ के वशीभूत हो कर उस प्रकार की बुराइयें नहीं करेंगे जिस प्रकार की बुराइयें पूंजीपति लोग करते हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था सम्पत्ति को बांट कर भोगने पर बल देती है

हम जो कुछ कमायें वह हमें स्वार्थी बन कर स्वयं अकेले ही नहीं खा जाना चाहिये। हमें अपनी धन-सम्पत्ति का उपभोग दूसरों के साथ मिल कर करना चाहिये। वेद में परमात्मा उपदेश देते हैं कि "हे मनुष्यो ! तुम्हारे पीने के स्थान समान हों, तुम्हारा अन्न का सेवन मिल

---

१. श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। तं. उ. ७.११.१-४।

२. गामेकां दशगुर्दद्याद् दश दद्याच्च गोशती।
शतं सहस्रगुर्दद्यात् सहस्रं बहुगोधनः।। महाभारत, अनुशासन-पर्व ११३. १२। अर्थात् "दस गौवों वाला व्यक्ति एक गौ दान में दे, सौ गौवों वाला दस गौवें दान में दे, हजार गौवों वाला सौ गौवें दान में दे, और बहुत अधिक गौवों वाला व्यक्ति हज़ार गौवें दान में दे।" गोधन का दान तो उपलक्षण है। प्राचीन समय में गौ को बहुत कीमती धन समझा जाता था। श्लोक का भाव यह है कि मनुष्य को अपनी सम्पत्ति का दसवां भाग दान करते रहना चाहिये। शिवधर्म में लिखा है कि—"तस्मात् त्रिभागं वित्तस्य जीवनाय प्रकल्पयेत्, भागद्वयं तु धर्मार्थमनित्यं जीवितं यतः।" अर्थात् "मनुष्य को चाहिये कि वह अपने धन के पांच भाग कर ले, तीन भाग अपनी जीविका के लिये रख ले और दो भाग धर्म के कार्मों में दान कर दे, क्योंकि जिन्दगी सदा रहने वाली नहीं है।" इस श्लोक के अनुसार तो व्यक्ति को अपनी आमदनी का २/५ वां भाग दान में लगाना चाहिये।

कर हो, मैं तुम्हें प्रेम के बन्धन में बांधता हूं, तुम मिल कर प्रभु की उपासना करो और इस प्रकार मिल कर रहो जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में अरे मिल कर रहते हैं[1]।" वेद के इसी प्रसंग में परमात्मा पुनः कहते हैं—"हे मनुष्यो ! मैं तुम सब को मिल कर पदार्थों का सेवन करने के द्वारा मिल कर चलने वाले, समान मन वाले और एक समान भोजन करने वाले बनाता हूं[2]।" वेद के इन उपदेशों में भगवान् की स्पष्ट आज्ञा है कि किसी भी राष्ट्र के लोगों को—और असल में तो सारी धरती के लोगों को—परस्पर प्रेम से मिल कर रहना चाहिये और अपने भोजन का तथा भोजन से उपलक्षित अपनी धन-सम्पत्ति का उपभोग स्वार्थी बन कर स्वयं अकेले ही नहीं करना चाहिये प्रत्युत सब के साथ मिल कर उस का उपभोग करना चाहिये। और इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये हमें अपनी सम्पत्ति का दान करते रहना चाहिये। वेद में एक दूसरे स्थान पर कहा है—"जो व्यक्ति अकेला खाता है वह भोजन नहीं खाता, वह पाप खाता है[3]।" इस प्रकार वेद की सम्मति में भोजन और उस से उपलक्षित धन-सम्पत्ति का स्वार्थी बन कर स्वयं अकेले उपभोग करते रहना निरा पाप है। वेद-प्रतिपादित वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में वेद के इन सिद्धान्तों को स्वीकार करना आवश्यक है। जो लोग वेद के इन सिद्धान्तों को स्वीकार करेंगे और स्वार्थी बन कर अपनी धन-सम्पत्ति का अकेले उपभोग करने को पाप मानेंगे उन में लोभ और स्वार्थ पर आश्रित वे बुराइयाँ नहीं उत्पन्न होंगी जो पूंजीपतियों में हो जाती हैं वे तो सम्पत्ति के अकेले उपभोग के पाप से बचने के लिये, वेद के दान-सम्बन्धी उपदेश को मान कर, सदा उस का दान करते रहेंगे जिस से सब के साथ मिल कर उस का उपभोग किया जा सके।

पांच यम और पांच नियम

वेद और तदनुकूल धर्मशास्त्रों में मनुष्य के चरित्र को ऊंचा, पवित्र और धर्मिष्ठ बनाने के लिये अनेक उपदेश दिये गये हैं और अनेक कर्तव्य बताये गये हैं। इन सब कर्तव्योपदेशों

---

१. समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यंचोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।। अथर्व.।। ३.३०.६।
इस मन्त्र की और जिस सूक्त (अथर्व. ३.३०) का यह मन्त्र है उस की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' में देखिये।

२. सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्। अथर्व. ३.३०.७।

३. केवलाघो भवति केवलादी। ऋग्. १०.११७.६।

का सार और निचोड़ दस यम-नियमों में आ जाता है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम[1] कहलाते हैं। अपने मन और शरीर को तथा अपने चारों ओर की परिस्थितियों को स्वच्छ और निर्मल रखना 'शौच' है। अपने जीवन को चलाने के लिये आवश्यक ज्ञान-विज्ञान और धन-सम्पत्ति आदि प्राप्त करने के लिये यथोचित परिश्रम करने के अनन्तर हमें जितनी भी सफलता मिल जाये उस पर सन्तुष्ट और प्रसन्न रहना 'सन्तोष' है। सदा अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये उद्यत रहना, कर्तव्य-पालन के मार्ग में जो कष्ट और विघ्न-बाधाएं आयें उन से न घबरा कर उन को सहना और उन का सामना करना, कर्तव्य-पालन और उस में आने वाले कष्टों को सहने के योग्य अपने को बनाये रखने के लिये अपने जीवन को सादा, कष्ट-सहिष्णु, भोग-विलास और ऐसो-इशरत से दूर रहने वाला बना कर रखना तथा गरमी-सरदी, भूख-प्यास, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहने की आदत रखना 'तप' है। सत्य और धर्म का उपदेश करने वाले तथा विद्या-विज्ञान की वृद्धि करने वाले वेद आदि अच्छे-अच्छे ग्रन्थों को पढ़ते रहना जिस से मन में सदा अच्छे विचार ही उत्पन्न हों, तथा अपना आत्मनिरीक्षण कर के बुरे विचारों और आदतों को छोड़ते रहना और अच्छे विचारों और आदतों को ग्रहण करते रहना 'स्वाध्याय' है। ईश्वर की उपासना करना, अपने आपको ईश्वर के अर्पण कर देना, सब प्राणियों को ईश्वर की सन्तान और अत एव अपना भाई समझना और उन के कष्टों को दूर करने के लिये उद्यत रहना 'ईश्वर-प्रणिधान' है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम[2] कहलाते हैं। मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी को पीड़ा न देना और जो प्राणी कष्ट में पड़े हों उन के पास जा कर उन के कष्ट दूर करना 'अहिंसा' है। मन से न्याययुक्त सही बात ही सोचना, वचन से न्याययुक्त सही बात ही कहना और कर्म से न्याययुक्त सही बात ही करना तथा मन, वचन और कर्म की एकता रखना अर्थात् जो सोचा है वही कहना और जो सोचा तथा कहा है वैसा ही करना 'सत्य' है। अपने परिश्रम से जो धन-सम्पत्ति कमाई जाये केवल उसी का उपभोग करना, दूसरे की धन-सम्पत्ति को बिना उस की स्वीकृति और आज्ञा के कभी काम में न लाना तथा मन में लोभ के विचारों को उत्पन्न न होने देना 'अस्तेय' है। अपनी जननेन्द्रिय को वश में रखना, सोच-समझ कर सन्तान उत्पन्न करने के अतिरिक्त कभी भी अपने वीर्य को शरीर से बाहर न होने देना, इस के लिये अपनी सभी इन्द्रियों को वश में रख कर अपने मन को वश में रखना—क्योंकि सभी इन्द्रियों और

---

१. शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योगदर्शन २.३२।

२. तत्राहिंसा-सत्याऽस्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। योगदर्शन २.३०।

मन को वश में रखे बिना जननेन्द्रिय वश में नहीं हो सकती—और इस प्रकार मन में कभी शृंगार के विचारों और कामवासना को उत्पन्न न होने देना 'ब्रह्मचर्य' है। धन-सम्पत्ति का संग्रह न करना, यथासम्भव कम-से-कम धन-सम्पत्ति और दूसरे दुनियावी सामान अपने पास रखना 'अपरिग्रह' है।

ये दसों यम और नियम केवल साधु-सन्तों और योगी-महात्माओं के लिये ही नहीं हैं। वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिये इन का पालन करना आवश्यक है। मनुस्मृति[1] आदि धर्म-शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजा और प्रजा सब के लिये इन यम-नियमों का पालन करना आवश्यक है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में ये यम और नियम राष्ट्रवासियों के चरित्र का आवश्यक अंग माने गये हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में शिक्षा-संस्थाओं में इन के पालन पर विशेष बल दिया जाता है जिस से ये सभी राष्ट्रवासियों के चरित्र का अंग बन सकें। इन दसों में भी नियमों की अपेक्षा यमों के—अहिंसा आदि पांच के—पालन पर विशेष बल दिया जाता है[2]। शास्त्रों में इन यम-नियमों की विस्तृत व्याख्यायें की गई हैं। इस युग में ऋषि दयानन्द ने भी इन पर भारी बल दिया है और सत्यार्थ-प्रकाश में वर्णित अपनी शिक्षा-पद्धति में इन का विशेष स्थान रखा है। महात्मा गाँधी जी ने तो इन पर बहुत ही बल दिया है और इन की बड़ी विस्तृत व्याख्यायें की हैं। हम ने अति संक्षिप्त शब्दों में यहां इन का भावार्थ दे दिया है। जो लोग इन यम और नियमों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करेंगे उन में वे बुराइयों पैदा नहीं हो सकतीं जो पूंजीवादी पद्धति में पलने वाले, भोग और विलास के पीछे पड़े रहने वाले, लोगों में उत्पन्न हो जाती हैं।

अपरिग्रह

ऊपर वर्णित पांच यमों में एक यम 'अपरिग्रह' का है। यहाँ अपरिग्रह के अर्थ को थोड़ा विस्तार से समझ लेना चाहिये। यह शब्द संस्कृत के तीन पदों अ, परि और ग्रह से मिल कर बना है। ग्रह का अर्थ होता है चीजों को पकड़ कर अपने पास रखना। और परिग्रह का अर्थ होता

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः।। मनु. १०.६३।

२. यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्।।मनु. ४.२०४।

है चारों ओर से, सब तरफ से, चीजों को पकड़ कर अपने पास रखना। इधर से भी बटोर, उधर से बटोर, जहां से बटोरा जा सके वहाँ से बटोर और जितना बटोरा जा सके उतना बटोर—इस मनोभावना के वश में हो कर चीज़ों के संग्रह का नाम परिग्रह है। परिग्रहशील व्यक्ति बहुत लालची हो जाता है। उस के पास जितना भी हो वह उसे थोड़ा लगता है। वह और-और अधिक संग्रह करना चाहता है। उस की आवश्यकतायें बहुत अधिक बढ़ जाती हैं। वह अपनी इन बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये छटपटाता रहता है और इस छटपटाहट के परिणामस्वरूप वह अपनी आवश्यकताओं के लिये किसी भी उपाय का अवलम्बन करने के लिये उद्यत हो जाता है। उसे सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म किसी की चिन्ता नहीं रहती। वह धोखा-धड़ी, झूठ-फरेब, अन्याय और अत्याचार का सहारा लेकर भी अपनी बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के सामान जुटा लेना चाहता है। आज के पूंजीवादी लोग और पूंजीवाद की पद्धति पर चलने वाले राष्ट्र इसी प्रकार के परिग्रहशील व्यक्ति और राष्ट्र हैं। और उन की इस परिग्रहशीलता की वृत्ति के कारण आज के अधिकांश मनुष्यों को जो कष्ट, जो यन्त्रणायें और जो अशान्ति भोगनी पड़ रही है उसे हम सब जानते हैं। इस लेख के प्रारम्भ में उन की ओर कुछ संकेत भी किया गया है। 'परिग्रह' का उलटा होता 'अपरिग्रह'। हम ने संसार की चीज़ों को अपने पास इकट्ठा करने के पीछे पागल हो कर नहीं दौड़ना है। हम ने अपने पास सांसारिक धन-सम्पत्ति और सामग्री का बहुत कम संग्रह करना है। हम ने धन-सम्पत्ति और सामग्री का उतना ही संग्रह करना है जितना अपने कर्तव्य-कर्मों को ठीक से पूरा करते रहने के लिये नितान्त आवश्यक है। मैंने अपने लिये अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में से जो वर्ण चुना है और मैं ब्रह्मचर्य आदि जिस आश्रम में हूं, उस वर्ण और आश्रम के कर्तव्य-कर्मों को भली-भाँति पूरा करने के लिये जितनी सामग्री का होना नितान्त आवश्यक है उतनी ही सामग्री मुझे अपने पास संग्रह कर के रखनी चाहिये, न उस से कम और न उस से अधिक। भोग-विलास और ऐशोइशरत की प्रवृत्ति के वश में हो कर हमें अपनी आवश्यकतायें बहुत अधिक नहीं बढ़ानी चाहिये और उन की पूर्ति के लिये छटपटाते नहीं रहना चाहिये। हमें अपनी आवश्यकतायें यथासम्भव कम-से-कम रखनी चाहिये जिस से हमें उन की पूर्ति के लिये अधिक-से-अधिक सामग्री संग्रह करने में पागल हो कर दौड़ने की आवश्यकता न पड़े। मैं जिस पद और जिस स्थान पर हूं उस पद और उस स्थान के कर्तव्य-कर्मों को ठीक से पूरा करने के लिये जितनी सामग्री की मुझे आवश्यकता है उतनी ही सामग्री का संग्रह करना चाहिये।

कम भी नहीं और अधिक भी नहीं। सामग्री बिल्कुल ही न होने से मैं अपने कर्तव्यों को पूरा नहीं कर सकूंगा। और सामग्री का अधिक संग्रह करने की अवस्था में मैं भोग-विलास में फंस जाऊंगा और मुझ में लोभ-लालच की वृत्ति प्रबल हो जायगी। इस प्रकार सांसारिक चीज़ों के संग्रह के पीछे पागल हो कर न दौड़ते रहने तथा अपने कर्तव्यों को भली-भांति पूरा करने-भर के लिये आवश्यक कम-से-कम सामग्री के संग्रह करने का नाम 'अपरिग्रह' है। हमारी प्रवृत्ति सदा कम-से-कम संग्रह की ओर रहनी चाहिये, अधिक संग्रह की ओर नहीं। यह 'अपरिग्रह' का सिद्धान्त वर्णाश्रम-व्यवस्था के मुख्य सिद्धान्तों में से है। जो लोग इस प्रकार के अपरिग्रही रहेंगे वे धन-सम्पत्ति का संग्रह करने के लिये उस प्रकार के दूषित आचरण नहीं करेंगे जिस प्रकार के दूषित आचरण पूंजीवादी लोग करते हैं।

६.
चार वर्ण और चार आश्रम

जीवन को सादा, तपस्वी और सच्चरित्र बनाने, धन-सम्पत्ति का बहुत संग्रह न करने, तथा धन-सम्पत्ति का जो थोड़ा-बहुत संग्रह किया भी जाये उस का भी परोपकार के लिये दान करते रहने-सबन्धी वेद-शास्त्रों के इन उपदेशों पर जोर देने के अतिरिक्त वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में धन के महत्त्व को एक और प्रकार से भी कम किया गया है। इस पद्धति में व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों में और सारे समाज को चार वर्णों में विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने चुने हुए वर्ण के और उस-उस आश्रम के नियमों और कर्तव्य-कर्मों का पालन करेगा। जो लोग 'ब्राह्मण-वर्ण' को अपने लिये चुनेंगे उन्हें अपना जीवन विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञानों की उन्नति, आविष्कार और प्रचार में तथा जनता को सत्य और धर्म का उपदेश देने में लगाना पड़ेगा। इन्हें सांसारिक धन-सम्पत्ति कमाने के पीछे नहीं पड़ना होगा। इन्हें त्याग और तपस्या का अत्यन्त सादगी का जीवन बिताना होगा। जनता या राज्य से मिलने वाली जीवन-निर्वाह के लिये न्यूनतम आवश्यक दक्षिणा पर इन्हें सन्तुष्ट रहना होगा। जो लोग 'क्षत्रिय वर्ण' को अपने लिये चुनेंगे उन्हें अपना जीवन अन्याय-अत्याचार से जनता को बचाने तथा राष्ट्र की रक्षा में लगाना पड़ेगा। वे राष्ट्र के पुलिस, सेना और प्रबन्ध-सम्बन्ध (Administrative) विभागों में काम करेंगे। और जीवन-निर्वाह के लिये न्यूनतम आवश्यक जो दक्षिणा उन्हें राज्य की ओर से मिलेगी उसी पर उन्हें सन्तुष्ट रहना होगा। इन क्षत्रियों को भी धन-सम्पत्ति कमाने के पीछे नहीं पड़ना होगा। 'शूद्र वर्ण' के लोग तो किसी राष्ट्र में बहुत ही कम होंगे। क्योंकि

विद्या-विज्ञान सीखने का खुला अवसर देने पर भी जो लोग कुछ न सीख सकें और इसी लिये कोई भी बुद्धि-चातुर्य का काम (Skilled labour) न कर सकें ऐसे बुद्धिहीन लोगों को शूद्र[1] कहते हैं। ये लोग शेष तीनों वर्णों की सेवा का ही काम कर सकते हैं। किसी भी सुव्यवस्थित राष्ट्र में ऐसे बुद्धिहीन शूद्र लोगों की संख्या अति न्यून रहेगी। ये शूद्र भी धन-सम्पत्ति कमाने का काम नहीं कर सकेंगे, क्योंकि उन में इस के लिये आवश्यक योग्यता ही नहीं होगी। और यदि किसी में धन-सम्पत्ति कमाने की योग्यता उत्पन्न हो गई तो वह शूद्र नहीं रहेगा, वैश्य बन जायेगा। रहे वैश्य। जो लोग 'वैश्य वर्ण' का चुनाव अपने लिये करेंगे वे ही विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति कमाने का काम कर सकेंगे। इस प्रकार चारों वर्णो के लोगों में से केवल वैश्यों का ध्यान विशेष रूप से धन-सम्पत्ति कमाने की ओर रहेगा।

अब लीजिये आश्रमों को। 'ब्रह्मचर्य-आश्रम' विद्यार्थी-जीवन का आश्रम है। कम-से-कम २४ वर्ष की आयु तक बालक और १६ वर्ष की आयु तक बालिकायें, ब्रह्मचारी रहते हुए इस आश्रम में भाँति-भाँति के विद्या-विज्ञान सीखते हैं और अपनी रुचि और स्वाभाविक योग्यता के अनुसार ब्राह्मणादि वर्णों में से किसी एक वर्ण के योग्य अपने को बनाते हैं। यह तैयारी का आश्रम है। इस आश्रम में बालकों को अपने शरीर को स्वस्थ और बलवान् बनाना होता है, अपने मन को विविध प्रकार के विद्या-विज्ञानों से भरना होता है और आत्मा को सत्य, न्याय, दया, संयम, नियम-पालन आदि की उदात्त आत्मिक भावनाओं से युक्त करना होता है। इस आश्रम में बालक-बालिका क्रियात्मक रूप में धन-सम्पत्ति कमाने के कार्य से सर्वथा दूर रहते हैं। ब्रह्मचर्य के पश्चात् 'गृहस्थ-आश्रम' में आ कर व्यक्ति को धन-सम्पत्ति कमाने का कार्य करना होता है। गृहस्थ-आश्रम में भी, जैसा अभी ऊपर कहा है, विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति कमाने का काम वैश्य वर्ण के लोगों को ही करना होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र वर्ण के लोग गृहस्थ-आश्रम में भी धन-सम्पत्ति कमाने के पीछे नहीं पड़ेंगे। वे तो जनता या राज्य की ओर से जीवन-निर्वाह के लिये न्यूनतम आवश्यक जो दक्षिणा उन्हें मिलेगी उसी पर सन्तुष्ट रहेंगे। गृहस्थ-आश्रम के पश्चात् 'वानप्रस्थ-आश्रम' आता है। पच्चीस-तीस वर्ष तक गृहस्थ का जीवन

१. ऋषि दयानन्द ने शूद्र का अर्थ इस प्रकार किया है--"जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो वह शूद्र", (संस्कारविधि, गृहस्थाश्रम प्रकरण)। "जो मूर्खत्वादि गुण वाला हो वह शूद्र", (सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास)।

व्यतीत कर के प्रत्येक व्यक्ति को वानप्रस्थ-आश्रम में जाना होता है। वानप्रस्थ-आश्रम में धन-सम्पत्ति कमाने का कार्य बन्द कर देना होता है। यह कार्य वानप्रस्थ लोग अपनी सन्तान को सौंप आते हैं। वानप्रस्थ-आश्रम में व्यक्ति को ब्रह्मचर्याश्रम की भाँति ही त्याग, तपस्या और संयम का जीवन बिताना होता है। वानप्रस्थ लेकर व्यक्ति गुरुकुलों में चला जाता है और अपना समय वहां राष्ट्र के बच्चों को निःशुल्क शिक्षा देने में लगाता है तथा इस काम से बचे हुए समय को स्वाध्याय, चिन्तन और आत्मिक उन्नति में बिताता है। वानप्रस्थ आश्रम के पश्चात् 'संन्यास-आश्रम' है। यह आश्रम सब लोगों के लिये नहीं है। जो लोग पहले तीन आश्रमों में तैयारी कर के अपने को ब्राह्मण बना लेते हैं उन्हें ही संन्यास-आश्रमों में जाने का अधिकार है। पहले तीन आश्रम सब वर्णों वालों के लिये हैं और संन्यास-आश्रम केवल ब्राह्मणों के लिये है। संन्यास-आश्रम में तो सांसारिक सभी चीजों का परित्याग कर दिया जाता है। इस आश्रम में व्यक्ति को पूर्ण त्यागी, तपस्वी, संयमी और निर्लेप हो कर प्राणी-मात्र का मित्र बन कर संसार के लोगों को सत्य और धर्म का उपदेश देते हुए विचरना होता है। इस आश्रम में धन-सम्पत्ति कमाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में केवल वैश्य वर्ण के लोगा ही गृहस्थ-आश्रम में जा कर विविध प्रकार की धन-सम्पत्ति कमाने का कार्य करते हैं। वैश्यों को भी वानप्रस्थ में जा कर यह धन-सम्पत्ति कमाने का काम छोड़ देना होता है। शेष ब्राह्मणादि तीन वर्णों के लोग धन-सम्पत्ति कमाने के पीछे जाते ही नहीं। इन ब्राह्मणादि तीनों वर्णों के लोगों को गृहस्थ-आश्रम में जनता या राज्य की ओर से दक्षिणा के रूप में जो थोड़ी-बहुत धन-सम्पत्ति मिलती थी वानप्रस्थ-आश्रम में जा कर वे उसे कमाना भी बन्द कर देते हैं। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम बना लेता है और गृहस्थ-जनता से मिलने वाली भिक्षा और दान पर अपना निर्वाह करता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में ढल कर अपना जीवन बिताने वाले लोगों की धन के सम्बन्ध में मनोवृत्ति पूंजीवादी पद्धति में पलने वाले लोगों से सर्वथा भिन्न प्रकार की हो जाती है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में पला व्यक्ति सोचता है कि जब उसे ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में धन-सम्पत्ति से दूर रह कर त्याग, तपस्या और सादगी का जीवन बिताना है, जब उसे वैश्य वर्ण को अपने लिये चुन लेने की अवस्था में ही धन-सम्पत्ति कमाने के काम को करना है और वह भी गृहस्थ-आश्रम में ही करना है, जब वानप्रस्थ में जाने के समय उसे यह धन-सम्पत्ति कमाने का कार्य फिर छोड़ देना है, और जब गृहस्थ-आश्रम में भी अपने शास्त्रों की आज्ञा और उस

आज्ञा का पालन करने के अपने व्रत के अनुसार अपनी सम्पत्ति का परोपकार में दान करते रहना है और यथासंभव अपरिग्रह का जीवन बिताना है, तब धन के लोभ और मोह-ममता में पड़ कर उसे कमाने के लिये असत्य, अन्याय और अधर्म का आसरा क्यों लिया जाये तथा धन को कमाने में सहायता करने वाले अपने नौकरों और मजदूरों की योग्यता और श्रम को लूट कर उन पर अत्याचार क्यों किया जाये, क्यों न उन को अपना सहयोगी समझ कर उन के श्रम का यथोचित पारिश्रमिक उन्हें दिया जाय ? वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में ढला व्यक्ति इस प्रकार के विचारों वाला बन जाता है। और उस में वे दोष नहीं उत्पन्न होते जो पूंजीवादी पद्धति में पलने वाले व्यक्ति में हो जाते हैं।

इस प्रकार हम ने देखा कि वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में धन का महत्त्व बहुत कम कर दिया गया है। धन का महत्त्व कम हो जाने के कारण व्यक्ति उस के संग्रह के पीछे पागल हो कर नहीं पड़ता और उस के लिये सत्य, न्याय तथा धर्म का मार्ग छोड़ने के लिये उद्यत नहीं होता। धर्म-पूर्वक जितना धन कमाया जा सके उतना ही कमाता है और कमा कर उस का खर्च भी धर्म-पूर्वक ही करता है। पूंजीवादी पद्धति से वर्णाश्रम-व्यवस्था का यह बड़ा भारी भेद है।

वर्णों का चुनाव

वर्णाश्रम-व्यवस्था पर आधारित समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में आगे विचार करने से पहले हमें वर्णों का वास्तविकता स्वरूप समझ लेना चाहिये। वर्ण शब्द 'वृञ्' धातु से बनता है जिस का अर्थ वरण अर्थात् चुनाव करना होता है। इस लिये 'वर्ण' पद का शब्दार्थ होता है—जिस का वरण किया जाये, जिसका चुनाव किया जाये।[1] ब्राह्मण आदि वर्ण इस लिये कहे जाते हैं कि व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार उन का वरण, चुनाव, करता है। संस्कृत में ब्रह्मचारी या विद्यार्थी के लिये एक शब्द 'वर्णी' भी प्रयुक्त होता है। 'वर्णी' का अर्थ होता है वर्ण वाला अर्थात् जिसने अपने लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों में से किसी एक को चुन रखा है। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य-आश्रम में ब्राह्मण आदि में से किसी एक वर्ण को अपने लिये चुन लेता है और उस के योग्य अपने आप को बनाने की तैयारी करता है, जिस से गृहस्थ आश्रम में जा कर वह उस वर्ण के कर्त्तव्य-कर्मों का भली-भांति पालन कर सके, इस लिये ब्रह्मचारी को 'वर्णी' कहा जाता है।

---

१. वर्णो वृणोतेः। निरुक्त २.३।

व्रत-ग्रहण-पूर्वक विद्याध्ययन

ब्रह्मचारी के लिये संस्कृत में एक और शब्द प्रयुक्त होता है। वह शब्द है 'व्रती'। 'व्रती' का शब्दार्थ होता है जिस ने व्रत अर्थात् प्रतिज्ञा (Pledge) ले रखी है। ब्रह्मचारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में से किसी एक वर्ण को अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार अपने लिये चुन लेता है, अपने को उस के योग्य बनाता है, और जीवन भर उस वर्ण के कर्तव्य-कर्मों को निभाने का व्रत लेता है, इस लिये वह 'व्रती' कहलाता है। वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था में प्रत्येक विद्यार्थी को अपने अध्ययन-काल में ब्राह्मणादि में से किसी एक वर्ण का आवश्यक रूप से चुनाव करना होगा, उस के अनुकूल विद्या-विज्ञान सीख कर अपने को उस के योग्य बनाना होगा, और जीवन-भर उस वर्ण के कर्तव्य-कर्मों का पालन करने का व्रत (Pledge) लेना होगा[1]।

---

१. वैदिक मर्यादा में प्रत्येक व्यक्ति के सोलह संस्कार होते हैं। इन संस्कारों में से एक संस्कार उपनयन-संस्कार भी है। उपनयन-संस्कार ब्रह्मचारी रह कर विद्या पढ़ने के लिये गुरुकुल में जाने के समय किया जाता है। उपनयन के समय विद्यार्थी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में से किसी एक वर्ण को चुन कर उस वर्ण के कर्तव्य-कर्मों के अनुकूल विद्या-विज्ञानों को पढ़ने का निश्चय करता है। उपनयन-संस्कार की मुख्य विधि तो तीनों वर्णों के लिये समान है। परन्तु दण्ड, मेखला, वस्त्र और यज्ञोपवीत की बनावट आदि अवान्तर बातों के विषय में तीनों वर्णों के लिये अलग-अलग विधान हैं। उपनयन-संस्कार दो बार होता है। एक तो गुरुकुल में जाने से पहले अपने माता-पिता के घर में और दूसरा आचार्य के पास जा कर गुरुकुल में (देखो सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)। अपने घर में माता-पिता द्वारा बालक का उपनयन कराये जाने का अभिप्राय यह है कि बालक के माता-पिता स्वयं जिस वर्ण के हैं उन का बालक कम-से-कम उस वर्ण का तो बने ही, ऐसी आशा वे रखते हैं। फिर गुरुकुल में जा कर दूसरी बार उपनयन कराये जाने का भाव यह है कि बालक ने सोच-विचार कर स्वयं निश्चय कर लिया है कि वह किस वर्ण का ब्रह्मचारी बनना चाहता है। जब तक एक बालक स्वयं निश्चय न कर लेगा कि वह किस वर्ण का ब्रह्मचारी बनना चाहता है, तब तक गुरुकुल में आचार्य द्वारा उस का उपनयन नहीं होगा। वह यों ही गुरुकुल में रह कर पढ़ता रहेगा और अपने लिये वर्ण के चुनाव की तैयारी करता रहेगा। बालक द्वारा अपने वर्ण का निश्चित चुनाव कर लिये जाने पर आचार्य उस का उपनयन करेगा। ब्राह्मण बनना चाहने वाले बालक को पांच वर्ष की आयु से लेकर सोलह वर्ष की आयु तक अपने वर्ण का निश्चय कर लेना चाहिये। क्षत्रिय बनना चाहने वाले बालक को छठे वर्ष से लेकर बाईसवें वर्ष की आयु तक अपने वर्ण का निश्चय कर लेना चाहिये। और वैश्य बनना चाहने वाले बालक को आठवें वर्ष से लेकर चौबीसवें वर्ष की आयु तक अपने वर्ण का निश्चय कर लेना चाहिये। (मनु. २.३६-३९)। जो ब्राह्मण नहीं बन सकता है वह क्षत्रिय बने तथा जो ब्राह्मण और

मनुष्य-समाज के तीन शत्रु : अभाव, अज्ञान और अन्याय

ब्राह्मण आदि में से किसी एक वर्ण को अपने लिये चुन कर उस के कर्तव्य-कर्मों को पालन करने का यह व्रत किस लिये लिया जाता है ? मनुष्य-समाज के तीन बड़े शत्रु हैं जिन के कारण मनुष्य पीड़ित रहते हैं। वे हैं–(१) अभाव, (२) अज्ञान, और (३) अन्याय।

यदि राष्ट्र में लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक सामान उत्पन्न नहीं होता तो आवश्यक सामान के उस अभाव के कारण राष्ट्र के लोग पीड़ित रहेंगे। यदि राष्ट्र में अन्न नहीं पैदा होता है या कम पैदा होता है तो लोगों को भूख का कष्ट सहना पड़ेगा। यदि राष्ट्र में वस्त्र नहीं तैयार होते या कम तैयार होते हैं तो लोगों को नंगे रह कर ऋतुओं की कठोरता के कष्ट सहने पड़ेंगे। यदि राष्ट्र में मकानों की कमी है तो भी लोगों को ऋतुओं की कठोरता के कष्ट सहने पड़ेंगे। यदि राष्ट्र में आवश्यक ओषधियें नहीं बनतीं तो उन के अभाव में लोगों को रोगों के कष्टों से पीड़ित रहना पड़ेगा। इसी प्रकार अन्य चीजों के अभाव में भी उस-उस प्रकार के कष्ट सहने पड़ेंगे। ये सब कष्ट 'अभाव' के कष्ट हैं।

राष्ट्र में प्राकृतिक सामग्री तो बहुत है पर लोगों को उस प्राकृतिक सामग्री से अपनी

क्षत्रिय में से कोई भी नहीं बन सकता वह वैश्य बने। जो इन तीनों में से किसी वर्ण की भी योग्यता प्राप्त करने के योग्य नहीं होगा वह जड़-बुद्धि बालक शूद्र रह जायेगा। किसी घर में जन्म होने के कारण कोई व्यक्ति शूद्र नहीं होता है। अति मन्द-बुद्धि होने के कारण पढ़ने-लिखने की दिमागी योग्यता न होने से ही कोई व्यक्ति शूद्र बनता है। ब्राह्मण माता-पिता का बालक भी शूद्र हो सकता है और शूद्र माता-पिता का बालक भी ब्राह्मण बन सकता है। वर्ण-व्यवस्था जन्म पर निर्भर नहीं करती। वह गुण, कर्म और स्वभाव पर निर्भर करती है। इस सम्बन्ध में शास्त्रों में अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। स्थानाभाव से यहां वैसा नहीं किया जा सकता। अति प्राचीन काल में वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मानुसार ही होती थी। पौराणिक हिन्दूओं में जो जन्म पर आश्रित वर्ण-व्यवस्था मानी जाती है वह मध्य-युग में भ्रांति से चल पड़ी है। और भ्रांति पर आधारित इस जन्म की वर्ण-व्यवस्था से हिन्दूओं की उन्नति में बहुत बाधा पहुंचती रही है। अस्तु। उपनयन-संस्कार की जो व्यवस्था शास्त्रों में पाई जाती है उस का मर्माशय इतना ही है कि प्रत्येक बालक को अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार किसी-न-किसी वर्ण का चुनाव कर के तदनुकूल विद्याध्ययन और कर्तव्य-कर्म करने का व्रत लेना चाहिये। व्रत (Pledge) लेकर विद्याध्ययन करने-कराने का यह सिद्धान्त शिक्षा के क्षेत्र में वर्णाश्रम-व्यवस्था पद्धति की निराली देन है।

आवश्यकता की भांति-भांति की चीज़ें बनाने का ज्ञान नहीं है, और इस लिये कष्ट में रहते हैं। यह कष्ट उन के अज्ञान के कारण है। अथवा चीज़ें तो हमारे पास हैं पर हमें उन से उपयोग लेना नहीं आता, हमें उन के उपयोग का ज्ञान नहीं है, तब भी हम पीड़ित रहेंगे। गेहूं हमारे पास है पर हमें उस से भोजन बनाना नहीं आता तो इस अज्ञान के कारण हमें भूख से पीड़ित रहना पड़ेगा। तैयार भोजन भी हमारे पास है, पर हमें भोजन करने के नियमों का ज्ञान नहीं है। हम बार-बार खाते रहते हैं और भूख से ज्यादा खाते रहते हैं तो बदहज़्मी हो जायेगी और उस से उत्पन्न होने वाले रोग हमें लग जायेंगे। हमें इन रोगों का कष्ट भोगना पड़ेगा। इस प्रकार के कष्ट 'अज्ञान' के कष्ट हैं।

हमें सामान तैयार करने का ज्ञान भी है, उस ज्ञान से हम ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक सामान भी तैयार कर लिया है, परन्तु कुछ अन्यायी और अत्याचारी लोग हमारे सामान को ज़बरदस्ती छीन कर ले जाते हैं तो उन के इस अन्याय के कारण भी हमें कष्ट में रहना पड़ेगा। हमें खेती करनी आती है, उस से हम ने अन्न भी खूब पैदा कर लिया है, अन्न से भोजन बनाना भी हमें आता है और भोजन करने के नियमों का भी हमें ज्ञान है। परन्तु कुछ अन्यायी लोग बल का प्रयोग कर के गांव के सारे लोगों का अन्न छीन कर ले जाते हैं। तो उन कुछ लोगों के अन्याय के कारण सारे गांव के लोगों को भूख का कष्ट सहना पड़ेगा। यह कष्ट अन्याय के कारण है। अन्याय बल का प्रयोग कर के ही नहीं किया जाता, चतुराई का प्रयोग कर के, झूठ बोल कर, धोखा दे कर, ठग कर भी किया जाता है। किसी प्रकार से हो, अन्यायी लोग अन्याय कर के लोगों को पीड़ित करते हैं। ये सब कष्ट 'अन्याय' के कष्ट हैं।

ब्राह्मणों का व्रत

ब्राह्मण वे लोग हैं जो प्रजा के 'अज्ञान' को दूर करने का 'व्रत' ले लेते हैं। ये लोग सत्य के परिशोध में लगे रहते हैं। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाली सचाइयों का पता लगा कर विभिन्न प्रकार के विद्या-विज्ञानों का ये लोग आविष्कार करते हैं। और उस अपने विद्या-विज्ञान का ये लोग निःस्वार्थ भाव से प्रजा में प्रचार करते हैं, क्योंकि जनता के अज्ञान को दूर करना इन्होंने अपना धर्म बना रखा होता है। कोई ब्राह्मण अपनी रुचि के अनुसार किसी विद्या-विज्ञान के अध्ययन और अध्यापन में लग जाता है और कोई किसी के। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के विद्या-विज्ञानों का अध्ययन और अध्यापन इन का क्षेत्र

रहता है। इस लिये धर्म के सच्चे रहस्य का पता लगाना और उस का प्रचार करना भी ब्राह्मणों का कर्तव्य रहता है। ये लोग धर्म के तत्त्वों को स्वयं अपने जीवन में ढालते हैं और जनता में उन का प्रचार करते हैं। इन का जीवन पूर्ण सत्य-निष्ठ, संयमी तपस्वी और सादा रहता है। ऊपर वर्णित यम और नियमों को अपने जीवन में ढालने का ये लोग विशेष रूप से प्रयत्न करते हैं। और इस प्रकार अपने जीवन को आदर्श बना कर ये लोग अपने जीवन और प्रचार द्वारा जनता के चारित्रिक स्तर को उन्नत करते रहते हैं। अपनी विद्या को ये लोग बेचते नहीं। विद्या-दान की कोई कीमत नहीं ठहराते। जो कोई श्रद्धा से जितना दे दे उसे ले लेते हैं। जो दक्षिणा दे सके उसे भी पढ़ाते हैं और जो न दे सके उसे भी पढ़ाते हैं। पढ़ाने में भेद नहीं करते। निष्काम भाव से सब को विद्या-दान करते हैं, क्योंकि विद्यादान करना इन के जीवन का व्रत और धर्म होता है। इस प्रकार जनता के भांति-भांति के अज्ञानों को दूर करने के लिये विविध विद्या-विज्ञानों की उन्नति, आविष्कार और प्रचार में लगे रहने का जो लोग व्रत ले लेते हैं और अपना सारा जीवन निष्काम भाव से इसी काम में खपा देते हैं उन्हें ब्राह्मण कहते हैं।

आर्य-शास्त्रों के अनुसार राज्य के न्यायालयों के न्यायाधीश और राज्य के मन्त्री भी ब्राह्मण लोगों को ही बनाया जायेगा। क्योंकि तप, त्याग, सादगी, सत्य और धर्म का जीवन बिताना ब्राह्मणों का विशेष 'व्रत' रहता है और क्योंकि धन-सम्पत्ति के संग्रह से ब्राह्मण लोग दूर रहते हैं, उन का जीवन विशेष रूप से 'अपरिग्रह' का होता है, उन्होंने अपनी कोई जमीन-जायदाद नहीं बनानी होती है, इस लिये ब्राह्मण लोग निःस्वार्थ भाव से सही-सही न्याय करेंगे और निःस्वार्थ भाव से प्रजा के हित के लिये सही राजनीति बनायेंगे और उस का सही पालन करेंगे। इसी लिये न्यायाधीश और मन्त्री ब्राह्मणों को बनाया जाता है। आर्य लोगों में राज-मन्त्री का आदर्श ब्राह्मण चाणक्य का है जो कि भारत-वर्ष के चक्रवर्ती सम्राट् का मन्त्री होते हुए भी स्वयं फूंस की झोंपड़ी[1] में रहा करता था।

क्षत्रियों का व्रत

जो लोग 'अन्याय' से प्रजा की रक्षा करने का 'व्रत' ले लेते हैं उन्हें क्षत्रिय कहा जाता है। ये लोग जहां अन्य विद्याओं का अध्ययन करेंगे वहां राजनीति और शस्त्रास्त्रों के बनाने

१. उपलशकलमेतद्भेदकं गोमयानां बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभिरवनतपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम्।।

मुद्राराक्षस ३.१५।

और उन के चलाने की विद्याओं का विशेष अभ्यास करेंगे। अपने अन्दर शारीरिक बल को बढ़ाने का भी ये लोग विशेष प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार अन्याय के विरुद्ध लड़ने के योग्य अपने को ये लोग बना लेंगे। ये क्षत्रिय लोग राज्य की पुलिस, सेना और प्रबन्ध-सम्बन्धी (Administrative) विभागों में, जहां वीरता और शारीरिक शक्ति की अपेक्षया अधिक आवश्यकता होती है, काम करेंगे। ब्राह्मण मन्त्रियों द्वारा निर्धारित नीतियों के अनुसार चल कर राज्य का शासन चलाना क्षत्रियों का काम होता है। राज्य-शासन का यह काम इस प्रकार किया जायेगा कि कोई किसी पर अन्याय न कर सके, कोई किसी को ठग न सके, कोई सबल किसी निर्बल को सता न सके। इस प्रकार अन्याय से प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों का 'व्रत' और धर्म होगा। क्षत्रिय लोग धन-सम्पत्ति कमाने के पीछे नहीं पड़ेंगे। राज्य द्वारा जो वेतन या दक्षिणा उन्हें मिलेगी उसी पर वे सन्तुष्ट रहेंगे। निष्काम भाव से प्रजा की रक्षा कर के अपने 'व्रत' का पालन करना ही उन का उद्देश्य होगा। और अपने इस व्रत के पालन में वे अपना रुधिर बहाने और सिर कटाने के लिये भी सहर्ष उद्यत रहेंगे।

वैश्यों का व्रत

जो लोग यह 'व्रत' ले लेंगे कि वे प्रजा को उन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक सामग्री के 'अभाव' से कष्ट नहीं होने देंगे वे वैश्य कहलायेंगे। वैश्य लोग अन्य विद्याओं को पढ़ने के अतिरिक्त राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति (Material Wealth) को बढ़ाने वाली विद्याओं का विशेष रूप से अध्ययन करेंगे। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कोई वैश्य कृषि की विद्या सीखेगा, कोई पशु-पालन की विद्या सीखेगा, कोई व्यापार-विषयक विद्याओं को पढ़ेगा, कोई किसी प्रकार के उद्योग (Industry) सम्बन्धी विद्या को सीखेगा और कोई किसी प्रकार के, कोई किसी प्रकार के कला-कौशल (Arts and Crafts) से सम्बन्धित विद्या का अध्ययन करेगा और कोई किसी प्रकार के। ये लोग राष्ट्र के लोगों के जीवन में काम आने वाली भांति-भांति की चीजों का निर्माण करेंगे और व्यापार द्वारा उन चीजों को जनता तक पहुंचायेंगे। इस प्रकार भांति-भांति की चीजों का निर्माण और व्यापार कर के जनता के 'अभाव' के कष्टों को दूर करना और राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति (Material Wealth) को बढ़ाना इन वैश्यों का 'व्रत' होगा।

राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति को बढ़ाने का यह कार्य वैश्य लोग, निष्काम भाव से राष्ट्र की सेवा की भावना से अपना 'व्रत' और धर्म समझ कर करेंगे। राष्ट्र के ब्राह्मणों ने निष्काम

भाव से प्रजा में विद्या-विज्ञानों, सत्य, न्याय और धर्म के प्रचार का 'व्रत' लिया है, क्षत्रियों ने निष्काम भाव से, अन्याय से प्रजा की रक्षा करने का 'व्रत' लिया है, कोई ऊंची योग्यता न होने के कारण शूद्रों ने शेष तीनों वर्णों के लोगों की सेवा का 'व्रत' लिया है। ब्राह्मण और क्षत्रिय धन-सम्पत्ति कमाने में अपना समय नहीं लगा सकते क्योंकि वैसा करने से राष्ट्र के लिये अत्यन्त उपयोगी उन कामों की हानि होगी जिन्हें वे कर रहे हैं। शूद्र में धन-सम्पत्ति कमाने की योग्यता ही नहीं है—वह तो सेवा ही कर सकता है। इस लिये वैश्य लोग यह 'व्रत' लेते हैं कि 'अज्ञान' से राष्ट्र की रक्षा का व्रत ने वाले ब्राह्मणों की, 'अन्याय' से रक्षा का व्रत लेने वाले क्षत्रियों की, और सेवा का व्रत लेने वाले शूद्रों की, पालना का काम निष्काम भाव से हम करेंगे। अपने राष्ट्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्रों को धन-सम्पत्ति के अभाव का कष्ट हम नहीं होने देंगे यह 'व्रत' वैश्य लोग लेते हैं। वैश्य लोग अपनी धन-सम्पत्ति से जहां अपनी पालना करते हैं वहां वे अपनी धन-सम्पत्ति से शेष ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की भी पालना करते हैं।

केवल धन-सम्पत्ति कमा लेने वाले को वैश्य नहीं कहते। धन-सम्पत्ति तो बहुत सी डाकू भी इकट्ठी कर लेता है। वह वैश्य नहीं है। यह दस्यु है, दण्डनीय है। वैश्य वह है जो धर्म-पूर्वक धन-सम्पत्ति कमाता है और कमाई हुई सम्पत्ति को राष्ट्र के लोगों के भले के लिए खर्च कर देता है और ऐसा करना अपना 'व्रत' और धर्म समझता है। वर्णाश्रम-धर्म के रंग में रंगा हुआ वैश्य अपने नौकरों और मज़दूरों का पेट नहीं काटेगा, प्रत्युत उन्हें अधिक-से-अधिक वेतन देगा। क्योंकि वह तो अपने 'व्रत' के अनुसार कमाता ही एक प्रकार से उनके लिये है। सच्चा वैश्य राज्य को दिये जाने वाले करों (Taxes) को छिपायेगा नहीं, वह राज्य द्वारा लगाये गये सब करों को पूरा-पूरा देगा। क्योंकि वह जानता है कि उस के इन करों के धन से राष्ट्र के क्षत्रिय आदि की पालना हो रही है, और वह तो अपने 'व्रत' के अनुसार कमाता ही उन की पालना के लिये है। अपने नौकरों को अच्छा वेतन देने और राज्य के करों को चुकाने के बाद जो धन उस के पास बचा रहता है उस का भी वह दान करता रहता है। कहीं विद्यालय खुलवा देता है, कहीं औषधालय खुलवा देता है, कहीं कोई अनुसन्धानशाला खुलवा देता है और कहीं कोई अनाथालय। यदि कोई नई संस्था चलाने का सामर्थ्य अपने में नहीं है तो पहले से चल रही संस्थाओं को ही अधिक-से-अधिक सहायता देता है। अपने नगर के ब्रह्मचारियों की सहायता करता है, ब्राह्मणों की सहायता करता है। वानप्रस्थ और संन्यासी लोगों की सहायता करता

है। विधवाओं और अनाथों की सहायता करता है। क्योंकि वह तो अपने 'व्रत' के अनुसार कमाता ही इन सब की पालना के लिये है। वह जो कुछ कमाता है उस में उस का अपना हिस्सा तो बहुत थोड़ा होता है। उस का अधिक भाग तो राष्ट्र के लिये कमाया जाता है। जो लोग इस प्रकार 'अभाव' के कष्टों से राष्ट्र के लोगों की रक्षा करने का 'व्रत' ले लेते हैं उन्हें वैश्य कहा जाता है।

सब वर्णों वाले अपने को राष्ट्र का न्यासरक्षक (ट्रस्टी) समझते हैं

इस प्रकार वर्णों का चुनाव कर के उन के कर्तव्य-कर्मों को जीवन भर पालन करने का 'व्रत' ले कर जो लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनेंगे उन का अपना कुछ नहीं होगा। उन का सब कुछ राष्ट्र के लिये होगा। उन की ज्ञान, बल और धन की सब शक्ति राष्ट्र के भले में खर्च होगी। वे तो अपनी इन सब शक्तियों के साथ उस प्रकार का ममत्व रखेंगे जिस प्रकार का ममत्व किसी न्यास (ट्रस्ट=Trust) के न्यासरक्षकों (ट्रस्टियों=Trusties) का उस न्यास (ट्रस्ट) की सम्पत्ति के साथ होता है। वे अपने को एक प्रकार से न्यासरक्षक (ट्रस्टी) समझ कर ही अपनी इन सब शक्तियों को राष्ट्र के लोगों की भलाई में लगायेंगे। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति के अनुसार इस प्रकार वर्णों की दीक्षा और व्रत लेने वाले लोगों में पूंजीवाद की पद्धति की कोई भी बुराई नहीं आ सकती।

शिक्षा के क्षेत्र में वर्णाश्रम-व्यवस्था का अनूठा सिद्धान्त

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति शिक्षा के क्षेत्र में यह 'वर्णों के चुनाव और व्रत' का एक अनूठा और अत्यन्त मूल्यवान् सिद्धान्त देती है। इस सिद्धान्त को क्रिया में लाने से ही संसार के कष्ट वास्तव में दूर हो सकते हैं। प्राचीन भारत में इस सिद्धान्त के अनुसार ही शिक्षणालयों में विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती थी। तभी भारत में 'रामराज्य' रहता था। आज तो संसार के शिक्षा-शास्त्री इस सिद्धान्त को जानते तक नहीं।

७.
वर्णों का शक्ति-सन्तुलन

पीछे हम ने कहा था कि आज की पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में तो धन इतना 'सर्वे-सर्वा' बना हुआ है कि सब कुछ धन से ही मिलता है। शारीरिक सुख-आराम तो धन से मिलते ही हैं। मान-प्रतिष्ठा भी धनियों की ही होती है, और, राज्य-शासन भी धनियों के ही हाथ में रहता है।

वर्ण-व्यवस्था की पद्धति में यह बात नहीं है। वहां ये तीनों चीज़ें धनियों के हाथ में नहीं रहने पायेंगी। उस पद्धति में 'ब्राह्मण' लोगों को—उन लोगों को जो लोग त्यागी, तपस्वी, संयमी और सत्यनिष्ठ रह कर विद्या-विज्ञानों, न्याय, सत्य और धर्म के प्रचार में लगे रहते हैं—मान-प्रतिष्ठा सब से अधिक मिलेगी।[1] किसी भी सभा-समाज में, उत्सव-समारोह में, और राज-दरबार में सब से अगला और प्रतिष्ठित स्थान बैठने के लिये ब्राह्मणों को दिया जायेगा। ब्राह्मण के आ जाने पर राजा भी अपना आसन छोड़ कर खड़ा हो जायेगा और उस का अभिवादन और सत्कार करेगा। शास्त्रों में लिखा है कि सड़क पर राजा की सवारी जा रही हो, और सामने से कोई गुरुकुल से पढ़ कर निकला नया स्नातक, कोई श्रोत्रिय ब्राह्मण अथवा कोई संन्यासी, आ जाये तो राजा को एक तरफ खड़े हो कर उन के जाने के लिये मार्ग छोड़ देना होगा। आज तो बेचारे स्कूल-मास्टरों को कोई भी प्रतिष्ठा नहीं देता। उन का वेतन कम होने के कारण उन्हें सन्मान के योग्य नहीं समझा जाता। उन्हें सब कहीं सब से पीछे की कतार में खड़ा होना पड़ता है। पर वर्णाश्रम-व्यवस्था में अध्यापक की, ब्राह्मण की, सब से अधिक प्रतिष्ठा है। धनी लोगों को तो जहां कहीं भी वे जायेंगे उन्हें ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बाद तीसरी पंक्ति में बैठने की जगह मिलेगी। राज्य के नियम इस प्रकार के रहेंगे।

यह जो ब्राह्मणों को मान-प्रतिष्ठा दी जाती है ब्राह्मणों को तो उस की भी इच्छा नहीं रहती। शास्त्रों में लिखा है कि ब्राह्मण को सन्मान से विष की तरह बच कर परे भागना चाहिये[2]। पर समाज अपने कल्याण के लिये ब्राह्मणों का सब से अधिक मान और सत्कार करता है। ब्राह्मण बनना बड़ा कठिन है। बहुत थोड़े लोग ब्राह्मण बनते हैं। ब्राह्मणों का मान और सत्कार होते देख कर नवयुवकों को ब्राह्मण बनने की इच्छा होगी। और उन के द्वारा राष्ट्र में विद्या-विज्ञान और धर्म का प्रचार हो कर समाज का कल्याण होगा। इस लिये समाज अपने भले के लिये ब्राह्मणों का सब से अधिक सत्कार करता है। इस के अभाव में आज तो यह अवस्था है कि कोई स्कूल-मास्टर नहीं बनना चाहता है, और कोई काम न मिलने पर स्कूल-मास्टर बन भी गये तो, धन कमाने का अवसर मिलते ही मास्टर लोग स्कूल की नौकरी छोड़ कर भाग जाते हैं।

---

१. मनु. २। १३५-१३६।

२. सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा।। मनु. २.१६२।

वर्णाश्रम-व्यवस्था में राज्य-शासन की प्रभुता 'क्षत्रियों' के हाथ में रहेगी। और ये क्षत्रिय लोग राजनीति के ज्ञाता ब्राह्मणों के निर्देश में चल कर अपनी इस प्रभुता का, अपनी इस शक्ति का, प्रयोग करेंगे। राज-सत्ता से मिलने वाली प्रभुता वैश्यों के हाथ में नहीं जाने दी जायेगी। क्षत्रियों को मान और प्रतिष्ठा ब्राह्मणों के पश्चात् दूसरी कोटि पर मिलेगी।

'वैश्य' लोगों को धन-सम्पत्ति से मिलने वाले सुख और आराम अन्य वर्णों से अधिक मिलेंगे। वैश्य लोग ब्राह्मणों से ज्ञान सीख कर और क्षत्रियों की रक्षा में रह कर राष्ट्र के लोगों के सुख-आराम की भौतिक सम्पत्ति को पैदा करते हैं। उन की भी यह बड़ी भारी सेवा है। इसलिये वैश्यों को यह अधिकार रहता है कि वे धन-सम्पत्ति से प्राप्त होने वाले सुख-आरामों को अन्य वर्ण वालों की अपेक्षा कुछ अधिक भोग लें। वे सांसारिक दृष्टि से अन्य वर्ण वालों की अपेक्षा कुछ अधिक आनन्द से रह लें। उन्हें मान-प्रतिष्ठा ब्राह्मण और क्षत्रियों के पश्चात् तीसरी कोटि पर प्राप्त होगी। पर वैश्य लोग अपनी धन-सम्पत्ति का अपने ही लिये निर्बाध उपयोग नहीं कर सकेंगे। राष्ट्र के लोगों के जीवन-निर्वाह के लिये न्यूनतम आवश्यक जो राशि होगी उस से एक निश्चित विशेष परिमाण में अधिक राशि का ही उपयोग वैश्य लोग कर सकेंगे। उस से अधिक सब सम्पत्ति पीछे दिखाई गई रीति से वैश्यों को राष्ट्र के उपयोग में लगा देनी होगी। इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था में वैश्यों के, धनियों के, हाथ में मान-प्रतिष्ठा, राज्य-शासन और सम्पत्ति एक साथ ये सब न रह कर उन के पास केवल सम्पत्ति के आराम ही अन्य वर्णों के लोगों से अधिक रहेंगे।

इस प्रकार तीनों वर्णों की शक्ति का सामञ्जस्य (सन्तुलन) कर के वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में, पूंजीवाद के एक ही वर्ग के हाथ में सारी शक्तियें आ जाने के भारी दोष से, समाज की रक्षा कर ली गई है। एक वर्ग के हाथ में ज्ञान और प्रतिष्ठा की शक्ति है, एक वर्ग के हाथ में राज्य-शासन की, प्रभुता की, शक्ति है और एक वर्ग के हाथ में धन-सम्पत्ति की शक्ति है। और तीनों शक्तियों का परस्पर गहरा सहयोग और सामञ्जस्य है। तीनों वर्ग अपनी शक्तियों को परस्पर के कल्याण के लिये लगाने का 'व्रत' ले कर उस व्रत के अनुसार ही चलते हैं। सब सब को कुछ देते हैं और सब को सब से कुछ मिलता है। और इस प्रकार सारा राष्ट्र सुखी रहता है।

८.
दुरुपयोग करने पर सम्पत्ति छीनी भी जा सकती है

यहां एक प्रश्न हो सकता है। और वह यह कि यदि कोई वैश्य, कोई धनपति, अपने 'व्रत'

का पालन न करे, अपनी सम्पत्ति का राष्ट्र के हित के कामों में खर्च न करे, अपने नौकरों और मज़दूरों को भी पर्याप्त वेतन न दे, राज्य के करों को भी पूरा अदा न करे, दान भी कुछ न दे, और अपने ही भोग-विलास में सारी सम्पत्ति खर्च करता रहे, तो इस प्रकार सम्पत्ति का दुरुपयोग करने वाले वैश्य का वर्णाश्रम-व्यवस्था में क्या उपाय है ? वर्णाश्रम-व्यवस्था का सिद्धान्त लोगों की सच्चरित्रता और सद्भावना पर निर्भर करता है, कोई सच्चरित्र व्यक्ति स्वेच्छा से अपने कर्तव्यों का पालन करता रहे तब तो ठीक है, पर यदि कोई व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन न करे तो उस का क्या प्रतिकार है ? और अधिकांश व्यक्ति स्वेच्छा से कर्तव्य का पालन करने वाले नहीं होते। वे दण्ड के भय से कर्तव्य का पालन करते हैं। यदि कोई वैश्य अथवा दूसरे वर्ण का भी कोई व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन न करे तो वर्णव्यवस्था में उस का क्या प्रतिविधान है ? वर्णव्यवस्था में इस का भी प्रतिविधान है। पहले तो, जैसा ऊपर कहा गया है, सब वर्णो के लोगों ने अपने-अपने वर्णो के कर्तव्यों के पालन करने का 'व्रत' लिया हुआ है। व्रत (Pledge) का बन्धन बड़ा भारी बन्धन होता है। व्रत में बंधा हुआ आदमी अपने जीवन का बलिदान दे कर मृत्यु का आलिंगन करने तक को उद्यत हो जाता है। इस लिये 'व्रत' के बन्धन में बंधा हुआ वैश्य अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं करेगा। और अन्य वर्णो वाले लोग भी अपने कर्तव्यों का ठीक पालन करेंगे। बहुत ही कम उदाहरण ऐसे होंगे जहां वैश्य लोग अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग करेंगे, अथवा दूसरे वर्णो के लोग अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करेंगे। फिर, जो लोग अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करेंगे उन्हें दण्डित करने की व्यवस्था भी वर्णाश्रम-व्यवस्था में है। वेद में कहा है—"जो व्यक्ति नहीं देता है सम्राट् उस से दिलवाता है[1]।" जो ब्राह्मण विद्या-दान नहीं करेगा या विद्या-दान करने में पक्षपात करेगा राजा उसे दण्ड देगा। जो क्षत्रिय, जो राज-कर्मचारी, न्याय पर नहीं चलेगा और प्रजा की रक्षा नहीं करेगा राजा उसे दण्ड देगा। इसी भांति जो वैश्य अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र के कल्याण के कामों में नहीं लगा रहा होगा राजा उस की सम्पत्ति को राष्ट्र के कल्याण के कामों में लगवायेगा। राजा उस की सम्पत्ति को छीन लेगा। इस भय के कारण कोई वैश्य अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं करेगा।

सम्पत्ति का अधिकार जन्म से नहीं सदुपयोग से

दुरुपयोग करने वाले की सम्पत्ति का छीन लिया जाना यह वर्णव्यवस्था और पूंजीवाद

१. सम्राड् अदित्सन्तं दापयति...। यजुः, ६,२४।

में बड़ा भारी भेद है। पूंजीवादी पद्धति में किसी की सम्पत्ति छीनी नहीं जा सकती। जिस प्रकार पौराणिक हिन्दू लोग वर्णव्यवस्था को जन्म के आधार पर मानते हैं—यह मानते हैं कि ब्राह्मण का लड़का इस लिये ब्राह्मण कहलायेगा और ब्राह्मण के अधिकार पायेगा क्योंकि वह ब्राह्मण के घर में पैदा हुआ है और शूद्र का लड़का इस लिये शूद्र रहेगा क्योंकि वह शूद्र के घर में उत्पन्न हुआ है—उसी प्रकार पूंजीवादी पद्धति में सम्पत्ति पर अधिकार भी जन्म के आधार पर माना जाता है। जो जिस पिता के घर में उत्पन्न हुआ है उसका अपने उस पिता की सम्पत्ति पर अधिकार है। वह पिता की सम्पत्ति का अधिकारी इस लिये है कि वह उसका पुत्र है। पुत्र होने के कारण पिता की सम्पत्ति उस की है। और जो सम्पत्ति जिस की है उस पर उसका पूर्ण अधिकार है। वह उसका जिस प्रकार चाहे उपयोग कर सकता है। उस से उस की सम्पत्ति छीनी नहीं जा सकती। पूंजीवाद का यह एक सिद्धान्त है। वैदिक वर्णव्यवस्था इस सिद्धान्त को नहीं मानती। वैदिक वर्णव्यवस्था में जिस प्रकार वर्णों को जन्म के आधार पर न माना जा कर गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर माना जाता है, उसी प्रकार वैदिक वर्णव्यवस्था में सम्पत्ति का अधिकार भी जन्म के आधार पर न माना जा कर सदुपयोग के आधार पर माना जाता है। सम्पत्ति उस की है जो उस का सदुपयोग करे। जो सम्पत्ति का दुरुपयोग करेगा उस की सम्पत्ति को राजा छीन लेगा, यह वेद की स्पष्ट आज्ञा अभी ऊपर हमने देखी है।

सन्तानों का परिवर्तन

ऋषि दयानन्द तो, जो आधुनिक समय के वर्णाश्रम-व्यवस्था के सब से बड़े समर्थक और प्रचारक हैं, इस सम्बन्धी में और अधिक आगे जाते हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने महान् ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में यह प्रतिपादन करते हुए कि वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं, गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर होती है, यह भी लिखा है कि गुण, कर्म, स्वभाव पर आधारित वर्णों में सन्तानों का परिवर्तन भी हो जाना चाहिये। अर्थात् यदि किसी ब्राह्मण के घर में गुण, कर्म, स्वभाव से वैश्य बालक उत्पन्न हो जाये और किसी वैश्य के घर में गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मण बालक पैदा हो जाये तो ब्राह्मण के वैश्य पुत्र को वैश्य की सन्तान बना दिया जाना चाहिये और वैश्य के ब्राह्मण पुत्र को ब्राह्मण की सन्तान बना दिया जाना चाहिये। इस प्रकार चारों ही वर्णों में गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर सन्तानों का परिवर्तन हो जाना चाहिये। राज-सभा और विद्या-सभा को इस प्रकार के नियम बना देने चाहियें। गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर वर्णों का निश्चय कन्याओं की अवस्था में १६ वर्ष की आयु में तथा बालकों की

अवस्था में २५ वर्ष की आयु में राजसभा और विद्यासभा की व्यवस्था के अनुसार हो जाना चाहिये। ऐसा ऋषि दयानन्द ने लिखा है।

ऋषि दयानन्द के इस सन्तान-परिवर्तन के सिद्धान्त के आधार में एक गहरा तत्त्व है। एक ब्राह्मण के घर में गुण, कर्म, स्वभाव से वैश्य बालक उत्पन्न हो गया और वह उसी की सन्तान रहा तो उस वैश्य बालक को अपने ब्राह्मण पिता का पढ़ने-लिखने का सामान, पुस्तकालय और, ब्राह्मण यदि वैज्ञानिक है तो, उस की परीक्षणशाला (Laboratory) तथा परीक्षणशाला के यन्त्र आदि सम्पत्ति के रूप में मिलेंगे। अब अपने ब्राह्मण पिता का यह सब सामान वैश्य बालक के किसी काम का नहीं है, वह उस से कुछ उपयोग नहीं ले सकेगा। उस के पास वह सब सामान खराब हो जायेगा। यदि वह सब सामान किसी ब्राह्मण बालक को मिल जाता तो वह उस की सहायता से विद्या-विज्ञान की और अधिक उन्नति करता और राष्ट्र को लाभ पहुंचाता। इसी प्रकार एक व्यापार या कारखाना चलाने वाले अथवा खेती करने वाले वैश्य के घर में गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मण बालक उत्पन्न हो गया और उसी की सन्तान रहा तो उस ब्राह्मण बालक को अपने वैश्य पिता की वह सम्पत्ति मिलेगी। पर इस ब्राह्मण बालक के लिये वह सब सम्पत्ति किसी काम की नहीं है। वह व्यापार नहीं कर सकेगा, कारखाना नहीं चला सकेगा और खेती भी नहीं कर सकेगा। यदि वह इन कामों को हाथ में लेगा भी तो अच्छी तरह नहीं कर सकेगा—उन्हें बिगाड़ देगा और घाटा उठायेगा। और राष्ट्र को जो उस व्यापार, कारखाने और खेती से लाभ होना था उस से राष्ट्र वञ्चित रह जायेगा। यदि किसी वैश्य बालक को यह सब कुछ मिल जाता तो वह उस को और अधिक उन्नत करता और उस से राष्ट्र को और अधिक लाभ मिलता। कम-से-कम पहले जितना लाभ तो राष्ट्र को मिलता ही रहता। ऋषि दयानन्द के सिद्धान्तानुसार सन्तानों का परिवर्तन हो जाने की अवस्था में ब्राह्मण के घर में विद्या-विज्ञान की उन्नति का काम चलता रहता और वैश्य के घर में राष्ट्र की भौतिक सम्पत्ति की वृद्धि का काम चलता रहता, तथा दोनों को सेवा आदि के लिये सन्तान भी प्राप्त रहती।

सन्तान-परिवर्तन की ऋषि दयानन्द की यह बात सुन कर आज लोगों को अचम्भा सा लगता है। और इसे सर्वथा असम्भव समझा जाता है। इस में अचम्भित होने और इसे असम्भव समझने की कोई बात नहीं है। ऐसी सब बातें जनता की शिक्षा के ऊपर निर्भर करती हैं। शिक्षा और प्रचार के द्वारा जनता में किसी भी प्रकार की प्रथायें डाली जा सकती हैं। आज भी हम कन्याओं का तो परिवर्तन करते ही रहते हैं। हमारी कन्या विवाहित हो कर दूसरे के

घर में चली जाती है और वहां की बन जाती है। दूसरे की कन्या विवाहित हो कर हमारे घर में आ जाती है और हमारी बन जाती है। सभी सास और ससुर विवाह हो कर आई इन कन्याओं को अपनी पुत्री मानते हैं। आज भी दूसरे के बालक को दत्तक ले कर अपना पुत्र बना लेने की प्रथा है। कहते हैं बर्मा आदि कई देशों में विवाह होने पर लड़का उसी प्रकार अपनी वधू के घर में चली जाती है जिस प्रकार हमारे यहां विवाहित हो कर कन्या वर के घर में चला जाता है। दक्षिण भारत के अनेक प्रदेशों में कन्या के आधार पर वंश चलता है। ट्रावनकोर राज्य में राजगद्दी राजा की कन्या के पुत्र को मिला करती थी। इस प्रकार की सब प्रथायें जैसी चाहें वैसी चलाई जा सकती हैं। इसी प्रकार गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर सन्तान बदल ली जाने की ऋषि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट पद्धति भी जनता में शिक्षा और प्रचार द्वारा चलाई जा सकती है।

पर हम ने तो यहां ऋषि दयानन्द के इस मन्तव्य का उल्लेख यह दिखाने के लिए किया है कि ऋषि दयानन्द की सम्मति में भी केवल जन्म के आधार पर सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होना चाहिये। सम्पत्ति पर अधिकार उस के सदुपयोग के आधार पर होना चाहिये। सन्तान बदलने के सिद्धान्त में जन्म के आधार पर सम्पत्ति मिलने की बात तो जाती ही रहती है। उस में योग्यता और सदुपयोग के आधार पर सम्पत्ति मिलने की बात आ जाती है। यों भी जब सन्तान बदली जा सकती है तो सम्पत्ति तो बदली ही जा सकती है--सम्पत्ति तो एक से ले कर दूसरे को दी ही जा सकती है। इस प्रकार इस युग में वर्ण-व्यवस्था के महान् समर्थक और प्रचारक ऋषि दयानन्द भी दुरुपयोग की अवस्था में सम्पत्ति छीन लिये जाने के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। ऋषि दयानन्द भी सम्पत्ति के एकमात्र जन्माधिकार को नहीं स्वीकार करते। वे सम्पत्ति के अधिकार का आधार उस के सदुपयोग को मानते हैं। इस प्रकार वैदिक वर्ण-व्यवस्था में जो जिस सम्पत्ति का सदुपयोग कर सकेगा वह सम्पत्ति उस के पास रहनी चाहिये।

केवल श्रम से भी सम्पत्ति का अधिकार नहीं

सम्पत्ति के अधिकार का एक और आधार भी माना जाता है। वह आधार है श्रम। जिस ने श्रम कर के सम्पत्ति को पैदा किया है सम्पत्ति उसकी है। पूंजीवाद जन्माधिकार के साथ-साथ सम्पत्ति के श्रमाधिकार को भी मानता है। साम्यवादी (कम्युनिस्ट) लोग सम्पत्ति के जन्माधिकार को तो नहीं मानते, परन्तु श्रमाधिकार को मानते हैं। इसी लिये वे कहते हैं कि कारखानों और खेतों में पैदा होने वाली सम्पत्ति क्योंकि उन में काम करने वाले मज़दूरों के

परिश्रम से तैयार होती है इस लिये उस सम्पत्ति पर मज़दूरों का अधिकार होना चाहिये। कारखाने का पूंजीपति मालिक और जमींदार जो कि कारखाने और खेत में कुछ काम नहीं करते, उन का वहां पैदा होने वाली सम्पत्ति में कुछ अधिकार नहीं होना चाहिये। पर केवल श्रम के आधार पर संपत्ति का अधिकार मानने का सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। एक व्यक्ति अपने परिश्रम से कमाई संपत्ति को सड़क पर रख कर फूंक देता है और अपने परिश्रम की कमाई से तैयार किये गये मकान को जला कर राख कर देता है तो क्या उसे ऐसा करने का अधिकार है ? यदि उसे यह अधिकार है तो क्या उस के अनुकरण पर राष्ट्र के सब लोगों को ऐसा करने दिया जायेगा ? क्या ऐसा करने वाले व्यक्ति को पागल नहीं समझा जायेगा और उसे किसी पागलखाने में नहीं भेज दिया जायेगा ? हमें अपने परिश्रम से कमाई सम्पत्ति के साथ भी मनमाना व्यवहार नहीं करने दिया जा सकता। यदि अपने परिश्रम से कमाई सम्पत्ति को भी हम किसी ऐसे कार्य में लगा रहे हैं जिस से राष्ट्र के लोगों को किसी-न-किसी रूप में कष्ट पहुंचता है अथवा राष्ट्र के सार्वजनिक हित की हानि होती है तो वह सम्पत्ति हम से छीन ली जायेगी। सम्पत्ति हमें चाहे अपने पिता से मिली हो और चाहे हम ने उसे अपने परिश्रम से उपार्जित किया हो, उस पर हमारा अधिकार तभी तक है जब तक हम उस का राष्ट्र के हित में सदुपयोग करते हैं दुरुपयोग करने की अवस्था में सम्पत्ति छीन ली जायेगी।

सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व

पूंजीवादी पद्धति में सम्पत्ति के व्यक्तित्व स्वामित्व (Private Ownership of Property) के सिद्धान्त को माना जाता है। व्यक्ति को जो सम्पत्ति अपने पिता से उत्तराधिकार में मिली है वह भी उस की निजी सम्पत्ति है और जो सम्पत्ति उस ने अपने परिश्रम से कमाई है वह भी उस की निजी सम्पत्ति है। वह अपनी इस सारी सम्पत्ति को उत्तराधिकार में अपनी सन्तान को दे सकता है। फिर उत्तराधिकार में दी गई वह सम्पत्ति उस की सन्तान की निजी सम्पत्ति हो जायेगी। सम्पत्ति पर कमाने वाले का व्यक्तिगत स्वामित्व रहने से—उस की कमाई सम्पत्ति उसी की निजी सम्पत्ति बनी रहने से—एक भारी लाभ होता है। वह यह कि ममत्व के कारण—मैं कमा रहा हूं और यह मेरी है इस भावना के कारण—व्यक्ति सम्पत्ति को उत्पन्न करने में और उसे बढ़ाने में खूब परिश्रम करता है।

वर्णव्यवस्था की पद्धति में भी सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। वेद में भांति-भांति की धन-सम्पत्ति कमाने के लिये मनुष्यों को आदेश दिया गया है। अपना सुख-मंगल बढ़ाने के लिये भगवान् से की जाने वाली वेद की प्रार्थनाओं में

उपासक भांति-भांति की धन-सम्पत्ति की प्राप्ति की प्रार्थनायें भी बार-बार करता है। वेद का उपासक अपने परमात्मा और अपने राजा से यह प्रार्थना भी करता है कि "हम पिता से उत्तराधिकार में मिलने वाली धन-सम्पत्ति के स्वामी बनें[1]।" मनुष्यों को भांति-भांति की धन-सम्पत्ति कमाने-सम्बन्धी दिये गये वेद के इन आदेशों, और धन-सम्पत्ति-संबंधी इन प्रार्थनाओं से यह स्पष्ट निर्देश निकलता है कि हमारी कमाई सम्पत्ति हमारी निजी है जिस का हम अपने जीवन-काल में तो उपयोग कर ही सकते हैं, किन्तु जिसे हम उत्तराधिकार में अपनी सन्तान को भी दे सकते हैं।

सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर प्रतिबन्ध

परन्तु वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में सम्पत्ति का यह व्यक्तिगत स्वामित्व निर्बाध और निष्प्रतिबन्ध नहीं है। पूंजीवाद में यह व्यक्तिगत स्वामित्व निर्बाध और निष्प्रतिबन्ध है। और इसके निर्बाध और निष्प्रतिबन्ध होने के कारण पूंजीवाद पर आधारित आज की समाज-व्यवस्था के वे सब बुरे परिणाम हो रहे हैं जिन की ओर इस लेख के आरम्भ में संकेत किया गया है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर कई तरह के प्रतिबन्ध हैं। इन प्रतिबन्धों का ऊपर के पृष्ठों में भली-भांति वर्णन कर दिया गया है। इन प्रतिबन्धों के कारण वर्णाश्रमधर्मी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का कभी दुरुपयोग नहीं करेगा। वह अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र के हित में ही खर्च करेगा। इन प्रतिबन्धों के कारण वर्णाश्रम-व्यवस्था में दिया गया सम्पत्ति के निजत्व का अधिकार उन बुराइयों का कारण नहीं बनेगा जिन बुराइयों का कारण पूंजीवाद में सम्पत्ति का निर्बाध और निष्प्रतिबन्ध निजत्व बन जाता है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था के आध्यात्मिक प्रतिबन्ध

वर्णाश्रम-व्यवस्था में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व पर लगाये गये प्रतिबन्धों की एक विशेषता है। ये प्रतिबन्ध जहां सम्पत्ति के दुरुपयोग और उस की बुराइयों को रोकते हैं वहां ये प्रतिबन्ध ऐसे हैं जिन से व्यक्ति का आत्मा उन्नत होता है--वह श्रेष्ठ पुरुष बनता है। इन प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप व्यक्ति ऊँचा उठ कर स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति का प्रयोग और दान राष्ट्र की जनता के कल्याण के लिये करता है। और यदि कभी कोई व्यक्ति अपनी

---

१. ईशानासः पितृवित्तस्य रायः। ऋग्. १।७३।९।
रयिर्न यः पितृवित्तः। ऋग्. १।७३।१।

सम्पत्ति का दुरुपयोग करेगा तो, जैसा ऊपर कहा गया है, वेद की आज्ञा है कि उस की सम्पत्ति छीन ली जायेगी। सम्पत्ति छिनं जाने के इस भय से किसी व्यक्ति को राष्ट्र के कल्याण में अपनी सम्पत्ति खर्च करने के 'व्रत' को तोड़ने का साहस नहीं होगा। दुरुपयोग करने पर सम्पत्ति छिन जाने के दण्ड का यह भय सामान्य तौर पर अप्रत्यक्ष रूप में लोगों पर अपना प्रभाव रखेगा। यह भय लोगों के मन की पृष्ठभूमि में बहुत नीचे दबा पड़ा रहेगा। लोग प्रत्यक्षतः यही समझ कर अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र के हित में खर्च करेंगे कि यह उन का 'व्रत' और धर्म है। और इस प्रकार राष्ट्र के हित में अपनी सम्पत्ति का खर्च करते रहने से उन के आत्मा को एक ऊंचा आध्यात्मिक सन्तोष होगा कि वे अच्छा और पवित्र काम कर रहे हैं। प्रत्यक्ष रूप में तो यह दण्ड कभी-कभी किसी को देना पड़ेगा। जैसे चोरी पर दण्ड मिलने का कानून होने से लोग चोरी करने से रुके रहते हैं। प्रत्यक्ष में तों चोरी करने पर दण्ड कम लोगों को देना पड़ता है। अधिकांश लोगों के मनों पर तो दण्ड का यह भय अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालता है। यह भय उन के मन की पृष्ठभूमि में दबा पड़ा रहता है। प्रत्यक्षतः तो अधिकांश लोग यही समझ कर चोरी करने से बचे रहते हैं कि चोरी करना अच्छा काम नहीं है। और उन के आत्मा को सन्तोष रहता है कि वे चोरी से बचे रह कर अच्छा और पवित्र काम कर रहे हैं। इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति व्यक्ति से उस की सम्पत्ति को राष्ट्र के हित में ले तो लेती है, पर इस पद्धति में व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को स्वयं प्रसन्नता से देता है और उसे देते हुए वह अपने आपको ऊंचा उठा हुआ और गौरवान्वित अनुभव करता है। इस दृष्टि से वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति आध्यात्मिक (Spiritual) पद्धति है।

साम्यवाद के भौतिक प्रतिबन्ध

साम्यवाद (Communism=कम्युनिज़्म) और उस की ही एक शाखा समाजवाद (Socialism=सोशलिज़्म) भी सम्पत्ति पर प्रतिबन्ध लगाते हैं जिस से कि उस के द्वारा होने वाली बुराइयों और कष्टों से राष्ट्र की जनता बच सके। पर साम्यवाद और समाजवाद के प्रतिबन्ध केवल भौतिक हैं। वे केवल-मात्र कानून पर आधारित हैं। इन प्रतिबन्धों से व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उस से उस की सम्पत्ति जबरदस्ती छीनी जा रही है। वह यह अनुभव करता है कि वह निर्बल है इस लिये उसे दबाया जा रहा है। उस की यह अनुभूति उस के आत्मा पर बुरा प्रभाव डालती है। वह एक प्रकार की उदासी, एक प्रकार की हीनता, एक प्रकार का मुरझायापन, अपने अन्दर अनुभव करता है। वह अन्दर-अन्दर असन्तुष्ट और खिन्न रहता है।

वह उस की पसीने से कमाई सम्पत्ति छीन लेने वाले राज्यप्रबन्ध और समाज-व्यवस्था की निन्दा करता रहता है और उन्हें गालियें देता रहता है। उस का यह मानसिक असन्तोष, उस की यह मानसिक उदासी और खिन्नता, अपने राज्य-प्रबन्ध की निन्दा करते रहने वाली किन्तु कुछ कर सकने में अशक्त और भीरु उस की यह मनोदशा, उस के आत्मा को हीन बना देती हैं। उस का आत्म-सन्तोष और आत्म-गौरव जाता रहता है। साम्यवाद और समाजवाद की पद्धति केवल भौतिक है। उस का केवल भौतिक धन-सम्पत्ति पर ध्यान है, मनुष्य के आत्मा पर नहीं। इस दृष्टि से वर्णाश्रम-व्यवस्था की आध्यात्मिक (Spiritual) पद्धति, जिस में भौतिक धन-सम्पत्ति के साथ-साथ मनुष्य के आत्मा का भी ध्यान रखा जाता है, साम्यवाद और समाजवाद की भौतिक (Materialistic) पद्धति से कहीं अधिक अच्छी है।

साम्यवाद सम्पत्ति के व्यक्तित्व स्वामित्व को स्वीकार नहीं करता

साम्यवाद सम्पत्ति के व्यक्तित्व स्वामित्व (Private Ownership of Property) को स्वीकार नहीं करता है। साम्यवाद में सम्पत्ति किसी व्यक्ति की न हो कर उस सारे समाज या राष्ट्र की है जिस का अंग वह व्यक्ति है। व्यक्ति समाज की उस सम्पत्ति में से केवल अपने जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक सम्पत्ति का उपभोग कर सकता है। जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक सम्पत्ति से अधिक सम्पत्ति को कोई व्यक्ति संग्रह कर के नहीं रख सकता और उस संग्रह की हुई सम्पत्ति को उत्तराधिकार में अपनी सन्तानों को भी नहीं दे सकता। उत्पत्ति के सब साधन, ज़मीन और कारखाने आदि, तथा उन से उत्पन्न होने वाली सारी सम्पत्ति राष्ट्र की है। व्यक्ति खेतों और कारखानों आदि में जो काम करता है वह इस लिये नहीं कि वे उस के अपने निजी हैं और उन से उस ने कोई अपनी निजी सम्पत्ति पैदा करनी है। वह खेतों और कारखानों आदि में राष्ट्र के नौकर या सेवक के रूप में काम करता है और उन में पैदा होने वाली सब सम्पत्ति राष्ट्र की है। राष्ट्र का सेवक होने के नाते व्यक्ति राष्ट्र की उस सम्पत्ति में से अपने जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक सम्पत्ति का उपभोग भर कर सकता है। इसी लिये १९१७ की क्रान्ति के पश्चात् रूस में जब साम्यवादी लोगों का शासन प्रारम्भ हुआ तो जहां उन्होंने यह व्यवस्था बना दी थी कि जमीन और कारखाने तथा अन्य उत्पत्ति के साधन किसी व्यक्ति के नहीं होंगे और उन से उत्पन्न संपत्ति भी किसी व्यक्ति की नहीं होगी—सारे राष्ट्र की होगी, वहां व्यक्तियों को आवश्यकता से अधिक संपत्ति-संग्रह के प्रलोभन से रोकने

के लिये उन्होंने यह व्यवस्था भी बना दी थी कि कोई बैंकों में रुपया जमा कर के नहीं रख सकता और न कोई अपने जमा किये हुए रुपये को और न अन्य सामान को अपनी सन्तान को उत्तराधिकार में दे सकता है। इस प्रलोभन से रोकने के लिये शुरू में उन्होंने यह व्यवस्था भी बनाई थी कि किसी को नकद रुपये के रूप में वेतन ही न दिया जाये। किसी भी कर्मचारी को उस के काम के बदले में परचियें मिल जाती थीं। उन परचियों को देर कर व्यक्ति दुकानों से उन के बदले में अपने खाने-पीने आदि का आवश्यक सामान ले आता था। न किसी को नकद रुपया मिलेगा, न कोई उसे ब्याज पर चढ़ा कर या किसी व्यापार आदि में लगा कर उस से कोई निजी लाभ उठा सकेगा या उस का कोई और दुरुपयोग कर सकेगा, और न कोई उसे बैंकों में जमा कर सकेगा तथा अपनी सन्तानों को उत्तराधिकार में दे सकेगा। न होगा बांस और न बजेगी बांसरी। साम्यवादी लोगों का सम्पत्ति के निजाधिकार के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त है। उन के विचार में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व को सर्वथा नष्ट किये बिना पूंजीवाद के दोषों और हानियों से छुटकारा नहीं हो सकता।

व्यक्तिगत स्वामित्व के आधार में मनोवैज्ञानिक तथ्य : अहंकार और ममत्व

परन्तु इस विचार में एक कमी है। सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त में एक मनोवैज्ञानिक सचाई को ध्यान में रखा गया है। वह है व्यक्ति की अहंकार और ममत्व की भावना से लाभ उठाना। प्रत्येक व्यक्ति में यह अहंकार और ममत्व की—यह 'मैं और मेरा' की—भावना पाई जाती है और प्रबल रूप में पाई जाती है। इस भावना से प्रेरित हो कर व्यक्ति अपने लिये और जिसे अपना समझता है उस के लिये बड़े-से-बड़ा परिश्रम करने और बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाने के लिये उद्यत हो जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी काम को अपना समझ कर, उस से अपना लाभ होगा ऐसा समझ कर, करता है तो वह उसे सफल बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ता, दिन-रात एक कर देता है।

हम रोज देखते हैं कि जो लोग वेतन ले कर कोई काम करते हैं, जिन का वह काम अपना नहीं होता, वे लोग उस काम को सफल बनाने के लिये अपनी सारी शक्ति लगा कर दिन-रात एक नहीं कर देते। वे दफ्तर के समय पर काम करने जाते हैं और दफ्तर का समय हो जाने पर काम करना बन्द कर के अपने घर चले आते हैं। उस के आगे-पीछे उन्हें उस काम की कभी कोई चिन्ता नहीं होती। दफ्तर के समय में जो कुछ घण्टे काम करने के हैं, बहुत से लोग तो उन में भी ईमानदारी से दिल लगा कर पूरा समय काम नहीं करते। गप-

शप में बहुत सा समय बिता देते हैं। इन लोगों में ममत्व की—अपनेपन की—भावना न होने के कारण उस काम में उन का पूरा ध्यान और पूरी शक्ति नहीं लगती। परिणाम यह होता है कि काम कम होता है, समय अधिक लगता है, काम अच्छा नहीं होता और काम पर खर्च अधिक होता है। और यदि काम ऐसा है कि उस से किसी प्रकार की चीजों का निर्माण होता है तो चीजें कम मात्रा में बनती हैं, समय अधिक लगता है, चीजें घटिया किस्म की बनती हैं और उन पर खर्च अधिक बैठता है। फलतः राष्ट्र के लोगों की आवश्यकता-पूर्ति का सामान कम मात्रा में पैदा होता है, घटिया किस्म का पैदा होता है और अधिक महंगा पैदा होता है। इस प्रकार राष्ट्र के उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें भी भली-भांति पूरी नहीं हो पातीं और सामूहिक रूप से राष्ट्र की वस्तु-सामग्री भी कम और घटिया रहती है जिस के फलस्वरूप राष्ट्र के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का पलड़ा भी घाटे का रहता है।

उधर रोज हम यह भी देखते हैं कि जो लोग किसी काम को अपना समझ कर, उस से अपना लाभ होगा ऐसा समझ कर, करते हैं वे उस काम को सफल बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ते, दिन-रात एक कर देते हैं। उन्हें सोते-जागते उस काम को सफल बनाने की चिन्ता रहती है। वे उस में अपने समय का एक-एक क्षण और अपनी शक्ति का एक-एक बूंद लगा देते हैं। ममत्व की इस भावना का परिणाम यह होता है कि काम अधिक होता है, कम समय में होता है, अधिक अच्छा होता है और कम खर्च में होता है। यदि उस काम से कोई चीजें निर्मित होती हैं तो वे अधिक संख्या में निर्मित होती हैं, अधिक अच्छी निर्मित होती हैं और कम खर्च में निर्मित होती हैं। फलतः राष्ट्र के लोगों की आवश्यकता-पूर्ति का सामान अधिक मात्रा में, बढ़िया और सस्ता उत्पन्न होता है। उस से राष्ट्र के उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें भी भली भांति पूरी होती हैं और राष्ट्र की सामूहिक वस्तु-सामग्री भी अधिक और बढ़िया रहती है जिसके फलस्वरूप राष्ट्र के अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का पलड़ा भी लाभ का रहता है। क्योंकि जिस राष्ट्र में भांति-भांति का सामान अधिक मात्रा में, बढ़िया और सस्ता बनता होगा उसी का दूसरे देशों के साथ व्यापार चमकेगा और लाभप्रद रहेगा।

वर्णाश्रम-व्यवस्था सम्पत्ति के व्यक्तित्व स्वामित्व को स्वीकार करती है

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के अधिकार को स्वीकार किया जाता है। व्यक्ति को किसी भी सम्पत्ति को अपनी समझ कर कमाने का अधिकार है। वह अपनी संगृहीत सम्पत्ति को उत्तराधिकार में अपनी सन्तान को भी दे सकता है। वर्णाश्रम-

व्यवस्था में अहंकार और ममत्व की इस मनोभावना से राष्ट्र के सामूहिक हित में लाभ उठा लिया गया है। सम्पत्ति मेरी है और मैं उसे अपने लिये कमा रहा हूं, इस भावना से प्रेरित हो कर व्यक्ति सम्पत्ति उत्पन्न करने में अपना सारा ध्यान, सारी योग्यता, और सारी शक्ति लगा देगा और उस के लिये दिन-रात एक कर देगा। इस का परिणाम यह होगा कि चीजें अधिक मात्रा में बनेंगी, अधिक बढ़िया बनेंगी, कम समय में बनेंगी जिस से उतने ही समय में और ज्यादा चीज़ें बन सकेंगी, और सस्ती बनेंगी। इस से राष्ट्र के उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें भी अधिक अच्छी तरह पूरी हो सकेंगी और सामूहिक रूप से भी राष्ट्र का वैभव बढ़ेगा।

व्यक्तिगत स्वामित्व के दोषों का प्रतीकार

किन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है, वर्णाश्रम-व्यवस्था में सम्पत्ति के व्यक्तित्व स्वामित्व को मानते हुए भी उस पर कई प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। उन प्रतिबन्धों में सब से बड़ा प्रतिबन्ध 'व्रत' का प्रतिबन्ध है। संपत्ति कमाने वाला यह 'व्रत' ले कर संपत्ति कमाने के लिये चलता है कि मैं अपनी कमाई सम्पत्ति को भिन्न-भिन्न प्रकार से राष्ट्र के हित के कामों में लगाता रहूंगा। यह 'व्रत' उसे अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग नहीं करने देगा। वह संपत्ति को अपने भोग-विलास के लिये और उस के द्वारा दूसरों का उत्पीड़न करने के लिये नहीं कमाता। वह तो अपने 'व्रत' के कारण, एक प्रकार से राष्ट्र का ट्रस्टी बन कर, राष्ट्र के हित के लिये उस का भिन्न-भिन्न प्रकार से दान करने के लिये अपनी सम्पत्ति कमाता है। और राष्ट्र-हित के कामों में अपनी संपत्ति को इस प्रकार दान करने से उस की अहंकार और ममत्व की भावना की तृप्ति होती है। वह सोचता है—मैं कमा रहा हूं और राष्ट्र के हित के लिये कमा रहा हूं, मैं सम्पत्ति कमा कर अपनी उस सम्पत्ति को राष्ट्र-हित में लगा देता हूं। उसे इस भावना से सम्पत्ति कमाने और उस का दान कर देने में एक ऊंची किस्म का आत्म-सन्तोष, एक आध्यात्मिक (Spiritual) प्रसन्नता और उत्फुल्लता, एक आत्मिक गौरव और ऊंचापन अनुभव होता है। इस में उस के अहंकार की तृप्ति होती है और वह तृप्ति सात्त्विक कोटि की होती है। जिस में एक ओर सात्त्विक अहंकार की तृप्ति भी हो रही है और दूसरी ओर राजस और तामस अहंकार को दबाया भी जा रहा है। इस प्रकार उस का यह 'व्रत' का बन्धन उस से अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग ही करायेगा। और यदि कभी किसी सम्पत्ति कमाने वाले ने अपनी संपत्ति का दुरुपयोग किया तो, जैसा हम पीछे देख चुके हैं, वेद की आज्ञा है कि उस की संपत्ति छीन

ली जायेगी। दुरुपयोग से संपत्ति छिन जाने का यह दूसरा बन्धन भी वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में है।

इस प्रकार वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था में व्यक्ति को संपत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व दे कर उस की अहंकार और ममत्व की भावना का राष्ट्र के हित में लाभ तो उठा लिया गया है पर उस पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा कर उसे उन दोषों और हानियों से बचा लिया गया है जो पूंजीवाद में संपत्ति के निर्बाध और निष्प्रतिबन्ध व्यक्तिगत स्वामित्व में रहती हैं।

साम्यवाद मनोवैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करता है

साम्यवाद में जो संपत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व स्वीकार नहीं किया जाता, और इसी लिये उस में जो सम्पत्ति की उत्पत्ति के साधनों को और सम्पत्ति को समाज का या राष्ट्र का बना दिया जाता है, और जो प्रत्येक व्यक्ति से उस की सम्पत्ति छीन ली जाती है, उस में एक यह भारी कमी है कि वहां व्यक्ति की अहंकार और ममत्व की वृत्ति से, जो कि एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, लाभ नहीं उठाया जाता। साम्यवाद इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की उपेक्षा करता है। अहंकार और ममत्व की वृत्ति का लाभ न उठाने के कारण, ऊपर प्रदर्शित रीति से, अन्ततोगत्वा राष्ट्र घाटे में रहता है। राष्ट्र भी घाटे में रहता है और व्यक्ति का आत्म-गौरव भी मारा जाता है। व्यक्ति स्वेच्छा से राष्ट्र के हित में अपनी शक्ति और सम्पत्ति का दान करने वाला स्वतन्त्र प्राणी न रह कर नौकर के रूप में दब कर काम करने वाला परतन्त्र प्राणी रह जाता है। जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति का सदुपयोग करता है उस का उस की सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व क्यों न रहने दिया जाये ? जो अपनी सम्पत्ति का दुरुपयोग करे उस की सम्पत्ति छीन ली जानी चाहिये, जैसा कि वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में विधान है। साम्यवादी पद्धति का अवलम्बन कर के एक सिरे से अच्छे बुरे सब की सम्पत्ति क्यों छीनी जाये ? जो बुरे हैं उन की सम्पत्ति छीन लो जिस से चौकन्ने हो कर दूसरे लोग अच्छे रहें और अपनी संपत्ति का राष्ट्र के हित में उपयोग करें। अच्छों की भी संपत्ति क्यों छीनी जाये ?

साम्यवाद का आदर्श रूस में भी ढीला हो गया है

संपत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और अधिकार सर्वथा ही न रहने देने का यह साम्यवाद का आदर्शवाद रूस में भी अपने शुद्ध रूप में स्थिर न रह सका। प्रारम्भ में रूस में साम्यवादी लोग, जैसा ऊपर कहा गया है, किसी कर्मचारी को वेतन नहीं देते थे, उसे उस के काम के

बदले में परचियें दी जाती थीं जिन्हें स्टोरों (Stores) या दुकानों पर दे कर कर्मचारी उन के बदले में वहां से अपनी आवश्यकता का खाने-पीने, पहिनने आदि का सामान ले सकते थे। कोई व्यक्ति बैंक में रुपया जमा नहीं कर सकता था। राष्ट्र की सम्पत्ति पर सब का अधिकार बराबर समझा जाता था और प्रत्येक व्यक्ति परचियों के आधार पर राष्ट्र की सम्पत्ति में से अपनी आवश्यकता के अनुसार चीज़ें ले कर उन का उपयोग कर सकता था।

जब सब को बराबर काम करना है, किसी भी प्रकार का काम हो जब सब कामों की कीमत बराबर है, जब काम के बदले में सब को बराबर प्रतिफल मिलना है, और, जब किसी भी चीज पर किसी भी रूप में अपनापन नहीं रहना है, तो ऐसी अवस्था में व्यक्ति को अपनी सारी शक्ति लगा कर, मर-खप कर, दिन-रात एक कर के, काम करने की इच्छा नहीं होती। क्योंकि उस अवस्था में व्यक्ति अपनी कोई विशेषता नहीं अनुभव करता और उस का किसी काम में 'ममत्व' नहीं रहता। जब उसे कोई काम बहुत अच्छा करने पर विशेषता नहीं मिलती और जब उस का किसी चीज़ पर किसी अंश में भी निजत्व नहीं रहता, तो वह कोई काम मर-खप कर क्यों करे और उस में अपनी सारी शक्ति क्यों लगाये ? कर्मचारियों में यह भावना पैदा होने का फल यह होता है कि काम अधिक नहीं होता और अच्छा नहीं होता--वस्तुओं का निर्माण अधिक मात्रा में नहीं होता और वस्तुयें उत्तम नहीं बनतीं।

रूस में भी यही हुआ। कर्मचारी आशा के अनुरूप काम नहीं करते थे। काम थोड़ा होता था और अच्छा नहीं होता था। वस्तुओं का निर्माण अधिक मात्रा में नहीं होता था और वस्तुयें बढ़िया नहीं बनती थीं। इस लिये रूस के साम्यवादी नेताओं को व्यवहार में अपने आदर्शवाद को कुछ ढीला करना पड़ा। उन्हें एक प्रकार से पूंजीवादी पद्धति के साथ बहुत कुछ समझौता करना पड़ा। उन्हें कर्मचारियों को वेतन देने की रीति फिर आरम्भ करनी पड़ी। वेतन भी कम और अधिक मात्रा में दिया जाने लगा। कम कुशल कर्मचारी को कम वेतन और अधिक कुशल कर्मचारी को अधिक वेतन दिया जाने लगा। अपेक्षया कम महत्त्वपूर्ण काम करने पर कम वेतन और अधिक महत्त्वपूर्ण काम करने पर अधिक वेतन मिलने लगा[१]। आज रूस में कर्मचारियों को मिलने वाले कम-से-कम वेतन और अधिक-से-अधिक वेतन की मात्रा में बड़ा अन्तर है। रूस में कम-से-कम और अधिक-से-अधिक आमदनी का अनुपात लगभग १ और ८०

१. **Soviet Communism ; A New Civilisation by Sidney and Beatrice Webb.**

का है[1]। वहां मज़दूरों को सामान्यतया ४००-५०० रुबल वेतन दिया जाता है। उस की तुलना में बहुत विशेषज्ञ और बहुत महत्त्वपूर्ण काम करने वाले को ३० और ४० हजार रुबल तक भी वेतन दे दिया जाता है। इन दोनों सीमाओं के बीच में कर्मचारियों को उन की योग्यता और काम के महत्त्व के अनुसार मिलने वाले वेतनों की मात्रायें काफी भिन्नता रखती हैं। इतना ही नहीं, कर्मचारियों से अधिक काम कराने के लिये आज के रूस में कर्मचारियों से ठेके[2] पर भी काम करा लिया जाता है, जो कि विशुद्ध पूंजीवादी तरीका है। तथा, अच्छा और अधिक काम करने पर कर्मचारियों को इनाम भी दिया जाता है। और बोनस (लाभांश) भी दिया जाता है। रूस के लोग सरकारी बौंड (Bonds) भी खरीद सकते हैं जिन पर ७ और ८ प्रतिशत तक का ब्याज बैंकों से मिलता है। अब वहां कर्मचारी अपने वेतन में से रुपया बचा कर बैंक में भी अपना हिसाब रख सकते हैं, जिस से वे अपने अभीष्ट समय पर अपने रुपये का अपनी इच्छानुसार उपयोग ले सकें। आज रूस की अर्थ-व्यवस्था बहुत अंश में लोभ और लाभ (Profit) के पूंजीवादी सिद्धान्त को अपना कर चल रही है[3]। अपने बचाये रुपये को उत्तराधिकार में देने की सुविधा भी वहां अब कर दी गई है। यह अवश्य है कि रुपया अपनी इच्छानुसार केवल अपने सुख-आराम में, अपने बच्चों के सुख-आराम में तथा बच्चों को पढ़ाने-लिखाने आदि में ही खर्च किया जा सकता है। उस रुपये को सम्पत्ति के उत्पादन में नहीं लगाया जा सकता। इस प्रकार व्यवहार में साम्यवाद के आदर्श को ढीला कर के रूस के साम्यवादियों को कर्मचारियों की आमदनी में भिन्नता की तथा एक सीमित अंश में सम्पत्ति पर व्यक्तिगत स्वामित्व और निजाधिकार की यह बात क्यों स्वीकार करनी पड़ी ? इस लिये कि साम्यवाद के आदर्श का पूर्ण पालन करने की अवस्था में उस में व्यक्ति के अहंभाव और ममत्व को कोई स्थान नहीं रहता। और अहंभाव और ममत्व के बिना कोई व्यक्ति किसी काम में अपनी पूरी शक्ति नहीं लगा सकता।

अपने आदर्शवाद में रूस के साम्यवादियों द्वारा इस प्रकार की कुछ ढीलें बाधित हो कर करनी पड़ी हैं। यों अब भी रूस के सर्व-साधारण लोग अपने को सर्वथा स्वतन्त्र अनुभव करते हुए काम नहीं करते हैं। उन के द्वारा उत्पन्न की गई सम्पत्ति उनकी नहीं होती है।

१. Socialism Reconsidered by M.R. Masani.
२. Soviet Communism; A New Civilisation by Sidney and B. Webb.
३. Socialism Reconsidered by M.R. Masani.

वे कारखानों आदि के राज्य द्वारा नियुक्त प्रबन्धकों (मैनेजरों) के नौकर-मात्र होते हैं। इतना ही हुआ है कि उन्हें वेतन योग्यतानुसार कम-अधिक मिलने लगे हैं तथा खर्च में बचे रुपये को बैंकों में रख सकने और अपनी सम्पत्ति को उत्तराधिकार में दे सकने आदि की कुछ सुविधायें भी मिलने लगी हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में व्यक्ति के अहंभाव और ममत्व का ध्यान रख कर उस का पूरा लाभ उठाया जाता है। इस दृष्टि से भी वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति साम्यवाद के आदर्शवाद से अधिक श्रेष्ठ और उपयोगी है।

प्रतिस्पर्धा का तत्त्व

सम्पत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धान्त के आधार पर जब सम्पत्ति कमाई जाती है तो उस में एक और तत्त्व प्रविष्ट हो जाता है। वह तत्त्व है प्रतिस्पर्धा (Competetion) का। प्रत्येक कमाने वाला दूसरों से अधिक सम्पत्ति कमाना चाहता है। और इस के लिये वह घोर परिश्रम करता है। इस प्रतिस्पर्धा की भावना का भी परिणाम यही होता है कि व्यक्ति सम्पत्ति पैदा करने में अपना सारा समय और सारी शक्ति लगा देता है क्योंकि वह औरों से आगे बढ़ जाना चाहता है। फलतः काम अधिक होता है, अच्छा होता है, कम समय में होता है और कम खर्च में होता है। जो चीजें बनती हैं वे मात्रा में अधिक बनती हैं, उत्तम बनती हैं, कम व्यय में बनती हैं और अतएव सस्ती रहती हैं। परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्ति के माल की अपेक्षया अधिक मांग रहती है। और वह सम्पत्ति कमाने के क्षेत्र में औरों से, जो उस जितना परिश्रम नहीं करते आगे बढ़ने लगता है। वस्तुयें मात्रा में अधिक और उत्तम तथा सस्ती होने के कारण राष्ट्र के उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें भी अच्छी तरह पूरी होती हैं और राष्ट्र की सामूहिक सम्पत्ति की भी वृद्धि होती है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में इस प्रतिस्पर्धा की भावना की पूर्ति का भी स्थान है और उस से भी राष्ट्र के हित में लाभ उठाया जाता है। परन्तु वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति की सम्पत्ति कमाने की यह प्रतिस्पर्धा पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा की भांति भोग-विलास की पूर्ति और दूसरों के उत्पीड़न के काम में नहीं आती। वर्णाश्रम-व्यवस्था के रंग में रंगा हुआ वैश्य-व्यवसायी राष्ट्र की जनता के हित में अपनी सम्पत्ति को दान कर देने, लगा देने, का 'व्रत' ले कर सम्पत्ति कमाने निकलता है। उस की प्रतिस्पर्धा इस लिये होती है कि अधिक-से-अधिक सम्पत्ति कमा कर उसे राष्ट्र के हित के कामों में दान किया जाये, खर्च किया जाये। वह तो एक प्रकार से राष्ट्र का न्यासरक्षक (ट्रस्टी=Trusty) हो कर राष्ट्र के हित की

दृष्टि से—राष्ट्र के लोगों को सुख पहुंचाने की दृष्टि से—सम्पत्ति कमाने की प्रतिस्पर्धा में पड़ता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्वस्थ प्रतिस्पर्धा (Healthy Competetion) से राष्ट्र को जो लाभ मिल सकता है साम्यवाद उस से भी वंचित रह जाता है।

६.
व्यक्तियों में योग्यता और रुचियों का भेद

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति इस बात को भी खुले रूप में स्वीकार करती है कि सब मनुष्य अपनी रुचियों, योग्यता, परिश्रम करने की शक्ति और स्वभाव आदि की दृष्टि से समान नहीं होते। किसी की रुचि कैसी होती है और किसी की कैसी, किसी में किसी प्रकार की योग्यता होती है और किसी में किसी प्रकार की, एक प्रकार की योग्यता में भी किसी में कम योग्यता होती है और किसी में अधिक, कोई कम परिश्रम कर सकता है और कोई अधिक, तथा किसी का स्वभाव किसी प्रकार का होता है और किसी का किसी प्रकार का। वेद में इसी बात को ध्यान में रख कर कहा है—"मनुष्य के दोनों हाथ देखने में एक समान होते हैं तो भी उन में काम करने की शक्ति एक-समान नहीं होती, एक ही मां की दो बच्छियें एक-जितना दूध नहीं देतीं, दो जोड़िये भाइयों में एक-जैसा बल और पराक्रम नहीं होता, एक ही वंश के दो व्यक्ति एक-जैसे उदार नहीं होते और अतएव एक-जितना दान नहीं करते[1]।" एक दूसरे स्थान पर वेद कहता है—"हे उषा ! तुम भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले जीवधारियों को अपने-अपने काम-धन्धे देखने-भालने के लिये रात्रि के पीछे अन्धकार से बाहर कर देती हो, किसी को क्षत्रिय के यशस्वी काम करने के लिये, किसी को ब्राह्मण के यज्ञादि के काम करने के लिये, किसी को धन कमाने के, वैश्य के, काम करने के लिये और किसी को चल-फिर कर शूद्र के काम करने के लिये[2]।" इस प्रकार वेद की सम्मति में मनुष्यों की रुचियें, योग्यता, परिश्रम करने की शक्ति और स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं।

हमें व्यक्ति की रुचि, योग्यता, काम करने की शक्ति और स्वभाव आदि को ध्यान में रख कर ही उसे कोई काम देना चाहिये और उसी के अनुसार उसे उस के परिश्रम का

१. समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सं मातराचिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः।। ऋग् १०.११७.९।

२. क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै।
वि सदृशा जीविताभिप्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा।। ऋग्. १.११३.६।

प्रतिफल मिलना चाहिये। साम्यवाद में व्यक्तियों के इस रुचि-भेद, योग्यता-भेद, परिश्रम करने की शक्ति के भेद और स्वभाव-भेद को ध्यान में नहीं रखा जाता। वहां तो सब व्यक्ति समान हैं। सारी सम्पत्ति राष्ट्र की है। व्यक्ति जो भी कुछ पैदा करता है वह सब राष्ट्र का है। जो जितना परिश्रम कर सके उतना परिश्रम उसे करना चाहिये। सब के परिश्रम का मूल्य बराबर है। परिश्रम के प्रतिफल के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति में से खाने-पीने, पहिनने आदि के लिये यथेष्ट मिल जायेगा। साम्यवाद का आदर्श यही है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था इस आदर्शवाद को स्वीकार नहीं करती। वहां तो व्यक्तियों की रुचि और योग्यता आदि के भेद को स्वीकार किया जाता है। वहां कामों के महत्त्व को भी कम-अधिक रूप में स्वीकार किया जाता है। कोई काम राष्ट्र के लिये अधिक महत्त्व का होता है और कोई काम कम महत्त्व का। राष्ट्र के राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री का या शिक्षा-संस्थाओं में अध्यापन करने वाले उपाध्यायों का और अनुसंधानशालाओं में नये-नये आविष्कार करने वाले वैज्ञानिकों का काम एक टोकरी ढोने वाले मजदूर के काम की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व का है। इसी प्रकार और-और कामों के महत्त्व का भी तारतम्य है। राष्ट्र की रक्षा के और राष्ट्र नें शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान के प्रचार के काम दूसरे कामों की अपेक्षा अधिक महत्त्व के हैं।

किसी भी व्यक्ति को उस के काम का जो पारिश्रमिक या प्रतिफल दिया जाये वह उस की योग्यता, उस के काम के महत्त्व और उस की रुचि को ध्यान में रख कर दिया जाना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति की कुछ तो जीवन-यापन के लिये आधारभूत प्रधान आवश्यकतायें होती हैं। हमें खाने को रोटी मिल जाये, पहिनने को वस्त्र मिल जायें, रोगी होने पर चिकित्सा मिल जाये, रहने को मकान मिल जाये और शिक्षा मिल जाये—ये तो हमारी आधारभूत प्रधान आवश्यकतायें हैं। इन को हम ने पीछे 'आलम्बन-पदार्थ' नाम दिया है। ये आलम्बन-पदार्थ तो राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को मिलने ही चाहियें।

कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें यदि ये आलम्बन-पदार्थ मिल जायें तो फिर उन्हें विशेष धन-सम्पत्ति की इच्छा नहीं रहती। वे अपना समय भांति-भांति के विद्याविज्ञानों के अध्ययनाध्यापन में लगाना चाहते हैं और इस काम में शिष्यों और जनता द्वारा मिलने वाले आदर-सत्कार को ही बहुत समझते हैं। 'ब्राह्मण' लोग इसी प्रकार के व्यक्ति होते हैं।

कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें आलम्बन-पदार्थ मिल जाने पर विशेष धन-सम्पत्ति की

इच्छा तो नहीं रहती पर राज-शक्ति और उस से मिलने वाला अधिकार और गौरव प्राप्त करने की इच्छा रहती है। 'क्षत्रिय' लोग इसी प्रकार के व्यक्ति होते हैं।

और कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें आलम्बन-पदार्थ मिल जाने पर भी विशेष धन-सम्पत्ति की इच्छा रहती है—वे धन-सम्पत्ति से मिलने वाली सुख-सुविधाओं को और अधिक मात्रा में भोगना चाहते हैं। 'वैश्य' लोग इसी प्रकार के व्यक्ति होते हैं। किसी भी राष्ट्र में वैश्य-प्रकृति के लोग ही अधिक संख्या में रहा करते हैं। इसीलिए संस्कृत में राष्ट्र की प्रजाओं का एक नाम 'विशः' ही पड़ गया है जो कि वैश्य का नाम होता है।

और कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिन्हें शिक्षा प्राप्त कर के अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार ब्राह्मण आदि में से जो चाहें बनने का अवसर दिया जाने पर भी वे अपनी स्वाभाविक अत्यल्प बुद्धि के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुछ भी नहीं बन पाते। वे बुद्धि का कोई काम (Skilled labour) नहीं कर सकते। ऐसे बुद्धिहीन (Dullards) लोगों को 'शूद्र' कहते हैं। ऐसे शूद्र तो किसी भी सुव्यवस्थित राष्ट्र में बहुत ही कम होंगे। यह भी हो सकता है कि कभी किसी राष्ट्र में शूद्र लोग बिल्कुल ही न हों या नहीं के बराबर हों। शूद्र न होने पर भी राष्ट्र का काम चल सकता है। शूद्र के झाड़ू लगाना, टोकरी उठाना आदि शारीरिक श्रम के काम आवश्यकता होने पर ब्राह्मणादि वर्ण के लोग स्वयं भी कर सकते हैं और यन्त्रों के द्वारा भी ये काम किए जा सकते हैं। जब तक शूद्र हैं तब तक उन की आजीविका के लिए उन्हें ये सेवा के काम दे दिए जाते हैं।

यों मनुष्यों की प्रधान प्रकृतियें तीन प्रकार की होती हैं जिन के अनुसार काम करने वाले लोगों के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रम से ये तीन नाम हो जाते हैं।

यथायोग्य दक्षिणा

वर्णाश्रम-व्यवस्था में व्यक्तियों की योग्यता, रुचि और काम के महत्त्व को ध्यान में रख कर उन्हें यथायोग्य पारिश्रमिक या दक्षिणा दी जाती है। 'ब्राह्मण' प्रवृत्ति के लोग विद्या-विज्ञानों का आविष्कार, अध्ययनाध्यापन और सत्य, न्याय, धर्म-प्रचार आदि का ज्ञान-सम्बन्धी कार्य करेंगे। उन्हें आलम्बन-पदार्थ मिलेंगे। इस के अतिरिक्त उन्हें मान और प्रतिष्ठा सब से अधिक मिलेगी। 'क्षत्रिय' प्रवृत्ति के लोग राष्ट्र-रक्षा के कामों को करेंगे। उन्हें आलम्बन-पदार्थ मिलेंगे। इसके अतिरिक्त राज-शक्ति का अधिकार और गौरव उन्हें मिलेगा। 'वैश्य' प्रवृत्ति के लोग खेती,

पशु-पालन, उद्योग-धन्धों (Industries), शिल्पों और व्यापार का काम करेंगे। उन्हें आलम्बन-पदार्थ मिलेंगे। आलम्बन-पदार्थों के अतिरिक्त उन्हें कुछ और भी अधिक धन-सम्पत्ति मिलेगी जिस से वे धन-सम्पत्ति से मिलने वाले सुख-आरामों को अन्य वर्ण वालों की अपेक्षा कुछ अधिक भोग सकेंगे। निर्बाध रूप से उन्हें सारी सम्पत्ति भोग-विलास में उड़ा देने का अधिकार नहीं होगा। वे राष्ट्र द्वारा निर्धारित, व्यक्तियों को मिलने वाली औसत धन-सम्पत्ति से एक नियत मात्रा में अधिक धन-सम्पत्ति को ही अपने पास रख सकेंगे। सारी सम्पत्ति को नहीं। लोगों की औसत धन-सम्पत्ति से अधिक किस मात्रा तक अधिक सम्पत्ति वैश्य लोग अपने पास रख सकेंगे यह देश और काल की परिस्थिति के अनुसार निश्चित होगा। महात्मा गांधी[१] जी के मत में लोगों की औसत आमदनी से १२ गुना अधिक धन-सम्पत्ति धनियों को अपने पास रखनी चाहिए, अधिक नहीं। परिस्थितियों के अनुसार कोई और मात्रा[२] भी निश्चित की जा सकती है। शूद्र-प्रवृत्ति के लोगों को भी आलम्बन-पदार्थ मिलेंगे।

पूर्ण साम्य मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है

यदि लोगों की योग्यता, रुचि और काम के महत्त्व को ध्यान में रख कर उन्हें यथोचित पारिश्रमिक या दक्षिणा न दी जाएगी और सब के साथ एक समान बर्ताव किया जाएगा जैसा कि साम्यवाद का आदर्श कहता है, तो लोगों में, जैसा ऊपर दिखाया गया है, अपनी पूरी शक्ति लगा कर काम करने की प्रेरणा नहीं होगी। और लोगों में यह प्रेरणा न होने से राष्ट्र को उन की योग्यता और शक्ति से पूरा लाभ नहीं मिल सकेगा। राष्ट्र जितना समृद्ध हो सकता था उतना समृद्ध नहीं होगा और जनता जितनी सुखी हो सकती थी उतनी सुखी नहीं हो सकेगी। व्यवहार में रूस के साम्यवादियों के आगे यह कठिनाई आई। और उन्हें अपने साम्यवाद के आदर्श से नीचे उतर कर पूंजीवादी पद्धति की वे कुछ बातें अपनानी पड़ीं जिन का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। रूस में व्यवहार में पूरा साम्यवाद नहीं चलता है। साम्यवादी दल के प्रमुख लोगों को तथा राज्य के प्रमुख अधिकारियों को रूस में जो सुविधाएं और आराम प्राप्त हैं वे

---

१. Socialism Reconsidered by M.R Masani

२. अभी हाल में भारत सरकार ने श्री जानमथाई की अध्यक्षता में एक कर-जांच-आयोग (Taxation Inquiry Commission) नियुक्त किया था। इस आयोग ने सुझाव दिया है कि कम-से-कम आमदनी और अधिक-से-अधिक आमदनी में १ और ३० का अनुपात रहना चाहिए।

सुविधायें और आराम वहां के सर्वसाधारण लोगों को प्राप्त नहीं हैं। मनुष्यों की योग्यता, रुचि और प्रवृत्तियों के भेद तथा उन के काम के महत्त्व को ध्यान में न रख कर यदि सब के साथ सर्वथा समान बरताव किया जायेगा तो साम्यवाद का यह आदर्श चल नहीं सकेगा। क्योंकि यह मनुष्य-स्वभाव के विपरीत है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में सर्वथा साम्य के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जाता। उस में मनुष्यों की योग्यता, रुचियों, प्रवृत्तियों और कामों के महत्त्व के मौलिक भेद को स्वीकार किया जाता है। और इस मौलिक भेद को ध्यान में रख कर ही वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में समाज की व्यवस्था की जाती है।

शिक्षा में अवसर की वर्ण समानता

हां, एक और प्रकार का साम्यवाद वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में स्वीकार किया जाता है। वह है शिक्षा प्राप्त करने के अवसर की समानता। राष्ट्र के सब लोगों को ऊंची-से-ऊंची शिक्षा प्राप्त करने का अवसर समान रूप से मिलना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने अपने महान ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है कि "राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सकें। पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजे वह दण्डनीय हो[1]।" वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में जाति के प्रत्येक बालक को अनिवार्य रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया जाएगा। चाहे ब्राह्मण का बालक हो और चाहे शूद्र का, सब को आवश्यक रूप से गुरुकुलों में पढ़ने जाना होगा। चाहे कोई राजा का लड़का हो और चाहे रंक का, सब के लिये गुरुकुलों में जाकर पढ़ना अनिवार्य होगा[2]। ब्रह्मचर्याश्रम का सारा समय, लड़कों की अवस्था में कम-से-कम २४ वर्ष की आयु तक और लड़कियों की अवस्था में कम-से-कम १६ वर्ष की आयु तक राष्ट्र के प्रत्येक बच्चे को गुरुकुलों में रह कर पढ़ने-लिखने और दूसरी अच्छी बातें सीखने में बिताना होगा। और यह सारी शिक्षा, ऊंची-से-ऊंची शिक्षा, प्रत्येक बालक को

१. सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास।

२. मनु के अनुसार यदि ब्राह्मण बालक सोलह वर्ष की आयु तक, क्षत्रिय बालक बाईस वर्ष की आयु तक और वैश्य बालक चौबीस वर्ष की आयु तक गुरुकुल में पढ़ने न जा सका तो वह पतित हो जाता है और उस की व्रात्य संज्ञा हो जाती है। उस पतित व्रात्य के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। यों सामान्यतया आठवें वर्ष तक ब्राह्मण-बालक को, ग्यारहवें वर्ष तक क्षत्रिय-बालक को और बारहवें वर्ष तक वैश्य-बालक को अवश्य गुरुकुल में पढ़ने चला जाना चाहिए। मनु. २। ३६-४०।

निःशुल्क रूप में दी जाएगी। पढ़ाने वाले आचार्य और गुरु लोग विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क या फीस नहीं लेंगे। विद्यार्थियों को भोजन, वस्त्र भी जनता या राज्य की ओर से मिलेगा। प्राचीन समय में भारतीय लोगों ने इस का उपाय यह निकाला था कि गुरुकुलों के ब्रह्मचारी आस-पास के गांवों और नगरों में जा कर भोजन की भिक्षा मांग लाया करते थे। आप भी खाते थे और अपने गुरुओं को भी खिलाते थे। प्रत्येक गृहस्थ विद्यार्थियों को भिक्षा देना अपना कर्तव्य समझता था। क्योंकि सभी के बालक इस प्रकार भिक्षा मांग रहे होते थे। हर गृहस्थ माता यह सोचती थी कि न जाने मेरा बालक किस दरवाज़े पर जाकर भिक्षा मांग रहा होगा, जैसे मेरे बालक को कोई और माता भिक्षा दे रही है वैसे ही मुझे भी दूसरी किसी माता के बालक को भिक्षा देनी चाहिए। सब विद्यार्थियों को रोज अच्छा भोजन भिक्षा में मिल जाता था। इसी प्रकार आवश्यकता होने पर वस्त्र आदि की भिक्षा भी कर ली जाती थी। ब्रह्मचारियों और उन के गुरुओं की सब आवश्यकताओं को पूरा करना गृहस्थ अपना धर्म समझते थे। गरीब-से-गरीब का बालक भी बिना कुछ व्यय किए ऊंची-से-ऊंची शिक्षा प्राप्त कर सकता था। और अपने को योग्य बना कर कुछ भी बन सकता था और किसी भी पद पर जा सकता था।

शिक्षा में वानप्रस्थाश्रम का महत्व

पुराने भारतीयों ने शिक्षा को महंगा नहीं रहने दिया था। शिक्षा को निःशुल्क रखने में वानप्रस्थ आश्रय की पद्धति बड़ी सहायक होती थी। वानप्रस्थ लोग गृहस्थ में दुनिया देख और भोग चुके होते थे। वे गृहस्थ का त्याग कर के वानप्रस्थ में तप और त्याग कर जीवन व्यतीत करने आए होते थे। वानप्रस्थ लोग गुरुकुलों में पढ़ाने का काम भी करते थे। उन की आवश्यकताएं बहुत कम और जीवन अत्यन्त सादा होता था। विद्यार्थी भिक्षा में जो भोजन-वस्त्र लाते थे उस में उन का काम अच्छी तरह चल जाता था। उन्हें आजकल के अध्यापकों और उपाध्यायों की भाँति बड़े-बड़े वेतन देने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इस से शिक्षा महंगी नहीं हो पाती थी।

गृहस्थ ब्राह्मण शिक्षक और उन की जीविका

कुछ गृहस्थ ब्राह्मण जो पढ़ाने का काम करते थे केवल उन की गृहस्थ की आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रश्न रह जाता था। विद्यार्थियों द्वारा लाई गई भिक्षा से, और, ब्राह्मणों की सेवा करना अपना 'व्रत' समझ कर वैश्यों द्वारा दी गई सहायता से उन की आवश्यकताएं भी पूरी हो जाती थीं। फिर वे गृहस्थ ब्राह्मण भी यथा-संभव अधिक-से-अधिक सादे और तपस्वी रहते

थे। उन की भी आवश्यकताएं अधिक नहीं होती थीं। इसके अतिरिक्त राज्य की ओर से भी गुरुकुलों को नकद आर्थिक सहायता अथवा जागीरों के रूप में सहायता मिलती रहती थी। गुरुकुलों का काम इस प्रकार, भली-भांति चलता रहता था। किसी विद्यार्थी को पढ़ने-लिखने या खाने-पीने का व्यय नहीं करना पड़ता था। यह सब भार जनता अथवा राष्ट्र उठाता था। इस से गरीब-से-गरीब के लिए भी ऊंचे-से-ऊंचा लायक बनने और अपनी लियाकत के बल पर कुछ भी कर सकने और कोई भी पद प्राप्त कर सकने के अवसर खुले रहते थे।

आज की व्यवस्था में शिक्षा महंगी होने के दुष्परिणाम

आज की पूंजीवादी व्यवस्था में शिक्षा महंगी है। उसे धनवान् व्यक्ति का बालक ही प्राप्त कर सकता है, निर्धन का बालक नहीं। फलतः अच्छे धनी व्यक्ति और वे राज-कर्मचारी लोग ही, जिन्हें ऊंचे वेतन मिलते हैं, अपने बच्चों को ऊंची शिक्षा दिला सकते हैं। और उन के बच्चों को ऊंची शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलने के कारण उस शिक्षा के आधार पर मिलने वाली सब सुविधायें और सारे पद उन्हीं के बालकों को मिलते रहते हैं। इस प्रकार इन सारी सुविधाओं और सारे पदों पर एक छोटे से वर्ग का अधिकार हो जाता है। उसी छोटे से वर्ग के लोगों के घरों में ये सब चीजें रहती हैं। जहां वर्ग-हीन समाज बनाने का दावा किया जाता है वहां भी यह विशिष्ट वर्ग बना ही रहता है—धनिकों का नहीं तो राज-कर्मचारियों का। सर्व-साधारण जनता के लोग इन सब सुविधाओं और पदों से वंचित रहते हैं। क्योंकि शिक्षा के महंगा होने के कारण उन्हें ऊंची शिक्षा ले सकने का अवसर नहीं रहता।

वर्णाश्रम-व्यवस्था में शिक्षा सर्वथा निःशुल्क होगी

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में ऊंची-से-ऊंची शिक्षा भी सर्वथा निःशुल्क होगी। विद्यार्थी के पढ़ने और खाने-पीने आदि का सब भार समाज और राज्य उठाएगा। आज अगर भिक्षा की प्राचीन पद्धति नहीं चल सकती तो शिक्षा का और विद्यार्थियों के भरण-पोषण का सारा व्यय राज्य को करना होगा। चाहे शिक्षा के इस काम में राज्य को कितना ही व्यय क्यों न करना पड़े। यों वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति चल पड़ने पर जब वानप्रस्थ लोग शिक्षणालयों में पढ़ाने लगेंगे तो शिक्षा पर आज होने वाला खर्च काफी कम हो जायगा। क्योंकि उस समय वानप्रस्थों को आज के प्रोफेसरों (उपाध्यायों) की भांति बड़ी-बड़ी तनख्वाहें न देनी पड़ेंगी। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति इस प्रकार शिक्षा के अवसर की समानता के साम्यवाद को मानती

है। राष्ट्र के सब बच्चों को--निर्धन-से-निर्धन के बच्चे को भी--ऊंची-से-ऊंची शिक्षा प्राप्त करने का खुला अवसर प्रदान करो। उस अवसर से लाभ उठा कर बालक जिस प्रकार की योग्यता प्राप्त करना चाहे उसे प्राप्त करने दो। उस में जन्म और गरीबी की कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए। हर बच्चा जो कुछ सीखना और बनना चाहे वह सीखे और बने। इस प्रकार अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार योग्य बन कर जब बालक युवा हो कर समाज में आ कर काम-धन्धे करने लगे तो उसे अपनी योग्यता और काम के अनुसार यथा-योग्य पारिश्रमिक या दक्षिणा दो। ऐसा करने पर ही राष्ट्र पूर्ण समृद्ध और उस की सारी जनता पूर्ण सुखी हो सकेगी।

१०
साम्यवाद का आधार भौतिकतावाद है

कार्लमार्क्स और लेनिन के साम्यवाद का दर्शन भौतिकवादी है। साम्यवादी लोग भौतिक प्रकृति के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। उन के मन्तव्य के अनुसार इस सारे जगत् में प्रपंच का मूल कारण प्रकृति ही है। प्रकृति ही अपने स्वयं के स्वाभाविक आन्तरिक नियमों के अनुसार चलती हुई जगत् के विविध रूपों में प्रकट होती रहती है। प्रकृति के सूक्ष्म परमाणुओं के विभिन्न अनुपातों में मिलते रहने से जगत् के भांति-भांति के पदार्थ बनते रहते हैं। प्रकृति को चलाने वाला और उस के परमाणुओं को विभिन्न अनुपातों में मिला कर उन से संसार के पदार्थों को बनाने वाला कोई परमात्मा नहीं है। बिना किसी की प्रेरणा के प्रकृति स्वयं ही जगत् के विभिन्न पदार्थों के रूप में परिणत होती रहती है।

साम्यवादी लोग जीवात्मा की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते हैं। उन का भौतिकतावादी दर्शन कहता है कि जैसे जल और अग्नि के संयोग से जल में उष्णता का गुण उत्पन्न हो जाता है, अथवा जैसे पोटाशियम फ़ैरोसाइनाइड (Potassium Ferrocyanide) के हलके पीले से रंग के घोल में फ़ैरिक क्लोराइड (Ferric Chloride) का हलके पीले से रंग का घोल मिला देने से उस में गहरा नीला रंग आ जाता है, जैसे कैडमियम नाइट्रेट (Cadmium Nitrate) के नीरंग घोल में सोडियम सल्फ़ाइड (Sodium Sulphide) का नीरंग घोल मिला देने से उस का पीला रंग हो जाता है, जैसे मरक्यूरिक क्लोराइड (Mercuric Chloride) के श्वेत रंग के घोल में पोटाशियम आयोडाइड (Poatssium Iodide) का श्वेत रंग का घोल मिला देने से उस का लाल-नारंगी रंग हो जाता है, जैसे सोडा कास्टिक (Soda-caustic) के हलके नीरंग

घोल में फिनाफ्थलीन (Phenolphthalein) का हलका नीरंग घोल मिला देने से उस में सुन्दर गहरा गुलाबी रंग आ जाता है, उसी प्रकार प्राकृतिक परमाणुओं के एक विशेष प्रकार के संयोग से हमारे शरीरों में चेतनता दिखाई देने लगती है जिसे हम जीवात्मा का नाम दे देते हैं। जीवात्मा की एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में कोई सत्ता नहीं है। जीवात्मा प्राकृतिक परमाणुओं के एक विशेष प्रकार के संयोग के परिणाम-स्वरूप एक प्रतीतिमात्र है। प्राकृतिक परमाणुओं का वह संयोग-विशेष जब तक बना रहता है तब तक हमारे शरीर में चेतना प्रतीत होती रहती है जिसे हम अपना आत्मा कहते रहते हैं। जब परमाणुओं का वह संयोग-विशेष बिगड़ जाता है तो हमारे शरीर में चेतना की प्रतीति होनी बन्द हो जाती है जिसे हम मृत्यु का नाम दे देते हैं और भूल से समझ बैठते हैं कि हमारे भीतर कोई जीवात्मा नाम का स्वतंत्र पदार्थ था जो हमारे शरीर को छोड़ कर चला गया है। वस्तुतः कोई जीवात्मा नाम का स्वतंत्र पदार्थ है ही नहीं जो मृत्यु के समय हमारे शरीर को छोड़ कर जाता।

जब साम्यवादियों के मत में प्रकृति ही प्रकृति है, प्रकृति से भिन्न न कोई आत्मा है और न कोई परमात्मा, तो उन के मत में लोक-परलोक, पुनर्जन्म और कर्म-फल आदि भी कुछ नहीं रहते। और इन आत्मा, परमात्मा, लोक-परलोक, पुनर्जन्म, और कर्म-फल आदि के सिद्धान्तों पर आधारित धर्म भी साम्यवादियों की दृष्टि में कुछ नहीं रह जाता। इसी लिए साम्यवादी लोग धर्म का भी खुला खण्डन करते हैं। इस प्रकार साम्यवाद का दर्शन नास्तिकवाद का दर्शन है और वह पूर्ण रूप से भौतिकतावादी (Materialistic) है।

साम्यवाद के भौतिक साधन और उन का घोर दुष्परिणाम

इसी लिए साम्यवाद मनुष्य-समाज की समस्याओं को सुलझाने के लिए भी भौतिकतावादी दृष्टिकोण को लेकर चलता है। साम्यवाद केवल मनुष्य के भौतिक पहलू को ही देखता है, केवल मनुष्य के शरीर को ही देखता है। और इसीलिए वह केवल मनुष्य की शारीरिक खाने-पीने-पहिनने आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति पर ही बल देता है। वह यह भुला देता है कि शरीर के अतिरिक्त मनुष्य कुछ और भी है, और उसकी शारीरिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त और भी कोई आवश्यकताएं हैं। साम्यवाद मनुष्य के आत्मिक (Spiritual) पहलू को नहीं पहचानता। और मनुष्य की आत्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर ध्यान नहीं देता। पूंजीवाद की पद्धति में राष्ट्र के सब लोगों की शारीरिक आवश्यकताएं भली-भांति पूर्ण नहीं होतीं। उस पद्धति में अधिकांश लोग पीड़ित और क्लेशित रहते हैं। साम्यवाद उसका

उपाय करता है। पर साम्यवाद का उपाय कोरा भौतिकतावादी है। वह पूंजीवाद की बुराइयों को रोकने के लिए जो साधन प्रयोग में लाता है वे निरे भौतिक (physical) हैं। साम्यवाद कहता है कि सब लोगों की सम्पत्ति छीन लो, किसी के पास निजी सम्पत्ति मत रहने दो, सारी सम्पत्ति राष्ट्र की बना दो। इस काम में बल प्रयोग करना पड़े तो वह भी करो। जो लोग इसका विरोध करें उनकी बात मत सुनो। उन का बोलना बन्द कर दो। और जो बोलें उन को दण्डित करो। साम्यवादियों के इस भौतिक दृष्टिकोण का ही परिणाम था कि जब १६१७ की क्रान्ति के पश्चात् रूस में साम्यवादी समाज-व्यवस्था का आरंभ किया गया और तदनुसार वहां के जमींदारों की भूमियें छीनी जाने लगीं और उन्होंने इसका विरोध करना शुरू किया तो लाखों आदमियों को गोली के घाट उतार दिया गया। अनुमान लगाया गया है कि इस प्रकार सफा कर दिए गए जमींदारों की संख्या ४० लाख से ७० लाख के बीच में होगी[1]। और इस गड़बड़ के फलस्वरूप खेती ठीक न हो सकने से जो अकाल पड़ते रहे उन में लगभग ५० लाख आदमी भूख के मारे मर गए। साम्यवादियों के इसी भौतिक दृष्टिकोण का परिणाम है कि रूस में और उसके अनुयायी अन्य साम्यवादी देशों में साम्यवादी विचारों के विरुद्ध किसी को अपनी सम्मति प्रकट करने का अधिकार नहीं है। जो उनके विरोध में अपने विचार प्रकट करता है उसे सख्त दण्ड दिया जाता है—जेल में डाल दिया जाता है, हत्या भी कर दी जाती है। अनुमान लगाया गया है कि रूस में साम्यवादी लोगों के द्वारा ५० लाख से १०० लाख के बीच में अपने से भिन्न राजनैतिक विचार रखने वाले लोगों का सफाया कर दिया गया है।[2] अपनी सत्ता को बद्धमूल करने के पहले १५ वर्षों में बौल्शैविक लोगों द्वारा कुल मिला कर लगभग १५० लाख रूसी लोगों की हत्या कर दी गई या भूखों मार दिया गया।[3] इसी भांति चीन के साम्यवादियों ने सन् १६४६ से १६५६ तक कोई २ करोड़ चीनी लोगों की हत्या कर दी है और २ करोड़ ३० लाख लोगों को जेलों में डाल रखा है जहां उन से सख्त काम लिया जाता है।[4] उन के इसी भौतिक दृष्टिकोण का परिणाम है कि साम्यवादी लोग दूसरे देशों में अपने विचारों को फैला कर वहां की सरकारों को गिरा कर उनके स्थान में साम्यवादी सरकारें स्थापित

1. Socialism Reconsidered by M.R. Masani.
2. Socialism Reconsidered by M.R Masani.
3. Reader's Digest July 1956
4. Reader's Digest. July 1956.

करने के काम में सब प्रकार के अच्छे-बुरे उपायों का अवलम्बन करते रहते हैं। धन की रिश्वत भी देते हैं, असत्य प्रचार का सहारा भी लेते हैं, तोड़-फोड़ भी कराते हैं, शासन में रुकावटें भी डालते हैं, लोगों को डराते-धमकाते भी हैं और हत्याएं भी करा डालते हैं। इस भौतिक दृष्टिकोण की नीति पर चलने वाला व्यक्ति स्वयं भी अपने आत्मिक गुणों को खो कर पशुत्व की कोटि में पहुंच जाता है और जिन पर उस नीति का प्रयोग किया जाता है उन्हें भी डरा कर दब्बू और पतित बना दिया जाता है। साम्यवादी लोग यह नहीं करते कि मनुष्य के आत्मिक पहलू को भी ध्यान में रखा जाए और अपनी समाज-व्यवस्था बनाते समय ऐसे उपायों का ही अवलम्बन किया जाए जो मनुष्य को पतित न करके ऊंचा उठाने वाले हों। वे यह नहीं करते कि पूंजीवाद के दोषों से समाज की रक्षा करने के लिए लोगों के आत्माओं को जगा कर उनकी उदात्त और ऊंची भावनाओं का सहयोग लेकर समाज की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया जाये। साम्यवाद की भौतिकतावादी पद्धति में जब किन्हीं समस्याओं को हल किया जाता है तो उस में बहुत अधिक जोर-जबरदस्ती होती है, कलह और विद्वेष उभरता है, ईर्ष्या भड़कती है, असहिष्णुता जागती है।, खून-खराबी होती है, हत्याएं की जाती हैं, खून की नदियें बहती हैं, अशान्ति का सागर उमड़ पड़ता है। और सब से अधिक बुराई यह होती है कि व्यक्तियों की स्वतन्त्रता छीन ली जाती है। उन्हें स्वतन्त्र होकर बोलने नहीं दिया जाता। वे अपने को स्वतंत्र अनुभव करते हुए कोई काम नहीं कर सकते। उन का स्वतंत्र विकास नहीं होने दिया जाता। उनके आत्मा को दबा और मार दिया जाता है। आज साम्यवादी देशों में साम्यवादी लोग अपनी शक्ति के बल पर सर्वसाधारण जनता के साथ यही कुछ कर रहे हैं। साम्यवादी देशों में लोगों की सोचने-विचारने, कहने और करने की स्वतंत्रता का सर्वथा लोप कर दिया गया है। वहां के मनुष्य मनुष्य नहीं रह गए हैं। वे भेड़-बकरियों से दब्बू हो गए हैं और उन्हें भेड़-बकरियों की तरह ही डण्डे से हांका जाता है। साम्यवादी देशों में लोगों की भूख-प्यास की समस्या का तो हल किया जाता है परन्तु उन की स्वतंत्रता छीन ली जाती है। पहले बहुत से लोगों को पूंजीपतियों का गुलाम रहना पड़ता था, अब उन्हें साम्यवादी दल की और दल द्वारा नियुक्त कारखानों आदि के प्रबन्धकों (मैनेजरों) की अधीनता में रहना पड़ता है। पूंजीवादी पद्धति में तो स्वतन्त्रता का कुछ सांस भी लिया जा सकता था, साम्यवादी शासन में तो उस का नाम भी नहीं रहता। साम्यवादी शासन में राष्ट्र की सारी की सारी जनता

की स्वतन्त्रता छिन जाती है। यह है साम्यवाद के भौतिकतावादी दृष्टिकोण का सब से बड़ा दोष।

साम्यवाद का भौतिकतावादी दर्शन ऊंचे चारित्रिक गुणों का विरोधी है

नास्तिक और धर्म-विहीन होने के कारण साम्यवाद के भौतिकवादी मन्तव्यों का सीधा परिणाम यह होगा कि मनुष्य में, सत्य, न्याय, दया, उदारता और आत्म-त्याग आदि ऊंचे चारित्रिक गुणों (Moral virtues) के प्रति आस्था नहीं रहेगी और व्यक्ति इन गुणों की दृष्टि से चरित्र-हीन होने लग जायेगा। इसी लिये साम्यवादी लोग अपनी नीति चलाने और अपना काम निकालने के लिए सभी तरह के अच्छे-बुरे साधनों को काम में ले आते हैं। आज साम्यवादी लोगों में भी जो सत्य, न्याय, दया, उदारता और आत्म-त्याग आदि गुण कुछ दृष्टिगोचर होते हैं उस का कारण यह है कि साम्यवाद के आगमन से पहले धार्मिक सम्प्रदाय और आस्तिक दर्शन इन गुणों का प्रचार करते रहते थे जिस से जनता में इन गुणों के प्रति आस्था रहती थी। वही पुरानी आस्था अभी तक लोगों में चली आ रही है। वही परम्परा से आ रही इन गुणों के प्रति आस्था साम्यवादी लोगों में भी विद्यमान है। उन के नास्तिक और भौतिकतावादी मन्तव्यों का पूर्ण प्रभाव उन पर हो जाने पर साम्यवादी लोगों में इन गुणों के लिये कोई आस्था नहीं रहेगी। यह धर्म[1] की और आस्तिक दर्शनों की ही कृपा है कि साम्यवादी लोगों में भी ये चारित्रिक गुण कुछ दृष्टिगोचर होते हैं, यद्यपि धर्म और आस्तिकतावाद को साम्यवादी लोगों ने ठुकरा दिया है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था का आध्यात्मिक आधार

साम्यवाद की तुलना में वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति आध्यात्मिकतावादी (spiritual) है। यह पद्धति प्रकृति के साथ-साथ जीवात्मा को भी स्वीकार करती है और परमात्मा को भी। यह पद्धति जीवात्मा और परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करने के परिणामस्वरूप लोक-परलोक, पुनर्जन्म और कर्म-फल आदि के आस्तिक सिद्धान्तों को भी मानती है। जीवात्मा और परमात्मा की सत्ता को, पुनर्जन्म को और कर्म-फल की व्यवस्था को युक्तियों[2] से सिद्ध किया जा सकता है और ऐसी प्रबल युक्तियों से सिद्ध किया जा सकता है जिन का भौतिकतावादी नास्तिक

---

१. इस सम्बन्ध में इस ग्रन्थ के 'वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति' प्रकरण में भी कुछ विचार किया गया है।
२. परमात्मा की सिद्धि में कुछ युक्तियें इस ग्रन्थ के 'वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति' प्रकरण में देखिये।

लोग खण्डन नहीं कर सकते। इन सब सत्ताओं को स्वीकार करने के कारण वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति आध्यात्मिक पद्धति है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था के आध्यात्मिक साधन और उन का सुपरिणाम

वर्णाश्रम-व्यवस्था मनुष्य में जहां उस के भौतिक शरीर को देखती है वहां वह उसके आत्मा का भी ध्यान रखती है। मनुष्य में शरीर का भौतिक अंश भी है। अतः मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताएं भी पूरी होनी चाहिये। यह तो ठीक है। और इसी लिये वर्णाश्रम-व्यवस्था में मनुष्य की भोजन-वस्त्र आदि की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर भी ध्यान दिया जाता है। परन्तु मनुष्य केवल शरीर ही नहीं है। वह आत्मा भी है। अतः यह नहीं होना चाहिए कि हम मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के समय उस के आत्मा को बिल्कुल भुला डालें। हमें शरीर और आत्मा दोनों का ध्यान रखना चाहिये। हमें शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति ऐसे उपायों का अवलम्बन कर के नहीं करनी चाहिए जिन के अवलम्बन से मनुष्य का आत्मा पतित हो जाये। कोई समाज-व्यवस्था बनाते हुए हमारी नीति ऐसी होनी चाहिये कि उस का प्रयोग करने वाले लोगों का आत्मा भी मनुष्यत्व से गिर कर पशुत्व की कोटि में न चला जाये और जिन लोगों पर उस नीति का प्रयोग किया जाये उन का आत्मा भी पतित न होने पाये। दोनों का ही आत्मा पवित्र और ऊंचा बना रहना चाहिये। हमें लोगों के आत्मा को जाग्रत करके, उन के उदात्त और ऊंचे आत्मिक गुणों को उद्बुद्ध कर के, उन के सहयोग से समाज की समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करना चाहिये। भौतिक बल-प्रयोग का सहारा समाज की समस्याओं को सुलझाने में कम-से-कम लिया जाना चाहिये। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का उपाय करने के लिए मनुष्य के आत्मिक गुणों का सहयोग लेती है। इस पद्धति में व्यक्ति को वर्णों और आश्रमों की मर्यादा में से गुजार कर—उन के कर्तव्यों और व्रतों का पालन कराके—उस के आत्मा को जाग्रत किया जाता है, उसके उदात्त और ऊंचे आत्मिक गुणों को उद्बुद्ध किया जाता है। फिर इस जाग्रत आत्मा के सहयोग से समाज की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की व्यवस्था की जाती है। इस का परिणाम यह होता है कि समाज में जोर-जबरदस्ती का स्थान नहीं रहता, कलह और विद्वेष नहीं उभड़ता, ईर्ष्या नहीं भड़कती, खून की नदियें नहीं बहतीं, हत्यायें नहीं करनी पड़तीं, अशान्ति का सागर नहीं उमड़ता। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्तव्य और धर्म समझ कर राष्ट्र के लोगों को सुखी बनाने की दृष्टि से समाज की व्यवस्था में खुशी-खुशी अपना सहयोग देता

है। अपना सब कुछ समाज को सुखी और समृद्ध करने के काम में अर्पण कर देने को तत्पर रहता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था में किसी भी व्यक्ति की स्वतंत्रता को छीनने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वर्णों और आश्रमों की मर्यादा में से गुजार कर व्यक्ति के आत्मा को ऐसा ऊंचा बना दिया जाता है कि वह अपनी स्वेच्छा से अपना सब कुछ राष्ट्र के हित में अर्पण करता रहता है। वह यह नहीं अनुभव करता कि उसे दबा कर उसकी इच्छा के विरुद्ध उससे कुछ लिया जा रहा है। वह यह अनुभव करता है कि मैं धर्म समझ कर स्वेच्छा से अपना सर्वस्व राष्ट्र के हित में अर्पण कर रहा हूं। वर्णाश्रम-व्यवस्था की इस पद्धति का अवलम्बन करने से राष्ट्र की सारी जनता के कष्टों का निवारण भी हो जाता है और राष्ट्र के घर-घर में शान्ति और सन्तोष की गंगा भी बहती रहती है। यह है वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति के आध्यात्मिक पद्धति होने का स्वर्गीय परिणाम !

जीवन का अन्तिम लक्ष्य : ब्रह्मानन्द की प्राप्ति

जब तक हम ने इस संसार में रहना है तब तक यहां के हमारे शारीरिक कष्टों का निवारण होना ही चाहिए। और वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति इन कष्टों के निवारण का उपाय बताती है। परन्तु यह संसार ही सब कुछ नहीं है। वर्णाश्रम-व्यवस्था के दर्शन-शास्त्र में मनुष्य-जीवन का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति माना गया है—शरीर के प्राकृतिक बन्धन से छूट कर परमात्मा का सीधा साक्षात्कार करना माना गया है। परमात्मा को सच्चिदानन्द माना जाता है। परमात्मा का एक गुण आनन्द भी माना जाता है। परमात्मा में आनन्द ही आनन्द है। वहां दुःख का लेश भी नहीं है। दुःख और परमात्मा का वैसा विरोध है जैसा अन्धकार और प्रकाश का होता है। दोनों एक साथ रह ही नहीं सकते। परमात्मा के स्वरूप के विचार में दुःख का विचार सोचा ही नहीं जा सकता। परमात्मा में इतना अधिक, इतना असीम, आनन्द है कि परमात्मा को आनन्दस्वरूप ही कह दिया जाता है। वेद में कहा है—"परमात्मा रस से, आनन्द से, तृप्त हैं, उनके आनन्द में कहीं भी किसी प्रकार की कमी नहीं है[1]।" जब हमें परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है तो उस साक्षात्कार के परिणाम-स्वरूप परमात्मा का आनन्द हमारे आत्मा में भी संक्रान्त हो जाता है। परमात्मा के साक्षात्कार से हम भी आनन्दवान् बन जाते हैं जैसे चुम्बक की समीपता में कच्चा लोहा भी चुम्बक बन जाता है वैसे ही परमात्मा का साक्षात्कार हो

१. रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। अथर्व. १०.८.४४

जाने पर परमात्मा की उस अनुभूति से उन का आनन्द गुण हमारे आत्मा में भी प्रविष्ट हो जाता है। हमारा आत्मा उस आनन्द में मस्त हो कर झूमने लगता है। वह आनन्द इतना महान् और उत्कृष्ट होता है कि उस का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। उपनिषद् के ऋषियों ने, जिन्होंने समाधि में बैठ कर परमात्मा के साक्षात्कार का आनन्द अनुभव किया था, लिखा है कि "परमात्मा के साक्षात्कार के आनन्द को वाणी से नहीं वर्णन किया जा सकता, वह तो उस समय अन्तःकरण से ही अनुभव करने की वस्तु है।[1]" ऋषि दयानन्द और रामकृष्ण परमहंस आदि जिन अनेक योगी महात्माओं और सन्तों ने समाधि में परमात्मा के साक्षात्कार का आनन्द अनुभव किया है उन सभी ने उस आनन्द के निरालेपन के विषय में इसी प्रकार के उद्‌गार प्रकट किए हैं।

जब हम पीछे वर्णित[2] शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन नियमों तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन यमों का व्यापक और पूर्ण रूप से पालन करने लगते हैं तो हमारे आत्मा निष्पाप, निष्कलंक और निर्मल बन जाते हैं। उस निष्पापता और निर्मलता का फल यह होता है कि जब हम परमात्मा के चिन्तन में बैठते हैं तो हमारा मन पूर्ण रूप से परमात्मा में एक हो जाता है—हमारी समाधि लग जाती है। उस एकाग्रता और समाधि की अवस्था में परमात्मा हमारे आत्मा में ज्ञान-रूप से भासने लगते हैं। आत्मा में परमात्मा के उस भासने, उस प्रतीति, उस साक्षात्कार, का फल यह होता है कि परमात्मा का आनन्द हमारे आत्मा में भी प्रविष्ट हो जाता है। हम संसार की चिन्ताओं और क्लेशों से मुक्त होकर एक अद्‌भुत और अवर्णनीय आनन्द की अवस्था में पहुंच जाते हैं।

यम-नियमादि के व्यापक और पूर्ण रूप से पालन से प्राप्त हुई पूर्ण पवित्रता और निर्मलता का दूसरा फल यह होता है कि जब मृत्यु के समय हमारा शरीर छूटता है तो हम सीधे परमात्मा की गोद में चले जाते हैं, परमात्मा के हर समय रहने वाले सीधे साक्षात्कार की अवस्था में पहुंच जाते हैं। हमारा मोक्ष हो जाता है। हम आनन्द के समुद्र में तैरने लग जाते हैं।

---

१. समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।।

मैत्रायणी उपनिषद् ४.९।

२. देखो ऊपर पृष्ठ ६८ से ७२ तक।

और एक बहुत अधिक लम्बे समय तक हम इसी मोक्ष[1] की—इसी परमात्मा के निरन्तर साक्षात्कार से प्राप्त होते रहने वाले आनन्द की—अवस्था में रहते हैं।

हम सभी सुखी बनना चाहते हैं। और पूर्ण रूप से सुखी बनना चाहते हैं। ऐसा पूर्ण सुखी बनना चाहते हैं कि हमारे सुख की अवस्था में स्वप्न में भी दुःख का कोई लेश न रहता हो। ऐसी पूर्ण सुख की जो अवस्था हम प्राप्त करना चाहते हैं वह इस संसार में तो प्राप्त हो नहीं सकती। यहां तो कोई-न-कोई दुःख और क्लेश लगा ही रहेगा। यह पूर्ण सुख-प्राप्ति की हमारी स्वाभाविक इच्छा मोक्ष की अवस्था में ही पूरी हो सकती है। इसी लिए वर्णाश्रम-व्यवस्था के दर्शन-शास्त्र में मोक्ष-प्राप्ति को मनुष्य-जीवन का परम लक्ष्य माना गया है। क्योंकि हम पूर्ण सुखी बनना चाहते हैं इस लिये हमें मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में इन यम-नियमों के पालन का अभ्यास और योगानुष्ठान का अभ्यास शिक्षा का आवश्यक अंग माना गया है। ब्रह्मचारी को अपने विद्यार्थी-काल में यह सब सीखना है। फिर आगे भी सभी आश्रमों में इन के पालन का उपाय करना है। इन यम-नियमों का पालन प्रत्येक व्यक्ति के चरित्र का आवश्यक अंग माना गया है। वर्णाश्रम-पद्धति में ये यम और नियम सच्चरित्रता का लक्षण हैं। इन के पालन का सब को अभ्यास करना है। एक जन्म या अनेक जन्मों में इनका उग्र रूप से पालन कर के जब हम पूर्ण निष्पाप और निर्मल हो जायेंगे तो एक समय ऐसा आयेगा कि जब मृत्यु के समय हमारा शरीर छूटेगा तो हम मोक्ष की अवस्था में चले जायेंगे और वहां ब्रह्मानन्द का उपभोग करते रहेंगे जो कि संसार के सब आनन्दों से अधिक महान् और ऊंचा आनन्द है। और जब तक हमारा शरीर नहीं छूटा होगा तब तक इस पूर्ण पवित्रता के फल-स्वरूप समय-समय पर समाधि में बैठ कर ब्रह्मानन्द का अनुभव करने वाले हम बने रहेंगे।

इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था की आध्यात्मिक पद्धति जहां हमारी संसार की सामाजिक-

---

१. ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के 'बन्ध और मोक्ष' प्रकरण (नवम समुल्लास) में प्राचीन शास्त्रों के आधार पर मोक्ष की अवधि सौ ब्राह्म वर्ष मानी है। सौ ब्राह्म वर्ष ३६ हजार सृष्टि और प्रलयों के काल के बराबर होते हैं। एक सृष्टि और प्रलय का काल ८ अरब ६४ करोड़ मानव वर्ष होता है। इस प्रकार मुक्ति का काल ३११०४०००००००००० (इकत्तीस नील, दस खर्ब, चालीस अर्ब) मानव वर्ष होता है। इतने लम्बे समय तक मोक्ष में ब्रह्मानन्द का उपभोग करने के पश्चात् मुक्तात्मा पुनः संसार में लौट आते हैं।

व्यवस्था को ठीक बनाती है वहां वह हमें ब्रह्म-साक्षात्कार और मोक्ष का आनन्द प्राप्त करने के योग्य भी बनाती है। साम्यवाद की अपेक्षा वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति की यह एक और बड़ी विशेषता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति की यह विशेषता पूंजीवाद की पद्धति में भी नहीं है। पूंजीवाद भी व्यवहार में भौतिकतावादी ही है। उस का ध्यान भी केवल शरीर के भौतिक सुखों की ओर ही रहता है।

११
समाज-व्यवस्था के तीन पहलू

वर्णाश्रम-व्यवस्था की वैदिक समाज-व्यवस्था का अवलम्बन करने पर किसी भी राष्ट्र की आर्थिक समस्याओं का समाधान किस प्रकार से हो सकता है यह हमने ऊपर के पृष्ठों में देखा है। समाज-व्यवस्था के तीन प्रधान पहलू होते हैं। (१) एक उस की आर्थिक-व्यवस्था, (२) एक उस की शिक्षा-व्यवस्था, और (३) एक उस की राज्य-व्यवस्था। शिक्षा-व्यवस्था का उद्देश्य ऐसे मनुष्य तैयार करना होता है जो समाज की आर्थिक-व्यवस्था को और राज्य-व्यवस्था को भली-भांति चला सकें। हम ने वैदिक समाज-व्यवस्था पर विचार करते हुए उस की आर्थिक व्यवस्था पर विचार कर लिया है और प्रसंग से बीच-बीच में उस की शिक्षा-व्यवस्था पर भी बहुत हलका सा दृष्टिपात कर लिया है। समाज की आर्थिक-व्यवस्था और शिक्षा-व्यवस्था को भली-भांति चलाना उस की राज्य-व्यवस्था पर निर्भर करता है। यदि राज्य-व्यवस्था दोषपूर्ण होगी तो आर्थिक और शिक्षा की व्यवस्थायें भी ठीक न चल सकेंगी। इस लिए प्रसंग से दो शब्द वैदिक राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में कह देना भी यहां आवश्यक प्रतीत होता है।

वैदिक राज्य-व्यवस्था

वैदिक राज्य-व्यवस्था में वंशानुक्रमिक एकतन्त्र राजा की पद्धति स्वीकार नहीं की जाती। वैदिक राज्य-व्यवस्था प्रजातन्त्र-पद्धति को मानती है। उस में राजा, प्रजा द्वारा चुना हुआ होना चाहिये। वेद में राजा का अर्थ प्रजाओं द्वारा चुना हुआ राष्ट्रपति होता है। वेद के राजनीति सम्बन्धी स्थलों में स्थान-स्थान पर यह वर्णन आता है कि राजा प्रजाओं द्वारा चुना हुआ होना चाहिये। उदाहरण के लिये वेद में कहा है—"हे राजन्! राष्ट्र की सभी दिशाओं में रहने वाली प्रजायें राज्य करने के लिये तुम्हारा आह्वान करें[1]।" "हे राजन्! सब प्रजायें राज्य करने के

१. सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु। अथर्व. ३.४.१।

लिये तुम्हारा चुनाव करें[1]।" "सारी प्रजाएं मिल कर हे राजन् ! तुम्हारा चुनाव करें[2]।" "सभी प्रजायें, हे राजन् ! राज्य करने के लिए तुम्हें पसन्द करें[3]।" "हे अग्नि जैसे तेजस्वी राजन् ! राष्ट्र के ये सारे ब्राह्मण लोग तुम्हारा चुनाव कर रहे हैं।[4]" "हे राजन् ! राष्ट्र के जो धीवर लोग हैं, जो रथकार लोग हैं जो, लोहे का काम करने वाले कारीगर हैं, जो बुद्धिजीवी लोग हैं, जो रथ और गाड़ियें चलाने वाले लोग हैं और जो गांवों को चलाने वाले किसान और उन के मुखिया लोग हैं, वे सब तुम्हारे चुनाव के लिए अपना मत दे रहे हैं[5]।" वेद में इस प्रकार के और भी अनेक स्थल हैं जहां राजा के चुनाव का स्पष्ट उल्लेख आता है।

राजा को राज्य-कार्य में सहायता देने के लिए दो राज-सभायें होंगी। एक का नाम 'सभा' होगा और दूसरी का नाम 'समिति' होगा। ये दोनों सभायें राज्य के लिये सब प्रकार के कानून और व्यवस्थायें बनाया करेंगी। इन राज-सभाओं द्वारा बनाये गये नियमों और व्यवस्थाओं के अनुसार ही राजा राज्य का शासन करेगा। राजा शासन में मनमानी नहीं कर सकता। उसे राज-सभाओं को साथ ले कर चलना होगा और उन की सम्मति से काम करना होगा। पथ-भ्रष्ट होने पर राजा को राज्य से च्युत भी किया जा सकता है। प्रजा द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि लोग दोनों राज-सभाओं के सदस्य होंगे। 'सभा' नामक राज-सभा में राष्ट्र के चारों वर्णों के लोग राष्ट्र में अपनी संख्या के अनुपात में सदस्यों को चुन कर भेजेंगे। परन्तु 'समिति' नामक राज-सभा में ब्राह्मणों की संख्या अन्य तीनों वर्णों के लोगों से अधिक रहेगी। 'सभा' की अपेक्षा 'समिति' का अधिकार बड़ा होगा। 'सभा' में स्वीकृत व्यवस्थायें और कानून अन्तिम रूप से स्वीकृत होने के लिये 'समिति' में आया करेंगे। 'समिति' में स्वीकृत होने पर ही कोई कानून राष्ट्र में लागू हो सकेगा। राजा के चुनाव में भी यह व्यवस्था रहेगी कि प्रजा के ब्राह्मण लोग पहले चुनाव के लिए खड़े हुए प्रार्थियों में से दो या अधिक सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों को छांट लिया करेंगे। फिर उन में से राष्ट्र के सर्वसाधारण लोग किसी एक सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को चुनेंगे। और वही

---

१. त्वां विशो वृणतां राज्याय। अथर्व. ३.४.२।

२. सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन्। अथर्व. ३.४.७।

३. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु। अथर्व. ४.८.४।

४. त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे। यजुः २७.३।

५. ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः। सूता ग्रामण्यश्च ये।

अथर्व. ३.५.६.७

व्यक्ति राष्ट्र का राजा या राष्ट्रपति बन सकेगा। राजा के मन्त्री भी ब्राह्मण लोग ही होंगे। और न्यायालयों के न्यायाधीश भी ब्राह्मण लोग ही बनेंगे। यहां यह बात फिर अच्छी तरह स्मरण रख लेनी चाहिये कि वैदिक पद्धति में किसी को जन्म के कारण ब्राह्मण नहीं कहा जाता। वैदिक पद्धति में जिस में ब्राह्मण के गुण, कर्म और स्वभाव हों उसी व्यक्ति को ब्राह्मण कहा जाता है। चाहे उस का जन्म किसी भी घर में क्यों न हुआ हो। वैदिक पद्धति में एक शूद्र का—एक चमार और एक चूहड़े का—बालक भी योग्यता प्राप्त कर के ब्राह्मण बन सकता है। जो विद्यावान् हो, संयमी और तपस्वी हो, त्यागी हो, सत्य-प्रिय हो, न्याय-परायण हो, अपरिग्रही हो—जिस में निजी धन-सम्पत्ति जोड़ने की भावना न हो, और, ऐसा जीवन बिताने का 'व्रत' लेकर जिस ने प्रजा के कल्याण में अपनी सारी शक्ति लगाने का 'व्रत' ले रखा हो ऐसे व्यक्ति को 'ब्राह्मण' कहते हैं। राजा के चुनाव में और 'समिति' की सदस्यता में ब्राह्मणों को यह जो विशेषता दी गई है तथा न्यायाधीशों और मन्त्रियों के पद जो ब्राह्मणों को दिए गए हैं उस का कारण यह है कि ब्राह्मणों की अपनी निजी धन-सम्पत्ति तो कोई होनी नहीं है और इसी लिए उन में लोभ और स्वार्थ की भावना भी नहीं रहेगी। वे राजा के चुनाव में और राज्य के कानून बनाने में किसी प्रकार के निजी लोभ और स्वार्थ से प्रवृत्त नहीं होंगे। वे निःस्वार्थ हो कर सब दृष्टियों से सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति को ही राजा चुनेंगे और निःस्वार्थ भावना से ही, केवल प्रजा के हित को ध्यान में रख कर, राज्य के कानून बनायेंगे। और फिर निःस्वार्थ भावना से ही प्रजा के हित में प्रेरित होकर मन्त्री के रूप में अपने अधीनस्थ राज्य कर्मचारियों से उन कानूनों के अनुसार राष्ट्र की शासन-व्यवस्था चलवायेंगे। न्यायाधीश बन कर वे, किसी निजी स्वार्थ में न पड़ने के कारण, सही-सही न्याय किया करेंगे। राज्य की शासन-व्यवस्था में उपर्युक्त गुणों वाले ब्राह्मणों (Intellectuals=बुद्धिजीवी) लोगों को विशेषता देने से राज्य-व्यवस्था आदर्श रूप में चलेगी। उस व्यवस्था में अधर्म नहीं होगा। वह पूर्ण रूप से धर्म पर—सत्य और न्याय पर—आधारित रहेगी। उस में कोई किसी के अधिकारों को नहीं हड़प सकेगा। कोई किसी को सता नहीं सकेगा। कोई किसी पर अत्याचार नहीं कर सकेगा। राष्ट्र का राज्य 'राम-राज्य' होगा।[1]

---

१. वैदिक राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में हम अपने ग्रन्थ 'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' में विस्तार से विचार करेंगे।

राज्य वर्णों और आश्रमों के धर्मों का पालन कराएगा

यह वैदिक राज्य-व्यवस्था राष्ट्र के सब लोगों से उन के वर्णों और आश्रमों के धर्मों और कर्तव्यों का पालन करायेगी। आर्य-साहित्य में राजा को वर्णाश्रम-धर्म-गोप्ता कहा जाता है। लोगों से उन के वर्णों और आश्रमों के कर्तव्यों का पालन कराना राजा का धर्म है। राज-सभा सब वर्णों की योग्यता का एक न्यूनतम मान-दण्ड निश्चित करेगी। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रत्येक विद्यार्थी अपनी रुचि के अनुसार किसी न किसी वर्ण की योग्यता अपने भीतर पैदा करने का और फिर आगे गृहस्थ जीवन में उस वर्ण के कर्तव्यों का पालन करने का 'व्रत' लेगा। १६ वर्ष की आयु में कन्याओं का और २५ वर्ष की आयु में लड़कों का, राज-सभा और विद्यासभा के नियमों के अनुसार परीक्षा लेकर, निश्चय होगा कि कौन किस वर्ण के योग्य है और कौन किस के।[1] फिर गृहस्थ-आश्रम में उन्हें अपने-अपने वर्ण के अनुसार कार्य करने होंगे। कर्तव्य-च्युत होने पर राजा उन्हें दण्डित करेगा। *वर्णों की भाँति आश्रमों के कर्तव्यों और नियमों का भी एक* न्यूनतम मान निश्चित होगा। उसमें त्रुटि होने पर दण्डित होना पड़ेगा। इस प्रकार वर्णों और आश्रमों पर राज्य का अंकुश रहने से वर्णाश्रम-व्यवस्था भली-भांति काम करेगी। और समाज की आर्थिक-व्यवस्था और शिक्षा-व्यवस्था दोनों ही ठीक चलेंगी। और इन दोनों के ठीक चलने का प्रभाव पुनः राज्य-व्यवस्था पर पड़ेगा—वह भी ठीक चलेगी।

वर्णाश्रम-व्यवस्था की प्रजातन्त्रीय शासन-पद्धति

वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति, जैसा ऊपर कहा गया है, आध्यात्मिक पद्धति है। उस के दर्शन में व्यक्तियों में स्वतन्त्र आत्मा की सत्ता स्वीकार की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना पूरा विकास करने की स्वतंत्रता है। वह प्रत्येक विषय में अपने स्वतन्त्र विचार रख सकता है और उन्हें स्वतन्त्रता से प्रकट भी कर सकता है। इसी आध्यात्मिक विचारधारा के परिणाम-स्वरूप वर्णाश्रम-व्यवस्था में प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली को स्वीकार किया जाता है। किसी एक व्यक्ति को अपने वंश या शक्ति के आधार पर राष्ट्र की जनता पर शासन करने का अधिकार नहीं है। राष्ट्र की जनता का बहुमत अपनी स्वतंत्र सम्मति से जिसे अपना राष्ट्रपति चुने और जिन्हें उसके सहायक चुन कर राज-सभा में भेजे उन्हीं को राष्ट्र का शासन करने का अधिकार होना

१. देखो सत्यार्थप्रकाश, चतुर्थ समुल्लास।

चाहिए। राज्य-शासन प्रजातन्त्रीय पद्धति से किया जाना चाहिये।

साम्यवाद प्रजातन्त्र का विरोधी है

इस के विपरीत साम्यवादी विचार-धारा भौतिकतावादी है। वह व्यक्तियों में स्वतंत्र आत्माओं की सत्ता स्वीकार नहीं करती। उसके इस दर्शन के परिणाम-स्वरूप साम्यवाद में राष्ट्र की शासन-व्यवस्था में प्रजाओं की स्वतन्त्र सम्मति का कोई मूल्य नहीं है। साम्यवाद में इसी लिये तानाशाही (Dictatorship) चलती है। वह तानाशाही चाहे एक व्यक्ति की हो और चाहे कुछ व्यक्तियों के समुदाय की, है वह तानाशाही ही। उस में सर्व-साधारण प्रजाओं द्वारा अपनी स्वतन्त्र सम्मति से अपने शासकों के चुनाव का कोई स्थान नहीं है।

साम्यवाद और वर्णाश्रम-व्यवस्था में यह एक और बड़ा भारी भेद है।

पूंजीवादी पद्धति का किसी भी तन्त्र के साथ आवश्यक सम्बन्ध नहीं है

पूंजीवादी पद्धति का प्रजातन्त्र और एकतन्त्र या तानाशाही में से किसी के साथ भी आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। उस पद्धति में राज्य-व्यवस्था प्रजा-तन्त्रात्मक भी हो सकती है और एकतन्त्रात्मक भी हो सकती है। पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था वाले देशों में दोनों ही प्रकार की राज्य-पद्धतिएं पाई जाती हैं। परन्तु जहां प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था होती है वहां भी आर्थिक-व्यवस्था पूंजीवादी ढंग की रहने के कारण सर्वसाधारण प्रजा पूर्ण रूप से सुखी नहीं हो पाती।

१२.
वर्णाश्रम-व्यवस्था की श्रेष्ठता

इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था की वैदिक समाज-व्यवस्था साम्यवादी और पूंजीवादी दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं से श्रेष्ठ है। जिस दिन वैदिक धर्म के विचारों का प्रचार हो कर संसार के राष्ट्रों में समाज की व्यवस्था वर्णाश्रम-धर्म के आधार पर हो सकेगी उसी दिन संसार के लोगों को सच्ची शान्ति और सच्चा सुख प्राप्त हो सकेगा। हम भारतीय आर्य लोगों को अपनी इस प्राचीन समाज-व्यवस्था की पद्धति के गुणों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिये और उसके सुन्दर तत्त्वों का जनता में प्रचार कर के राष्ट्रों की समाज-व्यवस्था उन तत्त्वों के अनुसार ढालने का प्रयत्न करना चाहिये। राष्ट्रों की प्रचलित समाज-व्यवस्थाओं में वर्णाश्रम-व्यवस्था के

तत्त्वों का जितना-जितना समावेश होता जायेगा, वे व्यवस्थायें अपने राष्ट्रों की जनता का उतना ही अधिक सुख-कल्याण बढ़ाने वाली बनती जायेंगी।

वर्णाश्रम-व्यवस्था का वैज्ञानिक आधार : सत्व, रज और तम

हमें आज के संसार के आगे वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति उपस्थित करने में संकोच अनुभव करने की आवश्यकता नहीं है। वर्णों की व्यवस्था मनुष्यों के स्वाभाविक रुचि-भेद और योग्यता-भेद पर आश्रित है। जब हमारे आत्माओं का प्रकृति से बने हमारे शरीरों के साथ संयोग हो जाता है तभी हम मनुष्य कहलाते हैं। प्रकृति में सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण रहते हैं। हमारे शरीर और मस्तिष्क में भी प्रकृति के ये तीनों गुण विद्यमान रहते हैं। हमारे प्राकृतिक शरीर और मस्तिष्क का हमारे आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। उस प्रभाव के फलस्वरूप हमारी प्रवृत्तियें और हमारे व्यवहार भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार के हो जाते हैं। किन्हीं शरीरों और मस्तिष्कों में प्रकृति के सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है, किन्हीं में रजोगुण की और किन्हीं में तमोगुण की। और किन्हीं में इन तीनों की समानता रहती है। शरीर और मस्तिष्क की इन विशेषताओं के कारण उन में रहने वाले आत्माओं की प्रवृत्तियें और व्यवहार भी सत्त्वगुण-प्रधान, रजोगुण-प्रधान, तमोगुण-प्रधान तथा तीनों की समताओं वाले होने लगते हैं। सत्त्वगुण की प्रधानता वाले व्यक्ति 'ब्राह्मण' कहलाते हैं, रजोगुण की प्रधानता वाले व्यक्ति 'क्षत्रिय' कहलाते हैं, तीनों गुण की समता वाले व्यक्ति 'वैश्य' कहलाते हैं और तमोगुण की प्रधानता वाले व्यक्ति 'शूद्र' कहलाते हैं। इन तीनों गुणों और उन के आधार पर बनने वाली प्रवृत्तियों और व्यवहारों की गीता[1] आदि शास्त्रों में बड़े विस्तार से विवेचना की गई है। उस विवेचना के विस्तार में जाने की यहां आवश्यकता नहीं है। सभी वर्णों के लोगों में ये तीनों गुण न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं। यह तो आवश्यक ही है। क्योंकि हमारे शरीर और मस्तिष्क त्रिगुणात्मिक प्रकृति से बने हैं। केवल किसी एक गुण की प्रधानता के कारण किसी व्यक्ति को उस गुण वाला और उस गुण की प्रधानता पर आश्रित वर्ण वाला कहा जाता है। जब किन्हीं लोगों में रजोगुण और तमोगुण की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती है तो वे लोग

१. देखो, गीता अध्याय १४, १७ और १८ तथा मनुस्मृति अध्याय १२ के २४ से ५१ श्लोक। महाभारत आदि ग्रन्थों में भी इन तीनों गुणों के सम्बन्ध में बहुत विस्तार से विचार किया गया है। योग और सांख्य दर्शनों में भी इन तीनों गुणों के सम्बन्ध में बहुत अधिक विचार किया गया है।

चोर, लुटेरे, डाकू, हत्यारे आदि दस्यु लोग बन जाते हैं। ये दस्यु लोग वर्ण-मर्यादा में शामिल नहीं किये जाते। वे वर्ण-मर्यादा से बाहर रहते हैं और दण्ड के पात्र होते हैं। अपने आत्मा की प्रबल इच्छा-शक्ति और तज्जन्य तीव्र प्रयत्न से तथा भोजन और रहन-सहन आदि की परिस्थितियों को नियमित करके अपने शरीर और मस्तिष्क में और उसके द्वारा अपने आत्मा में इन सत्त्व आदि गुणों की मात्रा को घटाया-बढ़ाया भी जा सकता है। दूसरे शब्दों में, अपने विशेष प्रयत्न से कोई व्यक्ति अपनी प्रवृत्तियों को बदल भी सकता है। सात्त्विक प्रवृत्तियों की प्रधानता वाला व्यक्ति 'ब्राह्मण', राजस प्रवृत्तियों की प्रधानता वाला व्यक्ति 'क्षत्रिय', सात्विक, राजस तथा तामस प्रवृत्तियों की समानता वाला व्यक्ति 'वैश्य' और तामस प्रवृत्तियों की प्रधानता वाला व्यक्ति 'शूद्र' कहलायेगा। इस प्रकार व्यक्तियों के प्रवृत्ति-भेद और रुचि-भेद पर आश्रित वर्ण-व्यवस्था सर्वथा वैज्ञानिक है। संसार के सभी मनुष्य ब्राह्मणादि की प्रवृत्तियों में से किसी-न-किसी एक प्रवृत्ति वाले अवश्य होंगे।

वर्ण-व्यवस्था और विदेशी विद्वान्

भारत से बाहर के भी कई बहुत ऊंचे विचारक समाज-व्यवस्था पर विचार करते हुए अपने ढंग से वर्ण-व्यवस्था के वर्ण-विभाग के सिद्धान्त पर पहुंचे हैं। ग्रीस देश का प्रसिद्ध दार्शनिक प्लैटो पाश्चात्य जगत् का एक बहुत महान् विचारक माना जाता है। वह योरोप के दर्शन-शास्त्र का गुरु समझा जाता है। दर्शनशास्त्र के किसी भी विद्यार्थी के लिए प्लैटो के ग्रन्थों का अध्ययन करना आवश्यक समझा जाता है। प्लैटो का एक अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ रिपब्लिक (Republic) नाम का है। अपने इस ग्रन्थ में प्लैटो ने आज से २३५० वर्ष पहले इसी बात पर विचार किया है कि एक आदर्श राष्ट्र की समाज-व्यवस्था किस प्रकार की होनी चाहिये। अपनी समाज-व्यवस्था का विस्तार से वर्णन करते हुए प्लैटो ने लिखा है कि मनुष्य-समाज को, मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार, तीन विभागों में बांट दिया जाना चाहिये। प्लैटो ने मनुष्य-समाज के जो तीन विभाग किये हैं उन के नाम क्रम से 'गार्जियन' (Guardian=रक्षक), 'सोल्जर' (Soldier=सैनिक) और 'कॉमनमैन' (Common Man=सर्व साधारण लोग) रखे हैं। प्लैटो ने इन तीनों को राष्ट्र की सेवा के वही काम दिये हैं जो वर्णव्यवस्था में क्रम से ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों को दिये जाते हैं। प्लैटो का गार्जियन वर्णव्यवस्था का ब्राह्मण है, सोल्जर क्षत्रिय है और कॉमनमैन वैश्य है। प्लैटो ने इन तीनों की शिक्षा की भी लगभग वैसी ही व्यवस्था

बताई है जैसी वर्णाश्रम-व्यवस्था में ब्रह्मचर्याश्रम में ब्राह्मणादि वर्णों की शिक्षा की व्यवस्था है। वही तप, संयम और सादगी तथा वही समाज की सेवा के विचार से अपने को तैयार करना और योग्य बनाना।

प्लैटो तो योरोप का बहुत पुराना विचारक है। आधुनिक समय में इंग्लैंड के प्रसिद्ध विचारक एच.जी.वेल्स (H.G.wels) भी समाज के नव-संगठन के सम्बन्ध में विचार करते हुए मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के आधार पर मनुष्य-समाज को तीन विभागों में बांटने के परिणाम पर पहुंचे हैं। एच.जी.वेल्स एक बहुत बड़े लेखक और विचारक माने जाते हैं। उन्होंने 'वर्क वेल्थ ऐण्ड हैप्पिनैस आफ् मैनकाइण्ड' (Work, Wealth and Happiness of Mankind=काम धन्धे, धन और मनुष्यों का सुख-कल्याण) नाम का एक बड़ा ग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ में उन्होंने समाज की आर्थिक-व्यवस्था, शिक्षा-व्यवस्था और राज्य-व्यवस्था आदि विषयों पर विचार किया है। उन्होंने उस ग्रन्थ में आजकल की प्रचलित समाज-व्यवस्थाओं के दोष दिखाते हुए नई समाज-व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने सुझाव दिये हैं जिन के आधार पर समाज की व्यवस्था होने पर सब मनुष्य सुख-आनन्द में रहा करेंगे। अपने इस विचार में वेल्स ने मनुष्यों की प्रवृत्तियों के तीन विभाग किये हैं। एक प्रवृत्तियों का नाम वेल्स ने 'पैजैण्ट परसोना' (Peasant Perasona=कृषक लोगों की प्रवृत्तियाँ) रखा है। दूसरी प्रवृत्तियों का नाम 'नोमड परसोना' (Nomad's Persona=बलशाली साहसी लोगों की प्रवृत्तियें) रखा है। और तीसरी प्रवृत्तियों का नाम 'प्रीस्ट परसोना' अथवा 'ऐजुकेटिड परसोना' (Priest persona or the Educated persona=पुरोहितों अथवा शिक्षित लोगों की प्रवृत्तियें) रखा है। इन तीन नामों के नीचे वेल्स ने क्रम से उन सब प्रवृत्तियों को रख दिया है जिन प्रवृत्तियों वाले लोगों को आर्य-शास्त्रों में वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण कहा जाता है। वेल्स का पैजैन्ट परसोना वर्णाश्रम-व्यवस्था का वैश्य है, नौमड परसोना क्षत्रिय है और प्रीस्ट परसोना या ऐजुकेटिड परसोना ब्राह्मण है। वेल्स ने लिखा है कि मनुष्यों की इन तीनों प्रकार की प्रवृत्तियों के आधार पर बालकों को परख कर तदनुसार उन्हें शिक्षित करना चाहिये और समाज की सेवा के योग्य बनाना चाहिये। प्रीस्ट परसोना (ब्राह्मणों) की प्रवृत्तियों का वर्णन करते हुए वेल्स ने एक स्थान पर लिखा है कि "पुरोहितों और ज्ञानियों की श्रेणी के लोगों में जो निःस्वार्थ ईमानदारी और सत्यपरायणता का कभी न मिटने वाला भाव पाया जाता है जिस की केवल इन्हीं लोगों ने सदा रक्षा की है, उसी पर

मनुष्य जाति का भविष्य निर्भर करता है[1]।" वेल्स ने जो कुछ कहा है उस का आशय यह है कि ईमानदारी और सत्यनिष्ठता का निःस्वार्थ और अटल भाव से पालन करने वाले ब्राह्मण वृत्ति के लोग ही मनुष्य-समाज को सुखी और समृद्ध बना सकते हैं।

इस के अतिरिक्त आधुनिक योरोप के कई विचारक ऐसे भी हैं जिन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्था का सीधा नाम ले कर लिखा है कि समाज की सर्वोत्तम व्यवस्था वर्णाश्रम-व्यवस्था ही है और उसी के अनुसार समाज का निर्माण होना चाहिए। रूस में एक विचारक हुए हैं जिन का नाम औसूपैंस्की (Auspensky) था। उन्होंने 'संसार का एक नया संगठन' (A New Model of the Universe) नाम का एक बड़ा विचारपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रंथ में अनेक वैज्ञानिक और दार्शनिक विषयों पर विचार किया गया है। एक अध्याय में समाज के संगठन पर भी विचार किया गया है। इस अध्याय में औस्पैंस्की ने मनुस्मृति के वर्णव्यवस्था विषयक श्लोकों को उद्धृत कर के उन पर विचार करते हुए लिखा है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति समाज-व्यवस्था की सर्वश्रेष्ठ पद्धति है और उसी के अनुसार नए मनुष्य-समाज की रचना होनी चाहिए। स्टैलिन के साम्यवादी रूस में औस्पैंस्की के विचार नहीं सहे गये और औस्पैंस्की को रूस छोड़ कर भाग जाना पड़ा।

हालैण्ड के एक प्रसिद्ध विचारक डॉक्टर जी.एच.मीज़ (Dr.G.H.Mees M.A. Ph.D.) है। उन्होंने 'धर्म और समाज' (Dharma and Society) नाम की एक सुन्दर पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय ही वर्णाश्रम-व्यवस्था है। डॉक्टर मीज़ ने भी वर्णाश्रम-व्यवस्था को समाज-व्यवस्था की सर्वोत्तम पद्धति माना है। और नया समाज इस पद्धति के आधार पर निर्मित होना चाहिये ऐसा लिखा है। अपनी 'मानव-कुटुम्ब और भारत' (Humman Family and India) नामक पुस्तक में भी डॉक्टर मीज़ ने इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं।

वर्णाश्रम-व्यवस्था संसार को भारत का अनूठा उपहार

इस प्रकार हम वैदिक धर्मियों की यह वर्णाश्रम-व्यवस्था ऐसी पुरानी और दकियानूसी चीज़ नहीं है जिसे संसार के विचारशील लोगों के आगे रखने में हमें संकोच हो। यह व्यवस्था

1. It is in the ineradicable idea of disinterested integrity which this priestly-Learned class alone has fostered that the future of humanity resides. H.G. Wels in Work Wealth and Happiness of Mankind. P. 313.

मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर आधारित है और पूर्ण वैज्ञानिक है। इस के सिद्धान्त व्यक्ति और समाज को बहुत ऊंचा उठा देने की शक्ति रखते हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्था के रूप में भारतवर्ष के आर्य लोगों के पास एक ऐसी वस्तु है जिसे वे संसार को एक अनूठे उपहार के रूप में दे सकते हैं, जिस के तत्त्वों को समझ और हृदयगंम कर के उन के अनुसार नये समाज की रचना कर के धरती के मनुष्य अपनी इस धरती को स्वर्ग बना सकते हैं और स्वयं उस स्वर्ग में रहने वाले देवता बन सकते हैं।

१३.
वर्णाश्रम-व्यवस्था के लिये किसी राष्ट्र का हिन्दू होना आवश्यक नहीं है

इस निबन्ध को समाप्त करते हुए एक शंका को दूर कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। यदि मनुष्य-समाज की रचना वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति के आधार पर हो जाये तो मनुष्य-समाज की आदर्श उन्नति हो सकती है और उसे अभ्युदय और निःश्रेयस का महान् सुख-मंगल प्राप्त हो सकता है, ऐसा हम इस निबन्ध में प्रतिपादन करते आ रहे हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति वैदिक-पद्धति है। वेदों और उन पर आश्रित आर्यशास्त्रों में इस पद्धति का प्रतिपादन किया गया है। किसी के मन में यह शंका हो सकती है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था तो वैदिक पद्धति है, जो लोग वेदों और उन पर आश्रित आर्य-शास्त्रों को मानते हैं, जिन लोगों का वेद-शास्त्रों में प्रतिपादित धर्म पर विश्वास है, जो लोग अपने को आर्य या हिन्दू कहते हैं, उन्हीं लोगों में वर्णाश्रम-व्यवस्था चल सकती है, उसे दूसरे लोगों में कैसे चलाया जा सकता है ? जो लोग ईसाइयत और इस्लाम आदि धर्मों को मानते हैं उन में वर्णाश्रम-व्यवस्था कैसे चल सकती है ? जो लोग ईश्वर में विश्वास नहीं रखते और इसी लिये नास्तिक हैं, उन में भी वर्णाश्रम-व्यवस्था कैसे चल सकती है ? यह शंका करने की आवश्यकता नहीं है वर्णाश्रम-व्यवस्था के लिये किसी राष्ट्र का आर्य या हिन्दू होना आवश्यक नहीं है। वर्णाश्रम-व्यवस्था ईसाइयत, इस्लाम, आदि धर्मों को मानने वाले तथा अपने को नास्तिक कहने वाले सभी लोगों और राष्ट्रों में चल सकती है। वर्णाश्रम-व्यवस्था के लिये वैदिक धर्म या हिन्दू धर्म के ठेठ धार्मिक विश्वासों और कर्मकाण्ड को मानने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दुओं के इन ठेठ धार्मिक विश्वासों और कर्मकाण्ड को माने बिना भी वर्णाश्रम-व्यवस्था चल सकती है। वर्णाश्रम-व्यवस्था तो वर्णों के चुनाव और उन के कर्तव्य-कर्मों के पालन के लिये 'व्रत' लेने पर बल देती है। और आश्रमों की मर्यादा में से चलते हुए अपने-अपने वर्ण की तैयारी और अपने-अपने वर्ण के कर्तव्य-कर्मों

को पूरा करने का आग्रह करती है। जो लोग 'अज्ञान' से उत्पन्न होने वाले समाज के कष्टों को दूर करने में अपनी शक्ति लगाने का 'व्रत' लेंगे वे ब्राह्मण हैं। जो लोग 'अन्याय' के कारण उत्पन्न होने वाले समाज के कष्टों को दूर करने में अपनी शक्ति लगाने का 'व्रत' लेंगे वे क्षत्रिय हैं। जो लोग 'अभाव' के कारण उत्पन्न होने वाले समाज के कष्टों को दूर करने का 'व्रत' लेंगे वे वैश्य हैं। और जो लोग इन तीनों में से किसी भी वर्ण की योग्यता अपने अन्दर उत्पन्न नहीं कर सकते हैं और इसी लिये इन तीनों वर्णों की सेवा करने का 'व्रत' लेते हैं वे शूद्र हैं। एक ईसाई भी ऐसा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो सकता है और एक मुसलमान भी अथवा किसी अन्य धर्म को मानने वाला भी ईश्वर को न मानने वाला एक नास्तिक भी इस प्रकार का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हो सकता है। ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी रह कर भाँति-भाँति की विद्यायें पढ़ कर अपने चुने हुए ब्राह्मणादि वर्ण के कर्तव्य-कर्मों को पूरा करने की योग्यता पैदा करनी होती है। गृहस्थाश्रम में विवाहित जीवन बिताते हुए अपने-अपने चुने हुए वर्ण के कर्तव्यों को पूरा करना होता है। वानप्रस्थाश्रम में गृहस्थ जीवन की जिम्मेवारियों से मुक्त हो कर अपने जीवन को तप, स्वाध्याय, चिन्तन और साधना द्वारा पवित्र बनाना होता है और जाति के बालकों को निःशुल्क शिक्षा देनी होती है। संन्यासाश्रम में पूर्ण वैराग्यवान् होकर प्राणि-मात्र के लिये दया की वृत्ति धारण कर के मनुष्यों को सत्य, न्याय, परोपकार और अहिंसा आदि के तत्त्वों का उपदेश करते हुए विचरना होता है—सारी धरती को अपना घर और मनुष्य-मात्र को अपना कुटुम्बी समझना होता है। एक ईसाई भी ऐसा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी हो सकता है और एक मुसलमान भी, अथवा अन्य किसी धर्म को मानने वाला व्यक्ति भी। ईश्वर को न मानने वाला एक नास्तिक भी ऐसा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी हो सकता है। वैदिक धर्म के ठेठ धार्मिक मन्तव्यों और कर्मकाण्ड को कोई चाहे माने और चाहे न माने। इस प्रकार वर्णाश्रम-व्यवस्था के लिये किसी राष्ट्र का वैदिकधर्मी या हिन्दू होना आवश्यक नहीं है। अहिन्दू राष्ट्रों में भी वर्णाश्रम-व्यवस्था चल सकती है। और जिस दिन धरती के सब राष्ट्रों में वर्णाश्रम-व्यवस्था चलने लग पड़ेगी उसी दिन मनुष्य के दुःख-द्वंद्व कट सकेंगे और धरती स्वर्ग बन सकेगी।

वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति

१.
रूस में जार के अत्याचार

रूस के जार नामक सम्राट् स्वेच्छाचारी निरंकुश शासक होते थे। उन्हें प्रजा के सुख-आनन्द और समृद्धि की कोई चिन्ता नहीं थी। वे अपने ही सुख और भोग-विलास में डूबे रहते थे। अपने लिये भोग-विलास की सामग्री जुटाने के लिये वे प्रजा का खून चूसते रहते थे। उन के नीचे कांम करने वाले राज्याधिकारी प्रजा पर मनमाना अत्याचार करते थे। प्रजा जब इन राज कर्मचारियों द्वारा अपने ऊपर किये गये अत्याचारों के विरुद्ध जार से शिकायत करती थी तो वह प्रजा के साथ न्याय न कर के राज्य-कर्मचारियों का पक्ष लेता था और उलटा प्रजा-जनों को दण्डित करता था। कई बार तो यहां तक भी होता रहा कि प्रजा के लोग अपनी फ़रियाद लेकर सम्राट् के पास पहुंचे और सम्राट् से मिलने की प्रार्थना की। सम्राट् ने उन से मिलने से इन्कार कर दिया और राजमहल के फाटक बन्द करवा दिये। प्रजाजनों ने चाहा कि सम्राट राजभवन की खिड़की में से ही उन की बात सुन लें। सम्राट् ने इस से भी इन्कार कर दिया। प्रजाजनों ने कहा कि अच्छा सम्राट् हमारी बात न सुने हम इतनी दूर से सरदी की मौसम में फटे कपड़ों में, नंगे पैरों बर्फ पर चल कर ठिठुरते हुए आये हैं, सम्राट् एक मिनट के लिये खिड़की में खड़े हो कर ही अपने दर्शन ही दे दें। सम्राट् ने इस से भी इन्कार कर दिया और प्रजाजनों के इस बार-बार के निर्दोष आग्रह से क्रुद्ध हो कर उन पर गोली चलवा दी और उनके रुधिर को पानी की तरह बहा दिया। प्रजा को खाने को नहीं मिलता था पहिनने को नहीं मिलता था। प्रजा रोगों से पीड़ित रहती थी। शिक्षा की व्यवस्था नहीं थी। राज्य की व्यावसायिक उन्नति की ओर कोई ध्यान नहीं था। ऊपर से राजकर्मचारी और जमींदार लोग प्रजा पर मनमाने अन्याय और अत्याचार करते थे। सम्राट् इस अन्याय और अत्याचार से प्रजा की रक्षा कर के अत्याचार करने वालों का पक्ष लेता था और स्वयं भी अत्याचार करने पर उतर आता था।

ज़ार और ईसाई धर्म-गुरुओं का गठ-जोड़ा

रूस में उस समय ईसाई धर्म का प्रचार था। परन्तु रूस के उस समय के ईसाई धर्म-गुरु पादरियों में धर्म का अभाव हो गया था। सच्चा धर्म अन्याय और अत्याचार का विरोध करके अधर्म से लड़ता है। परन्तु रूस के उस समय के पादरी राज-कर्मचारियों, जमींदारों और सम्राट् द्वारा प्रजा पर किये जाने वाले अत्याचारों का न केवल विरोध ही नहीं करते थे प्रत्युत इस अत्याचार का खुला समर्थन करते थे और कहते थे कि सम्राट् और उस के कर्मचारी जो कुछ कर रहे हैं ठीक कर रहे हैं। उस समय के रूस के ईसाई धर्म ने ज़ार के साथ गठ-जोड़ा कर रखा था।

कम्युनिस्ट रूस में धर्म का विरोध

इस गठ-जोड़े का परिणाम यह हुआ कि जब लेनिन और उस के साथियों के नेतृत्व में रूस की प्रजा ने ज़ार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तो वह पादरियों और ईसाई धर्म के विरुद्ध हो गई। प्रजा ने और उस के नेताओं ने समझा कि ज़ार जिस प्रकार अपने राज-कर्मचारियों और जमींदारों के सहारे अपनी निरंकुश सत्ता बनाये हुए है और हम पर अत्याचार करता है उसी प्रकार ये ईसाई धर्म-गुरु और उन का धर्म भी ज़ार की निरंकुश सत्ता और अत्याचारों के सहायक हैं। ईसाई धर्म-गुरुओं के इस व्यवहार को देख कर रूस के लोगों में धर्ममात्र से ही अश्रद्धा होने लगी और ईश्वर से भी विमुख होने लगे। लेनिन के नेतृत्व में काम करने वाले कम्युनिस्ट या बौल्शेविक दल का तो धर्म और ईश्वर का विरोध करना एक मुख्य सिद्धान्त हो गया। लेनिन और उस के अनुयायी कार्लमार्क्स के अनुयायी होने के कारण भौतिकतावादी तो थे ही। परन्तु ईसाई धर्म-गुरुओं के व्यवहार ने उन्हें धर्म और ईश्वर का घोर शत्रु बना दिया। जब १९१७ की राज्य-क्रान्ति के पश्चात् रूस की शासन-सत्ता कम्युनिस्ट लोगों के हाथ में आ गई तो उन्होंने धर्म प्रचार पर सर्वथा प्रतिबन्ध लगा दिया।

कम्युनिस्ट विचारों की लोकप्रियता का कारण

राज्य-शासन और आर्थिक व्यवस्था के क्षेत्र में कम्युनिज़्म बिल्कुल नये सिद्धान्त ले कर आया। कम्युनिस्टों का विश्वास है कि उन के ये नये सिद्धान्त ही—जिन का स्रोत कार्लमार्क्स, ऐंजल्स और लेनिन आदि महापुरुष हैं—संसार के लोगों को सब प्रकार के कष्टों से मुक्ति दिला सकेंगे। उन्होंने धर्म प्रचारकों के से उत्साह और तत्परता से धरती के विभिन्न राष्ट्रों की जनता

में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करना आरंभ कर दिया। इन सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त धर्म और ईश्वर का विरोध करना भी है। उधर जब रूस की शासन-सत्ता कम्युनिस्टों के हाथ में आ गई तो उन लोगों ने अपने देश की प्रजा के हित के अनेक कार्य किये। राष्ट्र में कृषि और व्यवसायों की खूब उन्नति हुई। अनेक प्रकार के कल-कारखाने खुल गये। शिक्षा का व्यापक प्रचार किया गया। प्रजा के लोगों को ज़ारों के समय की अपेक्षा बहुत अधिक खाने और पहिनने को मिलने लगा। जनता की सुख-समृद्धि पर्याप्त मात्रा में बढ़ गई। रूस जहां सभी दृष्टियों से संसार के पिछड़े हुए राष्ट्रों में समझा जाता था अब वह विश्व के प्रथम श्रेणी के उन्नत राष्ट्रों में गिना जाने लगा। रूस में कम्युनिस्टों की इस सफलता से विभिन्न राष्ट्रों की जनता में कम्युनिस्ट विचारों को फैलने में बड़ी मदद मिली।

कम्युनिज्म के धर्मविरोधी विचार भारत में भी फैले

भारतवर्ष में भी कम्युनिस्ट विचार फैले। हमारे देश के नव-शिक्षितों की एक बड़ी संख्या ने समझा कि इस देश के संकट भी कम्युनिस्ट विचारों को अपना कर उन के अनुसार चलने से ही कटेंगे। इन लोगों ने समण कि कम्युनिस्ट सिद्धान्तों को ले कर ही हम अपने देश को स्वतन्त्र करा सकेंगे और उसे सब प्रकार से उन्नत बना सकेंगे। धर्म और ईश्वर का विरोध करना कम्युनिज़्म का एक मुख्य सिद्धान्त है ही। हमारे देश के इन लोगों ने भी धर्म और ईश्वर का विरोध करना आरम्भ कर दिया। धर्म को सब बुराइयों और दुर्गतियों की जड़ बताया जाने लगा। कहा जाने लगा कि किसी व्यक्ति के गले में भारी पत्थर बांध कर नदी में फेंक दो, वह तैर कर ऊपर नहीं आ सकेगा, वहीं डूब कर मर जायेगा, यदि चाहते हो कि कोई राष्ट्र कभी उन्नति न कर सके, सदा गिरावट के गड्ढे में गिरा रहे, तो उस की जनता के गले में धर्म का भारी पत्थर बांध दो। इस प्रकार ये लोग धर्म को देश की स्वतंत्रता और उन्नति का का भारी शत्रु बता कर उस का घोर विरोध करने लगे।

२.
भारत में हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े

हमारे देश की एक विशेष अवस्था है। यहां अनेक धर्मों को मानने वाले लोग रहते हैं। एक धर्म को मानने वाले लोग दूसरे धर्म को मानने वाले लोगों को अपना विरोधी समझते हैं। यहां के हिन्दू और मुसलमानों में तो आपस में बड़ा ही कड़वा विरोध है। हमारे देश के

शासक अंग्रेज लोग हिन्दू-मुसलमानों के इस विरोध को उकसाते रहते थे। कांग्रेस में काम करने वाले हमारे देश के नेता और उन के साथ काम करने वाले राजनैतिक कार्यकर्ता देश को स्वतन्त्र करना चाहते थे। स्वतन्त्रता के लिये इस आन्दोलन के उत्तर में अंग्रेज शासक कहते थे कि कांग्रेस तो हिन्दुओं की संस्था है। भारत में हिन्दुओं का बहुमत है। यदि हम कांग्रेस के आन्दोलन से प्रभावित हो कर देश को स्वतन्त्र कर दें तो राज-शासन स्वभावतः हिन्दुओं के हाथ में चला जायेगा। और हिन्दू अपनी बहु-संख्या के कारण अल्प मत वालों के साथ, विशेष कर मुसलमानों के साथ मनमाना व्यवहार करेंगे। इस लिये जब कि हिन्दू और अल्पमतों के लोग, विशेष कर हिन्दू और मुसलमान, आपस में मिल कर कोई राजनैतिक समझौता न कर लेंगे, तब तक हम भारत को स्वतंत्र नहीं कर सकते। इधर तो अंग्रेज़ लोग हिन्दुओं और अल्पमत वालों का समझौता हो जाने की बात कहते रहते थे, और उधर वे तरह-तरह की चालें चल कर अल्पमत वालों को हिन्दुओं और कांग्रेस के विरुद्ध करते रहते थे। मुसलमानों को तो वे बहुत ही उकसाते रहते थे। अंग्रेजों के उकसाने के कारण मुसलमानों में हिन्दुओं के प्रति विरोध की भावना बड़ी उग्र रहती थी। यह विरोध की भावना कभी-कभी बड़े भयंकर रूप में फूट पड़ती थी। सन् १९२३-२४ में पेशावर, कोहाट, मुलतान, सहारनपुर, दिल्ली, कानपुर, और कलकत्ता आदि अनेक शहरों में देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, हिन्दू-मुसलमानों के दंगों की आग सी लग गई थी। इन दंगों में मुसलमानों ने हिन्दुओं के पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों पर भयंकर-से-भयंकर और घृणित-से-घृणित अत्याचार किये थे और हिन्दुओं की करोड़ों की सम्पत्ति को अग्नि के अर्पण कर दिया था। उस के बाद भी अनेक बार अनेक नगरों में हिन्दू-मुसलमानों के इसी प्रकार के दंगे होते रहे हैं। हिन्दू और मुसलमानों के इन दंगों और अन्य झगड़ों की तह में अंग्रेज शासकों द्वारा उकसाया हुआ धर्म पर आधारित विद्वेष ही होता था। हिन्दू और मुसलमान मिल कर कोई एक राजनैतिक समझौता अंग्रेज शासकों के सम्मुख नहीं रख पाते थे।

इन झगड़ों से धर्म-मात्र को ही बुरा समझा जाने लगता है

इस से देश की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्न करने वाले कांग्रेस के राजनैतिक कार्यकर्ता खिन्न हो जाते थे। उनमें से कितने ही गहराई में न जा कर केवल ऊपर-ऊपर से देखने के कारण यह समझने लगते थे कि कोई भी धर्म क्यों न हो वह झगड़े की जड़ है, सभी धर्म

बुरे हैं। वे धर्ममात्र को ही लड़ाई-झगड़े और फिसाद का मूल मानने लगते थे। और सभी धर्मों के विरुद्ध बोलने लगते थे। वे भी कम्युनिस्टों की भांति ही कहने लगते थे कि जब तक धर्म के ढकोसले को नहीं छोड़ा जायेगा तब तक भारत का राष्ट्र स्वतन्त्र भी नहीं हो सकेगा और स्वतन्त्र हो कर किसी प्रकार की उन्नति भी नहीं कर सकेगा। कम्युनिस्टों के, और हिन्दू-मुसलिम झगड़ों से तंग आकर इस प्रकार के विचार बना लेने वाले अनेक राजनैतिक कार्यकर्ताओं के, धर्म के विरुद्ध इस प्रचार से, जल्दी प्रभावित हो जाने के स्वभाव वाले कितने ही नव-शिक्षित युवक और अनेक दूसरे लोग भी धर्म के विरुद्ध हो जाते रहे हैं। वे भी धर्ममात्र को ही राष्ट्र की स्वतन्त्रता और उन्नति का बाधक समझते रहे हैं।

३.
धर्म का विरोध और मन की एकांगी प्रवृत्ति

धर्म के विरुद्ध यह भावना और आन्दोलन हमारे मन की एकांगी प्रवृत्ति का परिणाम है। हमारे मन का एक यह स्वभाव है कि यदि हम बहुत सावधान हो कर न चलें तो वह वस्तुस्थिति के सब पहलुओं को नहीं देखता। वह किसी वस्तु, किसी विचारधारा, किसी व्यक्ति या किसी संस्था के समग्र रूप की गहराई में जा कर उस के सारे पहलुओं को ध्यान में रखने का प्रयत्न प्रायः नहीं करता है। हम प्रायः किसी वस्तु, विचारधारा, व्यक्ति या संस्था की दो-एक बातों से अनुकूल या प्रतिकूल प्रभावित हो कर उस के बहुत अनुकूल या प्रतिकूल हो जाया करते हैं। बहुत बार तो हम यह भी सोचने का यत्न नहीं करते कि किसी वस्तु की जिस बात से प्रभावित हो कर हम उसके अनुकूल या प्रतिकूल हो रहे हैं वह उसका आवश्यक अंग भी है या नहीं ? उस बात का उस वस्तु से कोई सम्बन्ध भी है या नहीं ? कहीं उस बात को हम उस वस्तु का अंग भ्रम से ही तो नहीं समझ रहे ? आज जिस धर्म का इतना विरोध हो रहा है कि हम उस का नाम भी नहीं सुनना चाहते, और जिस के सम्बन्ध में हम यह सोच ही नहीं सकते कि उसमें भी कोई ऐसी बातें हो सकती हैं जो मनुष्य-समाज का कल्याण कर सकती हैं, एक समय रह चुका है जब उसी धर्म का हमारे हृदयों पर अखण्ड राज्य था। संसार के इतिहास में आज से पहले हज़ारों वर्षों तक सभी देशों में धर्म का अखण्ड राज्य रहा है। परन्तु धर्म के उस एकच्छत्र राज्य के काल में भी हमें अपने मन के एकांगीपन का नग्न चित्र देखने को मिलता था। उस समय भी हम ने धर्म के पूर्ण स्वरूप को सामने न रख कर केवल

पूजा-पाठ आदि के कर्मकाण्ड को धर्म समझ कर जीवन के दूसरे पहलुओं की उपेक्षा कर दी थी। धर्म के इस अखण्ड राज्य के पिछले २-३ हजार वर्षों में धर्म के पूर्ण स्वरूप के प्रति उपेक्षा रहने का यह परिणाम हुआ कि विद्या-विज्ञान, कला-कौशल, राज्यशासन, समाज-संगठन आदि के क्षेत्रों की समस्याओं की ओर हमारा बिल्कुल ही ध्यान नहीं गया और हम इन क्षेत्रों में कोई उन्नति न कर सके। जब धर्म के शासन का चक्र चलता था उस समय की हमारी एकांगीपन की मनोवृत्ति भी हानिकारक थी। आज जो धर्म का विरोध किया जा रहा है वह भी हमारे मन के एकांगीपन के कारण धर्म की असलियत को न समझने का परिणाम है। यह एकांगीपन भी हानिकारक है। हमारे मन की यह एकांगीपन की वृत्ति हमें पूर्ण उन्नति नहीं करने देती और धर्म से मिलने वाले अनेक लाभों से हमें वंचित रखती है। बीच-बीच में भगवान् कृष्ण, ऋषि दयानन्द और महात्मा गान्धी जैसे महापुरुष आकर धर्म के प्रति हमारे इस एकांगीपन को दूर करने का प्रयत्न करते रहते हैं। पर हम सावधान नहीं रहते और शीघ्र ही फिर अपनी इस आदत के शिकार हो जाते हैं।

४.
क्या धर्म राष्ट्र की उन्नति में बाधक है ?

इस व्याख्यान में मैंने आपके साथ मिल कर देखना है कि क्या वास्तव में ही धर्म उन्नति का बाधक है ? क्या धर्म सचमुच ही राष्ट्र की स्वतन्त्रता और उस की उन्नति में रुकावट डालने वाली चीज़ है ?

धर्म शब्द का विस्तृत अर्थ

इस सम्बन्ध में विचार करते हुए हमें सब से पहले यह देखना चाहिये कि जब हम धर्म शब्द का प्रयोग करते हैं तो हम उस से क्या समझते हैं। धर्म शब्द संस्कृत का एक ऐसा शब्द है जिस के अर्थ बड़े व्यापक होते हैं। इस शब्द का अनुवाद संसार की किसी भी भाषा के एक शब्द में नहीं किया जा सकता। धर्म का शब्दार्थ होता है, "जो धारण करे"–**धारणाद्धर्मः**। किसी वस्तु के जो गुण ऐसे हैं जिन से वह अपने रूप में धारित रहती है, बनी रहती है, उन गुणों को उस वस्तु का धर्म कहा जाता है। इस यौगिक अर्थ के आधार पर प्रयोग में धर्म शब्द के बड़े विस्तृत अर्थ हो जाते हैं। किसी वस्तु के भौतिक और रासायनिक गुण (Physical and chemical Properties) उस के धर्म हैं। किसी वर्ण और आश्रम के नियम और कर्तव्य

उस के धर्म हैं। राज्य-नियम (Laws and Statutes) धर्म हैं। इसी लिये कानून की पुस्तकों (Statutes Books) को संस्कृत में धर्मशास्त्र कहा जाता है। राज्य-नियमों के अनुसार न्याय करने को धर्म कहा जाता है। न्यायाधीश को धर्माध्यक्ष और धर्माधिकारी कहा जाता है और न्यायालय को धर्माधिकरण कहा जाता है। इसी भांति किसी सभा-समाज के नियमोपनियम उस के धर्म हैं। आत्मा, परमात्मा, परलोक और कर्मफल में विश्वास और इस विश्वास के आधार पर परमात्मा की उपासना और तदनुकूल आचरण को भी धर्म कहते हैं। क्योंकि शास्त्र की दृष्टि में आत्मा और परमात्मा की सत्ता में तथा परलोक और कर्मफल के सिद्धान्त में विश्वास के बिना तथा परमात्मा की उपासना में बैठे बिना मनुष्य का वास्तविक धारण नहीं हो सकता—उस का जीवन वास्तविक जीवन नहीं बन सकता। इसके बिना वह जीवन में वास्तविक उन्नति और सच्ची सुख-समृद्धि नहीं प्राप्त कर सकता। यदि हम धर्म के इस महाविस्तृत अर्थ को ध्यान में रख लें तो किसी को यह कहने का साहस नहीं हो सकता कि धर्म राष्ट्र की स्वतन्त्रता और उन्नति में बाधक है।

धर्म का सीमित अर्थ

परन्तु आज जो धर्म पर आक्षेप होता है वह इस विस्तृत अर्थ वाले धर्म पर नहीं होता है। आत्मा और परमात्मा की सत्ता में विश्वास और इस विश्वास के आधार पर परमात्मा की भक्ति और तदनुकूल आचरण को जो धर्म कहा जाता है उस धर्म को आज कुछ लोग मिटाना चाहते हैं। क्योंकि वे इस धर्म को स्वतन्त्रता की प्राप्ति और राष्ट्र की उन्नति में बाधक समझते हैं।

वैदिक धर्म में धर्म का वास्तविक अभिप्राय

यहां मैं एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूं। मैं जिस धर्म को मानता हूं उस वैदिक धर्म में केवल परमात्मा में विश्वास रखने और उस की उपासना करने को ही धर्म नहीं माना जाता। यह पूर्ण धर्म नहीं है यह तो धर्म का केवल एक अंग है। हमारे शास्त्रकारों ने धर्म का लक्षण यह किया है कि "जिस आचरण से सांसारिक ऐश्वर्य और अभ्युदय की प्राप्ति भी होती हो तथा मोक्ष की प्राप्ति भी होती हो उस आचरण को धर्म कहते हैं[1]।" हमारे शास्त्रों के अनुसार धार्मिक जीवन बिताने का यह फल होना चाहिए कि हमें इस दुनिया में किसी प्रकार

१. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिक दर्शन १.१.२।

का कष्ट नहीं रहना चाहिये। हमें उस के द्वारा सब प्रकार की सांसारिक उन्नति कर सकनी चाहिये और सब प्रकार की सांसारिक सुख-समृद्धि प्राप्त कर सकनी चाहिये। और यह सांसारिक ऐश्वर्य और अभ्युदय इस प्रकार प्राप्त हो कि उसे प्राप्त करते हुए हम पाप में लिप्त न हों, पवित्र बने रहें, जिस से जब हम इस संसार से बिदा हों तो उस पवित्रता के परिणामस्वरूप हम सीधा मोक्ष की अवस्था में पहुंचें और उस अवस्था में पहुंच कर ब्रह्म-साक्षात्कार से मिलने वाले अलौकिक आनन्द का उपभोग करने के अधिकारी बन सकें। इस प्रकार के आंचरण को वैदिक धर्म में धर्म के नाम से कहा जाता है। गीता में भगवान् कृष्णचन्द्र जी महाराज अर्जुन से कहते हैं कि "हे कुरुवंश में सब से श्रेष्ठ अर्जुन ! जो यज्ञशील नहीं है उस का तो यही लोक नहीं बनता, उस का अगला लोक तो क्या बनेगा[1] ?" वैदिक-धर्म में यज्ञ शब्द भी बड़े व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होता है। इस का भी किसी एक शब्द में अनुवाद नहीं किया जा सकता। यज्ञ शब्द हमारे सारे ही धार्मिक जीवन का वाचक हो जाता है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जो यज्ञ नहीं करता है अर्थात् जो धर्मशील नहीं होता है उस की तो यही दुनिया नहीं बनती, अगली दुनिया तो उस की क्या बनेगी ? भगवान् कृष्ण के अनुसार धर्म की पहली कसौटी यह है कि धर्म पर चलने से इस संसार में हमारी उन्नति होनी और सुख-समृद्धि बढ़नी चाहिये। अपने इस संसार को तो सब कोई देख सकता है, अगले लोक से कौन यहां बताने आता है कि उस के साथ क्या बीती है और क्या नहीं। परलोक के सम्बन्ध में तो हम शास्त्र-प्रमाण और अनुमान के आधार पर ही जान सकते हैं। पर इस लोक का तो हमारा प्रत्यक्ष अनुभव है। उस अनुभव से हमें पता लगना चाहिये कि धर्म से हमारी उन्नति हो रही है और हमें सुख-समृद्धि प्राप्त हो रही है। सो भगवान् कृष्ण की सम्मति में हमारी सांसारिक उन्नति करा सकना धर्म का आवश्यक अंग है। ऋग्वेद में एक स्थान पर वेद के अध्ययन से मिलने वाले लाभों का वर्णन करते हुए बड़े सुन्दर कवितामय ढंग में कहा गया है—"जो लोग न तो इस लोक की उन्नति करते हैं और न परलोक की, जो लोग न तो ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण बनते हैं और न ही भांति-भांति के कर्म करने वाले कर्मशील व्यक्ति ही बनते हैं, वे अज्ञानी इस वेद-वाणी को पा कर भी पाप के जीवन में ही फंसे रहते हैं और केवल बातों का ताना-बाना तनते रहते हैं[2]।" वेद-पढ़ने का फल यह होना चाहिये कि हम उस से

१. नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम। गीता ४.३१।

२. इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः।। ऋग् १०.७१.९।
इस मन्त्र की और जिस सूक्त (ऋग. १०.७१.) में यह मन्त्र आया है। उस की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' में देखिये।

हमारी सांसारिक सुख-समृद्धि बढ़ाने वाले भांति-भांति के उत्तम कर्म करने वाले कर्मशील और ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले ब्रह्मज्ञानी बन जायें। वेद के उपदेश हमें इन दोनों दृष्टियों से कुशल बनाने की क्षमता रखते हैं। वेद हमारा धर्म-ग्रंथ है। वेद के इस वर्णन से भी यही बात स्पष्ट है कि धर्म से हमारी इस लोक और परलोक दोनों की उन्नति होनी चाहिये--धर्म से हमें सांसारिक अभ्युदय और मोक्ष दोनों की प्राप्ति होनी चाहिये। सारे वेद का एक-मात्र यही प्रयोजन है।

धर्म शास्त्र किन ग्रंथों को कहते हैं ?

वेद सांसारिक कर्त्तव्यों और आध्यात्मिक उन्नति-सम्बन्धी उपदेशों से भरा पड़ा है। संस्कृत में धर्मशास्त्र कहते ही उन ग्रंथों को हैं जिन में सांसारिक उन्नति सम्बन्धी बातों का भी वर्णन होता है और आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी बातों का भी वर्णन होता है। केवल ब्रह्म-विद्या का उपदेश करने वाले ग्रंथों को उपनिषद् और ब्रह्म-विद्या या आध्यात्म-शास्त्र आदि नामों से कहा जाता है। और केवल राजनीति का उपदेश करने वाले ग्रंथों को नीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र आदि नामों से कहा जाता है। जिन ग्रंथों में राजनीति का भी उपदेश रहता है, वर्णाश्रम के कर्त्तव्यों का भी उपदेश रहता है, सांसारिक व्यवहार की बातों का भी उपदेश रहता है और साथ ही आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी बातों का भी उपदेश रहता है उन्हीं को धर्म-शास्त्र कहा जाता है। धर्म-शास्त्र नाम के नीचे चारों वेद और मनुस्मृति आदि ग्रंथ आते हैं जिन में इन सभी बातों का उपदेश रहता है।

व्यापक अर्थ में धर्म राष्ट्रोन्नति में बाधक नहीं है

इस प्रकार केवल आत्मा-परमात्मा को मानने और परमात्मा की उपासना करने का नाम ही धर्म नहीं है। हमें धर्म पर विचार करते समय धर्म का पूर्ण चित्र अपने सामने रखना चाहिये—उस के व्यापक अर्थ को ध्यान में रखते हुए उस के सभी पहलुओं पर ध्यान देना चाहिये। और तब देखना चाहिये कि धर्म राष्ट्र की उन्नति में बाधक रहता है या साधक। तब हमें धर्म राष्ट्र की उन्नति में बाधक नहीं दीखेगा, साधक दीखेगा।

५

सीमित अर्थ में भी धर्म राष्ट्रोन्नति में बाधक नहीं है

वैदिक धर्म के सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट कर के मैं आगे चलता हूं। यदि धर्म को आत्मा, परमात्मा, परलोक और कर्म-फल आदि में विश्वास तथा इस विश्वास के आधार पर परमात्मा की उपासना और तदनुकूल आचरण तक ही सीमित कर लिया जाये तो भी वह धर्म स्वतन्त्रता-प्राप्ति और राष्ट्र की उन्नति में बाधक नहीं बनता है प्रत्युत राष्ट्र की उन्नति का कारण बनता है, यह मैंने आप को दिखाना है।

परमात्मा में विश्वास धर्म का आवश्यक अंग है

धर्म परमात्मा के मन्तव्य पर आश्रित है। परमात्मा नें विश्वास धर्म का आवश्यक अंग है। यह तो आप सभी जानते हैं।

परमात्मा की सत्ता में प्रमाण

यहां दो शब्द परमात्मा की सत्ता के सम्बन्ध में भी कह देना अनुपयुक्त न होगा। हम परमात्मा को यों ही नहीं मान बैठे हैं। जगत् के कर्ता के रूप में हमें परमात्मा को तर्क के बल पर मानना पड़ता है। कोई बनी हुई चीज किसी बनाने वाले के बिना नहीं बन सकती। घड़ी को बनाने के लिये घड़ी बनाने वाले की, कपड़े को बनाने के लिये जुलाहे की, घड़े को बनाने के लिये कुम्हार की, कैंची को बनाने के लिये लुहार की और मकान बनाने के लिये राज की आवश्यकता है। इसी प्रकार अन्य भी सभी बनने वाली वस्तुओं को बनाने के लिये उन्हें बनाने वाला कोई चाहिये। ये सभी चीज़ें किसी द्वारा बिना बनाये अपने आप नहीं बन सकतीं।

इसी भांति यह जगत् भी बना हुआ है। इस का बनाने वाला भी कोई होना चाहिये। इस जगत् को जगत् बनाने वाली लाखों चीजों को हम रोज बनते हुए देखते हैं। पानी से भाप बन रही है, भाप से बादल बन रहे हैं, बादलों से वर्षा हो रही है, वर्षा से पहाड़ों पर बर्फ जम रही है, बर्फ पिघल कर झरने और नदियें बह रही हैं। ये चीजें प्रति दिन बन रही हैं। इन्हें कौन बनाता है ? वृक्षों के पत्ते, फूल और घास-फूस आदि चीजें धरती की मिट्टी में मिल कर गल कर मिट्टी बन रही हैं। इन्हें मिट्टी में बदल देने का काम कौन कर रहा है ? धरती

पर खेतियें उग रही हैं। उन खेतियों को मिलने वाली खुराक मिट्टी, गोबर, पानी, हवा आदि को गेहूं, चने, उड़द, मटर, और गन्ने आदि के रूप में कौन बदल देता है ? बागों में फूल उगते हैं। इन्हीं मिट्टी, गोबर, पानी, हवा आदि को रंग-बिरंगे गुलाबों, चम्पा-चमेली आदि के मनोहर फूलों का रूप कौन दे देता है ? बागों में, जंगलों में और पहाड़ों पर भांति-भांति के विशालकाय पेड़ उग रहे और बढ़ रहे हैं, धरती पर तरह-तरह के घास और तृण पैदा हो रहे हैं। इन सब वनस्पतियों को कौन बना रहा है ? हमारे बागों में खड़े पेड़ों पर उन्हीं मिट्टी खाद, पानी और हवा से आम, जामुन, अमरूद और नीबू आदि विभिन्न प्रकार के रसों वाले फल कौन लगा रहा है ? कीट-पतंग पैदा हो रहे हैं, पशु-पक्षी पैदा हो रहे हैं और मनुष्य पैदा हो रहे हैं। इन सब के शरीरों को कौन बना रहा है ? ऊपर गिनाई गई इन सब चीजों को और इसी प्रकार जगत् में बन रही अन्य असंख्य चीजों को कौन बना रहा है ? ये सब चीज़ें मनुष्य की बनाई हुई तो हैं नहीं। पिता और माता के संयोग के पश्चात् जो बच्चा माता के पेट में बनता है, अपने उस बच्चे के सम्बन्ध में ही पिता और माता को मालूम नहीं होता कि वह बच्चा माता के पेट में कैसे बन जाता है। माता के पेट में बच्चा बन रहा होता है पर माता उसे नहीं बना रही होती। उसे तो उस के बनाने का कुछ भी ज्ञान नहीं है। किसी चीज़ के बनाने के ज्ञान के बिना कोई उस चीज को नहीं बना सकता। माता को अपने पेट में बच्चा बनाने का ज्ञान नहीं है। वह बच्चे के रुधिर, मांस, हड्डी, खाल, आंख, नाक, कान, मस्तक, हृदय, फुफ्फुस और अन्तड़ियों आदि को बनाना नहीं जानती। और इसी प्रकार पिता भी अपने बच्चे के शरीर को बनाना नहीं जानता। हम माता-पिताओं को तो यह भी ज्ञान नहीं होता कि हमारे खाये-पीये अन्न-जलादि से स्वयं हमारा शरीर ही कैसे बन रहा होता है। ये सब चीज़ें मनुष्य की बनाई हुई तो हैं नहीं और बन रही हैं। तब इन सब चीज़ों को बनाने वाला भी कोई होना चाहिये। क्योंकि बनी हुई चीज़ बिना बनाने वाले के नहीं बन सकती। और इन सब चीज़ों को बनाने वाला ज्ञानवान् भी होना चाहिये। क्योंकि उसे बनाने के ज्ञान के बिना कोई वस्तु बनाई नहीं जा सकती। अपने ज्ञान से इन सब चीज़ों को बनाने वाला महाज्ञानी परमात्मा है। यह हमें तर्क के बल पर मानने के लिए बाधित होना पड़ता है।

जितनी बनी हुई चीजें हैं वे सब सावयव होती हैं अर्थात् छोटे-छोटे अवयवों या खण्डों से मिल कर बनी होती हैं। खण्ड-खण्ड करते-करते हम परमाणुओं और उन से भी आगे भले ही पहुंच जायें। ऊपर जिन असंख्य बनी हुई चीज़ों की ओर निर्देश किया गया है वे सब

सावयव हैं—छोटे-छोटे अवयव अर्थात् खण्डों से मिल कर बनी हैं। इस से एक और अनुमान हमारे हाथ में आ जाता है। और वह यह कि जो भी सावयव चीज़ होती है वह किसी कर्ता द्वारा—किसी बनाने वाले के द्वारा—बनाई जाती है। जैसे कि घड़ी, कपड़ा, कैंची और मकान आदि। संसार में दिखाई देने वाले वायु, जल, पृथिवी, सूर्य और चन्द्र आदि पदार्थ भी सावयव हैं। अतः इन सब का भी बनाने वाला कोई होना चाहिये। मनुष्य तो इन सब का बनाने वाला है नहीं। इन का बनाने वाला कोई और ही होना चाहिये। इन्हें बनाने वाला महाज्ञानी रचयिता वह परमात्मा ही है। इस प्रकार जगत्कर्ता के रूप में हमें परमात्मा की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है।

जब तक कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि कपड़ा बिना जुलाहे के और कैंची बिना लुहार के यों ही बन जाया करती है तब तक कोई कम्युनिस्ट और कोई अनीश्वरवादी यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि यह सारा जगत् और इस में के सारे पदार्थ बिना किसी बनाने वाले के यों ही अपने आप बन जाया करते हैं। इस जगत् को बनाने वाली कोई ज्ञान-सम्पन्न शक्ति है। उसी का नाम परमात्मा है।

परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव

तर्क के बल पर तो हमें परमात्मा की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है, इस के अतिरिक्त प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा भी परमात्मा की सत्ता का ज्ञान होता है। परमात्मा का यह प्रत्यक्ष आंख, कान आदि स्थूल इन्द्रियों से न हो कर मन या आत्मा से होता है। इस प्रत्यक्ष को मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। अनेक योगी, महात्माओं, सन्तों और भक्तों की साक्षी इस विषय में उपलब्ध होती है। ये लोग सत्यपरायण, निष्कपट, निश्छल, परहितैषी, पवित्र आचरणों वाले सच्चरित्र लोग होते रहे हैं। हमारे देश के भगवान् कृष्ण, व्यास, पतंजलि, शंकराचार्य आदि प्राचीन, और ऋषि दयानन्द, परमहंस रामकृष्ण, विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, श्री अरविन्द और श्री रमण महर्षि आदि आधुनिक ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने परमात्मा को प्रत्यक्ष अनुभव किया था। गांधी जी भी इसी प्रकार के महापुरुष थे। इन महापुरुषों की साक्षी पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। अमेरिका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक प्रोफ़ेसर विलियम जेम्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ईश्वर-विश्वासियों की अनुभूति के विभिन्न प्रकार' (वैरायटीज़ आफ़् रिलिजस ऐक्सपीरियन्स= Varieties of Religious Experience) में इस विषय का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है कि ईश्वर का प्रत्यक्षानुभव होता

है या नहीं। वहां प्रोफ़ेसर जेम्स ने माना है कि परमात्मा का मानस प्रत्यक्ष हो सकता है। अपनी उस पुस्तक में प्रोफ़ेसर जेम्स ने अनेक ऐसे पुरुषों का उल्लेख किया है जिन्हें ईश्वर का प्रत्यक्षानुभव हुआ था। प्रोफ़ेसर जेम्स की उक्त पुस्तक से एक-दो साक्षियें यहां उद्धृत की जाती हैं। प्रोफ़ेसर जेम्स ने एक पादरी का अनुभव उसी के शब्दों में इस प्रकार अंकित किया है—

"मुझे वह रात भी स्मरण है और पर्वत का वह स्थान भी स्मरण है जहां मुझे अनुभव हुआ था कि मानो मेरा आत्मा उन्मुक्त हो कर 'अनन्त' में (ईश्वर में) मिल गया है, मानो मेरा अन्तर्जगत् और बाहर का जगत् दौड़ कर एक में मिल गए हैं। तब समुद्र, समुद्र में मिल गया था—एक समुद्र वह था जो मेरे अपने प्रयास ने मेरे भीतर उन्मुक्त कर दिया था और दूसरा समुद्र (ईश्वर) बाहर था जो अगाध था और नक्षत्रों से भी परे तक फैला हुआ था। मैं अपने निर्माता के साथ अकेला खड़ा था—वह निर्माता जिस ने संसार के समग्र सौन्दर्य और स्नेह को उत्पन्न किया है। उस समय मैं उस के साथ अपने आत्मा की पूर्ण एकता अनुभव कर रहा था। तब मुझे आस-पास की चीजों का भास नहीं रहा था। उस समय एक अवर्णनीय हर्ष और आनन्द के अतिरिक्त कुछ अनुभव नहीं हो रहा था। उस समय के अनुभव को शब्दों में कह सकना असम्भव है। उस समय आत्मा ऊपर को उठता हुआ और अपने आन्तरिक रसानुभव से फटता हुआ सा प्रतीत हो रहा था। रात्रि की पूर्ण शान्ति को एक और अधिक गम्भीर शान्ति ने स्पन्दित कर दिया था। उस अन्धकार में एक 'सत्ता' (ईश्वर) इस लिये और भी अधिक अनुभव हो रही थी क्योंकि वह दिखाई नहीं दे रही थी। उस समय मैं जैसे अपनी विद्यमानता में सन्देह नहीं कर सकता था वैसे ही उस की (ईश्वर की) विद्यमानता में भी सन्देह नहीं कर सकता था। असल में तो मैं उस समय दोनों में से अपने आप को कम वास्तविक अनुभव कर रहा था। उस समय मेरे अन्दर परमात्मा के प्रति गहरा विश्वास उत्पन्न हो गया और उस का सच्चा स्वरूप मुझ पर प्रकट हो गया। उस समय से मैं प्रभु-दर्शन के पर्वत-शिखर पर आरूढ़ हो गया हूं और अपने चारों ओर प्रभु को अनुभव करता रहा हूं। परन्तु उस रात्रि की तरह मेरा हृदय फिर कभी आन्दोलित नहीं हुआ। तब तो मैं परमात्मा के सामने खड़ा था और अपने प्रभु से नव-जीवन प्राप्त करता हुआ अपने आप को अनुभव कर रहा था। उस घटना को जब मैं स्मरण करता हूं तो मुझे ऐसा लगता है कि मुझ में विश्वास और विचार का कोई आकस्मिक परिवर्तन नहीं हो गया था। केवल मेरा परमात्मा-विषयक प्रारम्भिक और अस्पष्ट विचार एक विकसित पुष्प के रूप में परिणत हो गया था। किसी पुरानी चीज़ का

विनाश नहीं हुआ था, प्रत्युत अन्तर्हित का द्रुतगति से प्रकाशन हुआ था। उस समय के बाद कोई युक्ति परमात्मा के सम्बन्ध में मेरे विश्वास को ढीला नहीं कर सकी है। एक बार परमात्मा की सत्ता को अनुभव कर के मैं फिर उसे कभी नहीं भुला सका हूं उस समय के प्रभु-दर्शन में, उस समय के ऊंचे अनुभव की स्मृति में, और अध्ययन तथा चिन्तन से उत्पन्न इस विश्वास में कि जिन्हें परमात्मा मिला है उन सब को लगभग इसी तरह की अनुभूति होती रही है, परमात्मा की सत्ता-विषयक मेरा सबसे अधिक विश्वसनीय प्रमाण है। मैं जानता हूं कि मेरे इस अनुभव को रहस्यवादी कहा जा सकता है। मेरा दर्शन-शास्त्र का इतना ज्ञान नहीं है कि मैं इस अथवा किसी अन्य आक्षेप से अपने अनुभव की रक्षा कर सकूं। मैं अनुभव करता हूं कि मैंने अपने इस अनुभव को लेख-बद्ध कर के इसे शब्दों से लाद दिया है और मैं इसे आपके लिये स्पष्ट नहीं कर सका हूं। पर मैंने इसे अपनी ओर से यथाशक्ति सावधानी से वर्णन करने का प्रयत्न किया है[1]।"

एक दूसरे व्यक्ति का परमात्मानुभव प्रो. जेम्स ने उसी के अपने शब्दों में इस प्रकार अंकित किया है—"मैं पूर्ण स्वस्थ था। हमारी यात्रा का छठा दिन था। हम ठीक तरह से यात्रा कर रहे थे। हम पहले दिन ब्युएत (Buet) के रास्ते से सिक्स्त (Sixt) से चल कर त्रायन्त (Trient) पहुंचे थे। मैं न थका हुआ था, न भूखा था, न प्यासा था, और मेरी मानसिक दशा

---

1 "I remember the night, and almost the very spot or the hilltop where my soul opened out, as it were, into the Infinite, and there was rushing together of the two worlds, the inner and the outer. It was deep calling unto deep,—the deep that my own struggle had opened up within being answered by the unfathomable deep without, reaching beyond the stars. I Stood alone with Him who had made me, and all the beauty of the world, and love, and sorrow, and even temptation. I did not seek Him, but felt the perfect unison of my spirit with His. The ordinary sense of things around me faded. For the moment nothing but an ineffable joy and exaltation remained. It is impossible fully to describe the experience. It was like the effect of some great orchestra when all the separate notes have melted into one swelling harmony that leaves the listener conscious of nothing save that his soul is being wafted upwards, and almost bursting with its own emotion. The perfect stillness of the night was thrilled by a more solemn silence. The darkness held a presence that was all the more felt because it was not seen. I could not any more have doubted that He was there than that I was. Indeed, I felt myself to be, if possible, the less real of the two. My highest faith in God and truest idea of him were then born in me. I have stood upon the Mount of Vision since, and felt the Eternal round about me. But

भी पूर्ण स्वस्थ थी। फोरलाज़ में मुझे अपने घर के शुभ समाचार मिल चुके थे। मुझे दूर या नज़दीक की कोई दुश्चिन्ता नहीं थी। हमारे साथ अच्छा पथ-प्रदर्शक था और जिस रास्ते से हमें चलना था उस के विषय में हमें ज़रा सा भी सन्देह नहीं था। उस समय मेरी दशा शान्त-समता की थी। जब कि अकस्मात् मुझे अनुभव हुआ कि मैं अपने आप से ऊंचा उठ रहा हूं, मैंने परमात्मा की उपस्थिति को अनुभव किया, मैंने अनुभव किया कि मानो परमात्मा की शक्ति मेरे अन्दर प्रवेश कर रही है। उस अनुभूति की धड़कन इतनी ज़बरदस्त थी कि मैं लड़कों से मुश्किल से कह सका कि वे चलते जायें और प्रतीक्षा न करें। मैं खड़ा नहीं रह सका, एक पत्थर पर बैठ गया और मेरी आंखों से आंसू बहने लगे। मैंने इस बात के लिए परमात्मा का धन्यवाद किया कि उसने मुझे अपना ज्ञान कराया, मेरे जीवन को सहारा दिया और मुझ अकिंचन और पापी पर दया की। मैंने हृदय से प्रार्थना की थी कि मेरा जीवन उस की इच्छा पूरी करने में न्यौछावर रहे। मुझे प्रभु का उत्तर मिलता प्रतीत हुआ, और वह उत्तर यह था कि मुझे विनयशील हो कर तथा निर्धनता का जीवन बिता कर प्रति दिन प्रभु की इच्छानुसार काम करते रहना चाहिये और—यह बात सर्व शक्तिमान् प्रभु पर छोड़ देनी चाहिये कि वह मुझे कब अपने दर्शन और अधिक स्पष्टता से कराने का अधिकारी समझता है। तदनन्तर शनैः शनैः वह ऊंचा आनन्द मेरे हृदय से जाता रहा, मुझे अनुभव हुआ कि परमात्मा ने अपनी झांकी वापिस ले ली है,

---

never since has there come quite the same stirring of the heart. Then, if ever, I believe, I stood face to face with God, and was born anew of his spirit. There was, as I recall it, no sudden change of thought or of belief, except that my early crude conception had, as it were, burst into flower There was no destruction of the old, but a rapid, wonderful unfolding since that

time no discussion that I have heard of the proofs of God's existence has been able to shake my faith. Having once felt the presence of god's spirit, I have never lost it again for long. My most assuring evidence of his existence is deeply rooted in that hour of vision, in the memory of that suprem experince, and in the conviction, gained from reading and reflection, that something the same has come to all who have found God I am aware that it may justly be called mystical. I am not enough acquainted with philosophy to defend it from that or any other charge. I feel that in writing of it I have overlaid it with words rather than put it clearly to your thought. But, such as it is, I have described it as carefully as I now am able to do."

The Varieties of Religious Experience by Prof. William James, Pages 66-67

और मैं बहुत धीरे-धीरे चलना शुरू कर सका--तब भी वह आन्तरिक रसानुभूति मुझ पर इतनी छाई हुई थी। साथ ही मैं लगातार बहुत रोया था, मेरी आंखें सूज गई थीं और मैं नहीं चाहता था कि मेरे साथी मुझे देखें। वह ऊंचे आनन्द की समाधि की सी अवस्था चार-पांच मिनट रही होगी--यद्यपि उस समय तो वह कहीं अधिक लम्बे समय तक रहती हुई प्रतीत हुई थी। मेरे साथियों ने बैरीन के चौराहे पर मेरी दस मिनट तक प्रतीक्षा की, पर मुझे उन् से मिलने में कोई पच्चीस-तीस मिनट लगे। क्योंकि मुझे स्मरण है कि उन्होंने मुझ से कहा था कि मैंने उन्हें लगभग आधा घण्टा रोके रखा था। उस समय का परमात्मानुभव का प्रभाव इतना गहरा था कि चढ़ाई चढ़ते हुए मैं अपने आप से पूछता रहा कि क्या मूसा को सिनाई पर परमात्मा का इस से अधिक अन्तरंग अनुभव हुआ होगा ? मैं यह लिख देना चाहता हूं कि इस समाधि-दर्शन में परमात्मा की कोई आकृति, रंग, गन्ध, अथवा स्वाद नहीं दिखाई दे रहा था। उस की प्रतीति किसी एक निश्चित स्थान में भी नहीं हो रही थी। ऐसा लग रहा था कि मानो एक आध्यात्मिक सत्ता की विद्यमानता से मेरा व्यक्तित्व ही बदल गया है। परमात्मा के इस अन्तरंग सम्बन्ध का वर्णन करने के लिये मैं शब्दों को जितना ही खोजता हूं उतना ही उसे शब्दों में व्यक्त कर सकने की असंभवता को अनुभव करता हूं। जो कुछ मैंने अनुभव किया उस के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि परमात्मा विद्यमान था पर आंख से दिखाई नहीं दे रहा था, वह मेरी किसी भी इन्द्रिय का विषय नहीं था, तो भी मेरा आत्मा उसे जान रहा था[1]।"

हमारा योगदर्शन तो बनाया ही इस लिये गया है कि ऐसे साधन बतां दिये जायें जिन का अवलम्बन कर के साधक को परमात्मा का प्रत्यक्ष हो सके। योग-विषयक हमारा सारा साहित्य घोषणा कर के कहता है कि परमात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है।

. I was in perfect health : we were on our sixth day of tramping, and in good training. We had come the day before form Sixt to Trient by Bet. I felt neither fatigue, hunger, nor thirst, and my state of mind was equally healthy. I had at Forlaz good news from home; I was subject to no anxiety, either near or remote, for we had a good guide, and there was not a shadow of uncertainty about the road we should follow. I can best describe the condition in which I was by calling it a state of equilibrium. When all at once I experienced a feeling of being raised above myself, I felt the presence of God-I tell of the thing just as I was conscious of

हम सभी अपने जीवन में तर्क और प्रत्यक्ष से जानी जाने वाली वस्तुओं पर विश्वास करते हैं। हमारे सभी ज्ञान-विज्ञान तर्क और प्रत्यक्ष का सहारा ले कर बनाये गए हैं। जब हम अन्य सभी क्षेत्रों में तर्क और अनुभव के आधार पर जानी गई वस्तुओं में विश्वास करते हैं तो धर्म के क्षेत्र में परमात्मा की सत्ता में भी क्यों न विश्वास किया जाये जो तर्क और अनुभव दोनों से जाना जाता है। ऋग्वेद में कहा है—"वह कहां है ? इस प्रकार जिस के विषय में अज्ञानी लोग पूछते रहते हैं, और वह नहीं है इस प्रकार की घोर बात को जिस के विषय में कहते रहते हैं, वह सब संसार का स्वामी पापाचारियों की पुष्टियों को, समृद्धियों को, कंपा कर नष्ट

it as if his goodness and his power were penetrating me altogether The throb of emotion was so violent that I could barely tell the boys to pass on and not wait for me. I then sat down on a stone, unable to stand any longer, and my eyes overflowed with tears. I thanked God that in the course of my life he had taught me to know him, that he sustained my life and took pity both on the insignificant creature and on the sinner that I was. I begged him ardenrly that my life might be consecrated to the doing of his will. I felt his reply, which was that I should do his will form day to day, in humility and poverty, leaving him, the Almighty God, to be judge of whether I should some time be called to bear witness more conspicuously Then, slowly, the ecstasy left my heart; that is, I felt that God had withdrawn the communion which he had granted, and I was able to walk on, but very slowly, so strongly was I still possessed by the interior emotion. Besides, I had wept uninterruptedly for several minutes, my eyes were swollen, and I did not wish my companions to see me. The state of ecstasy may have lasted four or five minutes, although it seemed at the time to last much longer My comrades waited for me ten minutes at the croos of Brine, but I took about twenty-five or thirty minutes to join them, for as well as I can remember, they said that I had kept them back for about half an hour. The impression had been so profound that in climbing slowly the slope I asked myself if it were possible that Moses on Sinai could have had a more intimate communication with God. I think it well to add that in this ecstasy of mine God had neither form, color, odor,

nor taste: moreover that the feeling of his presence was accompanied with no determinate localization. It was rather as if my personality had been transformed by the presence of a spiritual spirit. But the more I seek words to express this intimate intercourse, the more I fell the impossibility of describing the thing by any of our usual images. At bottom the expression most apt to render what I felt is this : God was present, though invisible; he fell under no one of my senses, yet my consciousness perceived him."

The Varieties of Religious Experience by Prof. William James, Pages 67-68.

कर देता है, मनुष्यो ! उस में विश्वास करो, वह परमैश्वर्यशाली परमात्मा है[1]।" सो परमात्मा है और अवश्य है।

६.
राष्ट्रोन्नति के लिये आवश्यक गुण

अब हम ने यह देखना है कि धर्म स्वतन्त्रा प्राप्ति और राष्ट्र की उन्नति में किस प्रकार कारण बनता है। पहले हमें यह जान लेना चाहिये कि जो लोग राष्ट्र को स्वतन्त्र करा के उस की रक्षा और उन्नति करना चाहते हैं उन में किन गुणों का रहना आवश्यक है। उन लोगों में परस्पर के लिये गहरा प्रेम, परस्पर के सुख-दुःख और उन्नति-अवनति को अपना सुख-दुःख और उन्नति-अवनति समझना और इस के लिए सब प्रकार के कष्ट सहने तथा आत्म-त्याग करने के लिये उद्यत रहना, नियम और नियन्त्रण में बंध कर चलना, निर्भयता और वीरता की वृत्ति का होना, तप, संयम और सहनशीलता का होना, पराधीनता से घृणा और स्वतन्त्रता से स्नेह होना—ये गुण रहने चाहिये। प्रजाजनों में इन गुणों के बिना कोई जाति पराधीनता को छोड़ कर स्वतन्त्र नहीं हो सकती और न अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा तथा राष्ट्र की उन्नति ही कर सकती है।

धर्म राष्ट्रोन्नति के लिये आवश्यक गुणों को उत्पन्न करता है

धर्म हमारे अन्दर इन सब गुणों को उत्पन्न करता है। जैसा ऊपर कहा गया है सीमित अर्थों में धर्म का अर्थ होता है परमात्मा में विश्वास और उस की भक्ति-उपासना करना। भक्ति और उपासना के समय हम प्रेम में भर कर, तन्मय हो कर, परमात्मा के गुणों का कीर्तन और चिन्तन करते हैं। प्रेम में भर कर किया हुआ प्रभु के गुणों का यह कीर्तन और चिन्तन हमें प्रभु के गुणों को अपने भीतर धारण करने की प्रेरणा करता है। क्योंकि प्रेम का यह स्वभाव है कि हम जिस से प्रेम करते हैं उस का अनुकरण कर के, उस के गुणों को अपने में धारण

---

१. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः।। ऋग्. २.१२.५।
इस मन्त्र की ओर जिस सूक्त (ऋग्. २.१२) का यह मन्त्र है उस की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' में देखिये।

कर के, हम उस जैसा बनना चाहा करते हैं। प्रेम में भर कर की गई प्रभु की भक्ति का भी यह परिणाम होगा कि हम प्रभु के गुणों को अपने अन्दर धारण कर के प्रभु जैसा बन जायेंगे[1]।

परमात्मा के गुणों का चिन्तन और उस का प्रभाव

परमात्मा में अनन्त गुण हैं। उन के कुछ थोड़े से गुणों पर यहां दृष्टिपात कर लेना चाहिये। इस से हम देखेंगे कि किस प्रकार परमात्मा की उपासना से हम अपने राष्ट्र को स्वतन्त्र रखने और उन्नत करने के योग्य गुणों वाले बन जाते हैं।

१. धर्म को मानने वाले लोग परमात्मा को अपना 'माता और पिता' मानते हैं। क्योंकि परमात्मा हम सब को उत्पन्न करते हैं और हमारी पालना करते हैं। परमात्मा हमारे माता और पिता हैं तो हम सब आपस में भाई-भाई हो गये। इस प्रकार परमात्मा के इस रूप का चिन्तन कर के हम सब प्रजाजन आपस में एक-दूसरे को भाई-भाई समझने लगते हैं। और इसी लिये सब के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझने लगते हैं। सब के सुख-दुःख को अपना समझ कर सब के सुख को बढ़ाने और दुःख को कम करने के लिये प्रयत्नशील होने लगते हैं। धर्मशास्त्र यों भी इस प्रकार के उपदेशों से भरे पड़े हैं कि हमें सब को अपना भाई और मित्र समझ कर सब की भलाई के लिय यत्न करना चाहिये।

२. हम परमात्मा को 'नियन्ता' मानते हैं। परमात्मा स्वयं नियम में बंध कर चलते हैं और सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को नियमों में चलाते हैं। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी नियम और नियन्त्रण में बंध कर चलने वाले बनने लगते हैं।

३. हम परमात्मा को 'बली' मानते हैं। उन में अनन्त बल है। अपने बल और शक्ति से उन्होंने सारे विश्व-ब्रह्माण्ड को बना कर उसे संभाला और थामा हुआ है। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी बलवान् बनने का यत्न करने लगते हैं।

---

१. ईश्वर की भक्ति और उपासना से हमारे अन्दर उस के गुण किस प्रकार संक्रान्त होते हैं, इस विषय का विस्तृत विवेचन देखने के लिये इसी पुस्तक का 'वैदिक धर्म और उपासना' प्रकरण पढ़िये।

४. परमात्मा 'मन्यु' हैं। उन में बुराई के प्रति सात्त्विक क्रोध है। अपने इस सात्त्विक क्रोध के कारण परमात्मा पापियों को सुधारने की दृष्टि से उन्हें उन के पापों का दण्ड देते हैं। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी बुराई और दोषों के प्रति सात्त्विक क्रोध करने वाले बन जायेंगे।

५. परमात्मा 'सह' हैं उन में बड़ी सहनशीलता है। वे सब कुछ सहते रहते हैं। नास्तिकों और पापिष्ठवृत्ति के लोगों द्वारा अपना अपमान भी सहते रहते हैं समय आने पर पूर्ण न्याय-व्यवस्था के अनुसार वे पापियों को उन के सुधार की दृष्टि से दण्ड भले ही देंगे परन्तु वे यों ही झट आपे से बाहर हो कर जब तब किसी को कुछ नहीं कहते। सब कुछ सहते रहते हैं प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी सहनशील और क्षमाशील बन जायेंगे। यों ही बात-बात में भड़क उठने की वृत्ति हमारी नहीं रहेगी।

६. परमात्मा 'दयालु' हैं। सब प्राणियों पर उन की दया बरस रही है। जब वे पापियों को दण्ड देते हैं तो भी दया में भर कर ही देते हैं जिस से वे सुधर कर पवित्र हो जायें और इस संसार में भी सुख के भागी रहें तथा मोक्ष-सुख को पाने के अधिकारी भी बन जायें। यों भी परमात्मा अनेक प्रकार से हम पर दया करते रहते हैं। हमारे जीवन के लिये आवश्यक अन्न-फल, जल, वायु, आग, सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश और गरमी, चलने-फिरने तथा खेती करने के लिये धरती—ये सब चीजें जो हमें मिल रही हैं वह परमात्मा की दया का ही तो परिणाम है। और परमात्मा की यह दया पापी और धर्मात्मा सब पर समानरूप से बरस रही है। इन सब पदार्थों से पापी और धर्मात्मा सब को समानरूप से लाभ मिल रहा है। नहीं तो परमात्मा चाहते तो क्या यह नहीं कर सकते थे कि जब पापी पुरुष धरती पर चलने लगता तो धरती फट जाया करती और वह उस में धंस कर मर जाता ? या जब पापी सांस लेने लगता तो वायु उस से परे हट जाया करती और वह सांस घुट कर मर जाया करता। नहीं, परमात्मा ऐसा कुछ नहीं करते। वे पापी को भी अपनी नियामत का आनन्द लेने देते हैं। समय आने पर वे पापी को अपनी न्याय-व्यवस्था के अनुसार उस के कर्मो का फल अवश्य देंगे। परन्तु उस के आगे-पीछे तो पापी पर भी प्रभु अपनी दया ही बरसाते रहते हैं। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर

के हम भी दूसरों पर दया और उपकार करने वाले बन जायेंगे।

७. परमात्मा 'न्यायकारी' हैं। वे सब के साथ न्याय करते हैं। सब को उन के कर्मों के अनुसार, पक्षपात रहित हो कर, ठीक-ठीक फल देते हैं। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी न्याय का, इंसाफ़ का, जीवन बिताने वाले बन जायेंगे।

८. परमात्मा 'यम' हैं। अपने को संयम में रखते हैं उनके इस गुण का चिन्तन करके हम भी संयमी बन जायेंगे—अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाले इन्द्रियजयी बन जायेंगे।

६. परमात्मा 'सर्वज्ञ' हैं। उन्हें विश्व-ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों का पूर्ण ज्ञान है। उन के इस गुण का चिन्तन करके हम में भी ज्ञानवान् बनने की लालसा जाग उठेगी। अज्ञान और अन्ध-विश्वासों को हम त्याग देंगे भांति-भांति के विद्या-विज्ञानों का आविष्कार करने वाले और उनसे लाभ लेने वाले हम बन जायेंगे।

१०. परमात्मा 'सत्य-स्वरूप' हैं। उन से असत्य का उसी प्रकार विरोध है जिस प्रकार प्रकाश से अन्धकार का विरोध होता है। प्रभु के सत्य गुण का चिन्तन करके हम भी सत्यनिष्ठ बन जायेंगे। हम मन, वचन और कर्म से सत्य का पालन करने वाले बन जायेंगे।

११. परमात्मा 'कर्ता' हैं। वे विश्व की रचना करने वाले हैं। विश्व अनन्त पदार्थो की अद्‌भुत कौशल युक्त रचना उन्होंने की है। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी क्रियाशील बन जायेंगे। हम भी अपने और राष्ट्र के लिये उपयोगी अनेक प्रकार की सुन्दर चीज़ों का निर्माण करने वाले बन जायेंगे।

१२. परमात्मा 'धर्ता' हैं। वे सब का धारण और पालन करते हैं। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी अपने आश्रितों और जरूरत-मन्दों का धारण और पालन करने वाले बन जायेंगे।

१३. परमात्मा 'हर्ता' हैं। वे प्रलय-काल में सारे संसार का संहार कर डालते हैं। और संसार के चलते रहने की अवस्था में दुष्टों को दण्ड दे कर उन की बुराइयों का

संहार करते रहते हैं। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी बुराइयों का संहार कर ने वाले बन जायेंगे।

१४. परमात्मा 'अभय' है। वे कभी किसी से नहीं डरते। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी अभय, कभी किसी से न डरने वाले, बन जायेंगे।

१५. परमात्मा 'निरंजन' हैं। उन में किसी प्रकार की कालिमा नहीं है। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी सब प्रकार की कालिमाओं से रहित हो जायेंगे।

१६. परमात्मा 'निःसंग' हैं। उन में किसी के प्रति आसक्ति और मोह नहीं है। प्रभु के इस गुण के चिन्तन से हम भी आसक्ति और मोह की वृत्ति से रहित हो जायेंगे।

१७. परमात्मा 'निर्लेप' हैं। वे किसी चीज़ में लिप्त नहीं होते। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी किसी चीज़ में लिप्त नहीं हुआ करेंगे।

१८. परमात्मा 'शुद्ध' हैं। उन में किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं है। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी सब प्रकार की अशुद्धियों से रहित हो कर सर्वथा शुद्ध और पवित्र बन जायेंगे।

१९. परमात्मा 'निष्पाप' हैं। वे सब प्रकार के पापों से रहित हैं। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी सब प्रकार के पापों से बचने लगेंगे।

२०. परमात्मा 'निर्विकार' हैं। उन में कभी कोई विकार नहीं आता। वे अपनी स्थिति में सदा एक-रस रहते हैं। किसी भी चीज़ से प्रभावित हो कर वे अपनी समता और एकरसता की अवस्था को नहीं खोते। वे सदा समभाव से रहते हैं। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी अपने आप को निर्विकार भाव से रहने वाला बना लेंगे। हम भी अपने आप को ऐसा बना लेंगे कि किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल बात से प्रभावित हो कर हम अपने मन में विकार नहीं आने देंगे—हमारे मन में सदा समता और एकरसता की स्थिति रहेगी।

२१. परमात्मा 'रक्षक' हैं। वे सब की रक्षा करते हैं। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी सब की रक्षा करने वाले बन जायेंगे।

२२. परमात्मा 'सर्वव्यापक' हैं वे सब जगह विद्यमान हैं। कोई स्थान ऐसा नहीं है जहां परमात्मा विद्यमान न हों। परमात्मा को सब जगह विद्यमान जान कर हम कहीं पाप नहीं करेंगे। और उसे सर्वत्र विद्यमान और अपना रक्षक जानते हुए हम सदा निर्भय हो कर अपने कार्य किया करेंगे।

२३. परमात्मा 'कर्म-फलदाता' हैं। वे हमें हमारे कर्मों का फल देते हैं। प्रभु के इस गुण को जान कर हम सदा बुरे कर्मों से बचेंगे और अच्छे कर्मों को किया करेंगे।

२४. परमात्मा 'मुक्त' हैं। वे सब प्रकार के बन्धनों से रहित हैं। प्रभु के इस गुण का चिन्तन कर के हम भी सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होने का—सब प्रकार की पराधीनता से छूटने का—यत्न करने लगेंगे।

राष्ट्रोन्नति में धर्म की स्पष्ट कारणता

इस प्रकार राष्ट्र को स्वतन्त्र रखने और उसे सब प्रकार से उन्नति की ओर ले जाने के लिये प्रजाजनों में जितने गुणों का होना आवश्यक है वे सब गुण ईश्वर में विश्वास रखने और उस की उपासना करने से प्राप्त होते हैं। ये सब गुण ऐसे हैं कि इन के बिना न तो खोई हुई स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है, न प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा की जा सकती है और न ही राष्ट्र को उन्नत किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म राष्ट्रोन्नति में स्पष्ट रूप से कारण बनता है और हम कह सकते हैं कि राष्ट्र की स्वतन्त्रता की रक्षा और उस की सच्ची उन्नति धर्म से ही हो सकती है। प्रजाजनों का धार्मिक जीवन ही किसी राष्ट्र को ऐश्वर्य और अभ्युदय की चोटी पर ले जा सकता है। किसी राष्ट्र के प्रजाजन जितना-जितना धार्मिक बनते जायेंगे उतना-उतना वह राष्ट्र उन्नत और समृद्ध होता जायेगा।

७.
प्रभु के गुणों से विपरीत आचरण वाला व्यक्ति धार्मिक नहीं है

कोई कह सकता है कि धर्म को मानने वाले बहुत से लोगों में तो ये ऊपर गिनाये गये गुण नहीं पाये जाते। वे तो बड़े झगड़ालू, ईर्ष्या और द्वेष से भरे हुए, चिड़-चिड़े स्वार्थी,

पक्षपाती और तुच्छ वृत्ति के लोग होते हैं। और उन की ये बातें राष्ट्र को स्वतन्त्र बनाने, उस की रक्षा और उन्नति करने में बाधक होती हैं। इन लोगों को धर्म ने कहां अच्छा बनाया ?

ऐसे लोगों को धार्मिक कहना भूल है। धर्म का सार तो प्रभु में विश्वास रखना और इस विश्वास के आधार पर उस के प्रेम में तन्मय हो कर उस की भक्ति कर के अपने आप को उस जैसा बनाना है। जो ऐसे नहीं हैं, वे धर्म के ढोंगी हैं—धर्मिष्ठ नहीं हैं। संसार के सच्चे धर्मिष्ठ लोगों में ऊपर गिनाये गये प्रभु के ये गुण सदा पाये जाते हैं। धर्मध्वजी लोगों में, धर्म के ढोंगी लोगों में, इन गुणों के न रहने से स्वयं धर्म को बुरा नहीं कहा जा सकता। इन लोगों में पाया जाने वाला मनुष्य का अपना बुरापन निन्दनीय है। धर्म निन्दनीय नहीं है।

बुरे लोग तो किसी भी अच्छी चीज़ को बिगाड़ देते हैं। इस से वह चीज़ स्वयं बुरी नहीं हो जाती। देश-भक्ति की भावना अपने आप में कितनी अच्छी वस्तु है। देश-भक्ति की भावना से प्रेरित हो कर सच्चे देश-भक्त लोग अपने देश के लिये कितना आत्म-त्याग करते हैं ? वे अपने देश की रक्षा तथा उस की उन्नति के लिये कितने कष्ट उठाने के लिये उद्यत रहते हैं ? वे अपने देश के लिये अपने प्राणों तक की आहुति दे देते हैं। परन्तु स्वार्थी और दुष्ट लोगों की यही देश-भक्ति की भावना उन्हें दूसरे देशों के लोगों के हितों के प्रति अन्धा बना देती है। वे अपने देश का हित तो देखते हैं, दूसरे देशों के हित को नहीं देखते। वे दूसरे देशों के हित को नष्ट कर के अपने देश का भला करते हैं। इसके लिये वे दूसरे देशों की स्वतन्त्रता को छीन कर उन्हें अपने अधीन कर लेते हैं और उन पर मनमाने अत्याचार करते हैं। अंग्रेज लोगों ने हमारे देश को जो गुलाम बना रखा था और हमारे देश के लोगों का जो वे खून चूसते रहते थे उस का कारण उन की अपने देश के प्रति भक्ति ही तो है—अपने देश का भला करना ही तो है। अपने देश की भक्ति की भावना से—अपने देश का भला करने की भावना से—प्रेरित होकर राष्ट्रों ने दूसरे राष्ट्रों पर जो अत्याचार किये हैं उन से इतिहास भरा पड़ा है। तो क्या इस से देश-भक्ति की भावना बुरी हो गई ? अच्छे लोग देश-भक्ति की भावना से अपने देश का भला तो करते हैं परन्तु दूसरे देशों के लोगों के हितों को नहीं बिगाड़ते। अपने देश के स्वार्थ के लिये दूसरे देशों के हितों को नष्ट नहीं करते। देश-भक्ति की भावना का दुरुपयोग करने वाले लोगों की निन्दा की जायेगी। देश-भक्ति की भावना की नहीं।

इसी प्रकार बुरे लोगों द्वारा किये ज़ाने वाले धर्म के ढोंग की निन्दा की जायेगी। धर्म

की नहीं। ढोंग करने वाले बुरे और स्वार्थी लोग तो किसी भी अच्छी बात का ढोंग कर लेते हैं। ढोंगियों की निन्दा करनी चाहिये और आवश्यकता होने पर उन्हें दण्डित भी करना चाहिये। धर्म की निन्दा और उस के विरुद्ध आन्दोलन न करके हमें धर्म के शुद्ध रूप को पहिचानना चाहिये। और उस शुद्ध धर्म का प्रचार करना चाहिये। शुद्ध धर्म से मिलने वाले लाभों से मनुष्य जाति को क्यों वञ्चित रखा जाये ?

८.
युद्ध और उसके लाभ

पिछले महायुद्ध[1] की भयंकरता को देख कर आज संसार के लोग युद्ध से त्रस्त हो गये हैं और भविष्य में युद्ध न हों इस के उपाय सोचने लगे हैं। युद्ध बुरे हैं और उन्हें रोकने का उपाय करना ही चाहिये। परन्तु जहां युद्धों में अनेक बुराई की बातें हैं, वहां उन में कुछ अच्छी बातें भी हैं। जब राष्ट्रों को कोई खतरा नहीं रहता तो जनता में विलास, प्रमाद, सुस्ती, कष्ट न सह सकना और आत्म-त्याग न कर सकना आदि के दुर्गुण आ जाते हैं। युद्ध जनता में इन दुर्गुणों के मुकाबले के सद्गुण उत्पन्न करता है। युद्ध-काल में राष्ट्र के लोग परिश्रमी, उत्साही, तपस्वी, चुस्त, कष्ट-सहिष्णु, त्यागी, वीर, निर्भय, मृत्यु को तुच्छ समझने वाले, परस्पर के सहायक और आत्मोत्सर्ग करने वाले बन जाते हैं। इस दृष्टि से युद्धों की उपयोगिता भी है। प्रो. जेम्स जैसे दार्शनिकों ने इस दृष्टि से बीच-बीच में युद्ध होते रहने का आंशिक समर्थन भी किया है।

धर्म युद्ध का प्रतियोगी है

परन्तु प्रो. जेम्स ने लिखा है कि जहां युद्ध लोगों में उपर्युक्त गुणों को उत्पन्न करता है वहां वह लोगों को नृशंस, क्रूर और रक्त-पिपासु भी बना देता है। इस दृष्टि से युद्ध त्याज्य भी है। अतः युद्ध के स्थान पर उस का कोई दूसरा प्रतियोगी खोजा जाना चाहिये जो युद्ध से उत्पन्न होने वाले उपर्युक्त सद्गुणों को तो लोगों में पैदा कर दे, पर युद्ध से उत्पन्न होने वाले दुर्गुणों को उन में न आने दे और युद्ध से मिलने वाले भीषण कष्टों, धन-विनाश और जनसंहार से मनुष्य-समाज की रक्षा कर ले। प्रो. जेम्स ने धार्मिक जीवन को युद्ध का ऐसी

१. १६१४-१८ और १६३६-४५ में होने वाले गत दोनों महायुद्धों की भीषणता का कुछ अन्दाजा लगाने के लिये इसी पुस्तक के 'वैदिक समाज-व्यवस्था' प्रकरण के पृष्ठ ५८-६0 देखिये।

प्रतियोगी बताया है। धार्मिक जीवन को प्रो. जेम्स ने 'युद्ध का चारित्रिक प्रतियोगी' (Moral Equivalent of war) कहा है।[1] लोगों का जीवन धार्मिक बन जाने पर उपर्युक्त सद्गुणों की प्राप्ति के लिए युद्ध की आवश्यकता नहीं रहेगी। युद्ध से जैसे लोगों में ऊपर कहे गये सद्गुण उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार धार्मिक जीवन का अवलम्बन करने से भी उन में इन चरित्र सम्बन्धी सद्गुणों की उत्पत्ति होती है। युद्ध जहां एक अंश में मनुष्य को ऊंचा उठाता है वहां वह दूसरे अंश में उसे पतित भी कर देता है। परन्तु धर्म मनुष्य को ऊंचा-ही-ऊंचा उठाता है—उसे देवता ही बनाता है।

सभी सच्चे धर्मिष्ठ लोगों में उपर्युक्त सद्गुण प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। महात्मा बुद्ध, शंकराचार्य, ईसा, गुरु नानक, गुरु तेगबहादुर, ऋषि दयानन्द और महात्मा गांधी जैसे सच्चे धर्मनिष्ठ लोगों में इन गुणों की इतनी अधिक मात्रा दिखाई देती है कि उसे देख कर साधारण आदमी दंग रह जाता है। इस प्रकार के धर्मशील महापुरुष अपने प्रभाव से सर्व साधारण जनता के चारित्रिक मानदण्ड को भी बहुत ऊंचा कर देते हैं। वे जनता में भी सच्चे धर्म की भावना भर देते हैं। इस प्रकार जनता में चारित्रिक गुण उत्पन्न करने की दृष्टि से धर्म का बड़ा ऊंचा और महत्त्वपूर्ण स्थान है।

६.
धर्म के बिना सच्चारित्र्य खड़ा नहीं रह सकता

धर्म और ईश्वर का विरोध करने वाले लोग कहते हैं कि धर्म को मानने की क्या आवश्यकता है ? धर्म को मानने वाले लोग धर्म का यही तो लाभ बताते हैं कि उस से हमारे अन्दर सत्य, न्याय, दया, तप, त्याग और उपकार आदि चरित्र सम्बन्धी सद्गुण (Moral Qualities) उत्पन्न होते हैं। हम इन चरित्र सम्बन्धी सद्गुणों को अपने भीतर धर्म के बिना भी उत्पन्न कर सकते हैं। अनेक नास्तिक लोगों में ये सद्गुण बड़ी ऊंची मात्रा में पाये जाते हैं। हम अपने व्यवहार में इन सद्गुणों का पालन करते रहेंगे। हमें धर्म को मान कर आत्मा, परमात्मा, लोक, परलोक और कर्म-फल आदि के जंजाल में पड़ने की क्या आवश्यकता है ?

धर्म-विरोधियों का यह कथन ऊपर-ऊपर से सुनने में रोचक प्रतीत होता है। गहराई में विचार करने पर पता लगता है कि धर्म को माने बिना—आत्मा-परमात्मा की सत्ता और

1. Varieties of Religious Experience by prof. William James, pages 365-367.

लोक-परलोक तथा कर्म-फल के सिद्धान्त को माने बिना चरित्र सम्बन्धी सद्गुण (Moral Qualities) खड़े नहीं रह सकते। हमारा सच्चारित्र्य (Morality) आत्मा-परमात्मा और लोक-परलोक तथा कर्म-फल के सिद्धान्त के आधार पर ही टिका हुआ है।

यदि हम नास्तिक लोगों की बात मान कर भौतिकतावादी ((Materialist) बन जायें और यह मानने लग पड़ें कि आत्मा नाम की कोई सत्ता नहीं है, जिसे हम आत्मा कहते हैं वह तो प्राकृतिक जड़-पदार्थों के संयोग का परिणाम है, जिस प्रकार आग और पानी के संयोग का परिणाम जल की उष्णता है, अथवा जैसे पोटाशियम फैरो साइनाइड (Potassium Ferro Cyanide) के हलके पीले से रंग के घोल में फैरिक क्लोराइड (Ferric Chloride) का हलके पीले से रंग का घोल मिला देने से उसमें गहरा नीला रंग आ जाता है, जैसे कैडमियम नाइट्रेट (Cadmium Nitrate) के नीरंग घोल में सोडियम सल्फाइड (Sodium Sulphide) का नीरंग घोल मिला देने से उस का पीला रंग हो जाता है, जैसे मरक्यूरिक क्लोराइड (Mercuric Chloride) के श्वेत रंग के घोल में पोटाशियम आयोडाइड (Potassium Iodide) का श्वेत रंग का घोल मिला देने से उस का लाल-नारंगी रंग हो जाता है, जैसे सोडा कास्टिक (Soda Caustic) के हलके नीरंग घोल में फिनाल्फ्थलीन (Phenolphthalein) का हल्का नीरंग घोल मिला देने से उस में सुन्दर गहरा गुलाबी रंग आ जाता है; हमारे उत्पन्न होने से पहले हमारा आत्मा नहीं था और हमारे मर जाने के बाद भी वह नहीं रहेगा, न कोई हमारा पिछला जन्म था और न कोई अगला जन्म होगा, बस जो कुछ है यह हमारा वर्तमान जन्म ही है, इस जन्म में हम जो कुछ कर लें कर लें, इस जन्म में हम जो कुछ सुख-भोग भोगना चाहें भोग लें, आगे कुछ नहीं होने और मिलने वाला है, आंख मिंची और सब कुछ समाप्त; भौतिकतावादी नास्तिक बन कर यदि हम मानने लग पड़ें कि परमात्मा की भी सत्ता कुछ नहीं है—इस जगत् को बनाने वाला और चलाने वाला तथा हमारे कर्मों का फल देने वाला परमात्मा कोई नहीं है—तो हमारा सच्चारित्र्य (Morality) ठहर नहीं सकेगा।

जब हमारा केवल यहीं जन्म है और इसी में हम जो कर लें कर लें और जो सुख-भोग भोगना चाहें भोग लें तो हम में बुरे कर्मों से बचने की प्रवृत्ति नहीं होगी। तब हमारे अन्दर यह प्रवृत्ति जाग उठेगी कि यह थोड़ा-सा तो समय हमारे पास है जिस में हम जो सुख भोगना चाहें भोग सकते हैं, इस लिये जिस किसी तरह भी हमें अपने जीवन को सुखी बना कर रखना

चाहिये। इस प्रवृत्ति के वश में आ कर हम अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए बुरे कर्म करने से भी नहीं चूकेंगे। हमें तो अपने को सुखी बनाना है, चाहे वह सुख अच्छे कर्म करने से प्राप्त होता हो और चाहे बुरे कर्म करने से। बुरे कर्मों का दण्ड देने वाला परमात्मा तो कोई है ही नहीं जिस का हमें भय रहे। अगला जन्म भी कोई नहीं है जिस में हमें अपने बुरे कर्मों का फल भोगना पड़े। तो हमें बुरे कर्मों से बच कर सच्चरित्र (Moral) बनने की प्रेरणा क्यों होगी ?

आत्मा-परमात्मा की सत्ता, पुनर्जन्म और कर्म-फल के सिद्धान्त को न मान कर केवल यही एक जन्म मानने की अवस्था में तो हमारा उद्देश्य केवल अपने इस वर्तमान जीवन को सुखी बनाना रह जायेगा। तब हमें अपने जीवन को सुखी बनाने के लिये झूठ-फरेब, धोखे-धड़ी, और अन्याय-अत्याचार का भी अवलम्बन करना पड़े तो वह कर लेना चाहिये। इस प्रकार के दुराचरणों से हमें क्यों रुकना चाहिये ?

कहा जा सकता है कि जैसे हम सुखी बनना चाहते हैं वैसे ही और लोग भी सुखी बनना चाहते हैं, इस लिये झूठ-फरेब आदि का सहारा लेकर हमें दूसरों के जीवन को दुःखी नहीं बनाना चाहिये। परन्तु यदि कोई अपनी यह मनोवृत्ति बना ले कि दूसरे लोग मेरे किसी आचरण से दुःखी होते हैं तो होते रहें, मुझे तो अपने जीवन को सुखी बनाना है, मैं तो जैसे भी होगा अपने को सुखी बनाऊंगा, तो ऐसी मनोवृत्ति वाले व्यक्ति को दुराचरण से कैसे रोका जा सकता है ? कहा जा सकता है कि दूसरे लोग उस के दुर्व्यवहारों से तंग आकर उसे पकड़ लेंगे और दण्डित करेंगे और इस प्रकार उसे अपने बुरे कर्मों का फल दुःख मिलेगा, अतः उसे बुरे कर्मों से बचना चाहिये। परन्तु पकड़ में तो कोई व्यक्ति अपनी असावधानी और गलती से आता है। यदि कोई व्यक्ति पूर्ण सावधान हो कर चतुराई और बुद्धिमत्ता से दूसरों के साथ दुर्व्यवहार करके अपने को सुखी बनाता रहे तो ऐसे व्यक्ति को दुराचरण से कैसे रोका जा सकेगा ? फिर यदि कोई यह सोच ले कि कभी अपनी असावधानी से पकड़ भी लिया गया और उससे दण्डित हो कर कुछ दुःख भोगना भी पड़ गया तो क्या बात है, अधिकतर तो मैं दूसरों को ठग और लूट कर अपने जीवन को सुखी ही रखता हूं, तो ऐसे व्यक्ति को दुराचरण से कैसे रोका जा सकेगा ? यदि हम छिप कर पाप करते रहें और पकड़े न जा सकें तो पाप करते रहने में क्या बुराई है ? उस से तो हम अपने जीवन को सुखी बना रहे हैं ? आत्म-परमात्मा की सत्ता, पुनर्जन्म और कर्म-फल के सिद्धान्त को न मानने वाले भौतिकतावादी नास्तिकों के

पास इन प्रश्नों का कोई समाधान नहीं है।

आत्मा-परमात्मा आदि की सत्ता को स्वीकार न करने की अवस्था में तो मनुष्य की प्रवृत्ति स्वभावतः चार्वाकों की सी हो जायेगी। और वह चार्वाकों के स्वर-में-स्वर मिला कर कहने लगेगा—"मौत से कोई नहीं बच सकता, इस लिये जब तक जीना है सुख से जीना चाहिये, क्योंकि मरने के बाद जल कर राख हो जाने के पीछे सुख भोगने के लिये शरीर कहां से मिलेगा[1] ?" "जब तक जीना है सुख से जीना चाहिये और अपने को सुखी बनाने के लिये ऋण लेकर भी घी पीते रहना चाहिये, क्योंकि मरने के बाद जल कर राख हो जाने के पीछे सुख भोगने के लिये देह कहां से मिलेगा[2] ?"

फिर एक बात और यहां विचारने की है। आत्मा और परमात्मा को न मानने की अवस्था में अच्छे और बुरे—सच्चारित्र्य और दुश्चारित्र्य का भेद कैसे किया जा सकेगा ? हमारे किसी कर्म को अच्छा या बुरा कह कर उस की अच्छाई और बुराई का निर्णय करने वाला कोई परमात्मा या आत्मा तो है ही नहीं। भौतिकतावादी (Materialist) नास्तिकों के मत में परमात्मा की सत्ता तो बिल्कुल ही नहीं है। आत्मा की भी वास्तविक सत्ता नहीं है। आत्मा या चेतना जो कुछ है केवल प्राकृतिक जड़ पदार्थों के एक विशेष प्रकार के संयोग का परिणाम है जिस प्रकार आग और जल के एक विशेष संयोग का परिणाम जल की उष्णता है। ऐसी अवस्था में, जिस प्रकार जल की उष्णता प्राकृतिक होने के कारण जड़ ही है उसी प्रकार हमारे शरीर के प्राकृतिक जड़ पदार्थों के संयोग का परिणाम होने के कारण प्राकृतिक होने से हमारा आत्मा भी वस्तुतः जड़ ही है, ऐसा हमें मानना पड़ेगा। और हमें यह भी मानना पड़ेगा कि यह हमारा आत्मा कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, हमारे शरीर के प्राकृतिक पदार्थों में रहने वाला उन पदार्थों का एक गुणमात्र है। तो जिस आत्मा की कोई पृथक् सत्ता ही नहीं है, जो हमारे शरीर के प्राकृतिक जड़ पदार्थों का ही एक गुणमात्र है और जड़ है, वह आत्मा हमारे कर्मो की अच्छाई और बुराई का निर्णय किस प्रकार कर सकेगा ? इस प्रकार हमारे कर्मो की अच्छाई और बुराई का निर्णय करने वाली कोई सत्ता न होने के कारण हमारे कोई भी कर्म अच्छे या बुरे नहीं रहेंगे। हमारे

---

१. यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाक दर्शन।

२. यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाक दर्शन।

सभी कर्म एक जैसे ही हो जायेंगे। हम जैसा चाहें कर लें। हम किसी के किसी कर्म को दुराचरण या अनैतिक (Immoral) और सदाचरण या नैतिक (Moral) नहीं कह सकेंगे।

इस लिये धर्म के बिना सच्चारित्र्य या नीति (Morality) खड़ी नहीं रह सकती। धर्म आत्मा को भी मानता है और परमात्मा को भी। आत्मा अपनी स्वतन्त्रता से अच्छे या बुरे कर्म करता है। अपने कर्मों का फल भोगने में आत्मा परमात्मा के अधीन है। बुरे कर्मों का फल आत्मा को परमात्मा की व्यवस्था के अधीन रह कर दुःख के रूप में भोगना पड़ेगा और अच्छे कर्मों का फल सुख के रूप में परमात्मा की व्यवस्था के अधीन रह कर कर्म-फल के भोग से आत्मा बच नहीं सकता है। कर्म-फल प्रदाता परमात्मा की व्यवस्था के अधीन रह कर कर्मों का फल आवश्यक रूप से भोगे जाने का यह सिद्धान्त आत्मा को बुरे कर्मों से दूर रहने की प्रेरणा करता है। धर्म में परलोक और पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी माना जाता है। यदि इस जन्म में हमें परमात्मा ने हमारे बुरे कर्मों का फल दुःख के रूप में नहीं दिया है तो वह अगले जन्म में दिया जायेगा। उस से छूट नहीं सकते। अगले जन्म में भी फल मिल सकने का यह सिद्धान्त हमारे मन में बुरे कर्मो के प्रति और भी अधिक भय उत्पन्न कर देता है। कर्म-फल भोग के इस भय के कारण हम दुराचरणों से बच कर सच्चरित्र रहने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा करते-करते हम स्वभाव से ही अच्छे आचरण करने वाले बन जाते हैं, परमात्मा के भय के कारण बुरे कर्मों से बचे रहने की बात हमारे मन की पृष्ठभूमि में बहुत नीचे पड़ी रहती है। धर्म सृष्टि के आरंभ से इस प्रकार हमें सच्चारित्र्य (Morality) सिखाता आ रहा है।

धर्म द्वारा की जाने वाली अपनी इस सेवा के कारण संसार को धर्म का धन्यवाद करना चाहिये। जिस दिन संसार से धर्म को सर्वथा मिटा दिया जायेगा, जिस दिन लोग आत्मा, परमात्मा, लोक और परलोक को मानना सर्वथा छोड़ देंगे, जिस दिन कर्म-फल भोग के सिद्धान्त में लोगों का विश्वास बिल्कुल नहीं रहेगा, जिस दिन परमात्मा की भक्ति द्वारा परमात्मा के गुणों को अपने भीतर धारण करने वाले धर्मिष्ठ लोग सर्वथा उत्पन्न होने बन्द हो जायेंगे, उस दिन के थोड़े ही समय के पश्चात् संसार से सच्चारित्र्य (Morality) मिट जायेगा। आज संसार के लोगों में जो सच्चारित्र्य (Morality) दिखाई देता है उसका मूल स्त्रोत धर्म ही है।

नास्तिक लोगों में भी जो कुछ सच्चारित्र्य (Morality) दिखाई पड़ जाता है उसका मूल स्रोत भी धर्म ही है। धर्म द्वारा सिखाये गये, परम्परा से चले आ रहे सच्चारित्र्य के तत्त्वों

को नास्तिक लोगों ने भी स्वीकार कर लिया है। जैसे गंगा से निकली हुई नहर बहुत दूर के खेतों में जाकर पानी दे देती है और उन खेतों और उनके किसानों को पता नहीं होता कि यह पानी गंगा का है, इसी प्रकार नास्तिकों को भी पता नहीं है कि उन में जो सच्चारित्र्य है वह मूल रूप में धर्म की गंगा से ही निकलता है। नास्तिकता का दर्शनशास्त्र, जैसा ऊपर दिखाया गया है, स्वयं सच्चारित्र्य (Morality) को जन्म नहीं दे सकता है।

जब धर्म नहीं रहेगा तो सच्चारित्र्य भी नहीं रहेगा और संसार में अन्ध परम्परा चल पड़ेगी—कोई किसी को सन्मार्ग न दिखा सकेगा। तब संसार के लोगों में मात्स्य-न्याय चलने लगेगा—जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है वैसे ही शक्तिशाली लोग दुर्बल लोगों को खाने लग पड़ेंगे। उस घोर अधर्म की अवस्था में न स्वतन्त्रता रहेगी और न किसी राष्ट्र की किसी प्रकार कोई उन्नति।

परन्तु संसार यह सुन कर निश्चिन्त रहे कि दयानन्द और गांधी जैसे समय-समय पर उत्पन्न होते रहने वाले धर्मनिष्ठ लोगों की कृपा से वह बुरा दिन कभी नहीं आने पायेगा। धर्म को नास्तिकवाद से भय नहीं है। आत्मा-परमात्मा की सत्ता और पुनर्जन्म तथा कर्म-फल के सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये धर्म वालों के पास-प्रबल तर्क हैं। पहले भी नास्तिक लोग आते रहे हैं। हम आस्तिक लोग अपने तर्कों से उन की बातों का खण्डन करते रहे हैं।

यहां एक बात और भी देखने की है। सच्चरित्र (Moral) रहने के लिये हमें सच्चरित्र पुरुषों की संगति की आवश्यकता पड़ती है। हम अच्छी-बुरी जैसी संगति में रहा करते हैं वैसे बन जाया करते हैं। संसार में हमें पूर्ण सच्चरित्र पुरुषों की संगति प्रायः प्राप्त नहीं होती। धर्म इस सम्बन्ध में भी हमारी सहायता करता है। परम पुरुष परमात्मा की उपासना द्वारा हमें सब से अधिक सच्चरित्र सत्ता (Moral Being) की संगति[1] प्राप्त होती है। उपासना द्वारा प्रभु की संगति में बैठते रहने से हमारे अन्दर चरित्र सम्बन्धी सब सद्गुण (Moral Qualities) आ जाते हैं।

इस प्रकार किसी भी दृष्टि से देखा जाये, विवेचना करते-करते अन्त में (In the ultimate

---

१. संगति हमारे चरित्र पर कितना प्रभाव डालती है और प्रभु की भक्ति और उपासना हमें सच्चरित्र बनने में किस प्रकार सहायता देती है, इस सम्बन्ध में अधिक विस्तृत विवेचन देखने के लिये इस पुस्तक का 'वैदिक धर्म और उपासना' प्रकरण देखिये।

analysis) हमें सच्चारित्र्य (Morality) का आधार धर्म को ही मानना पड़ता है।

धर्म सब सद्गुणों का स्रोत है

इस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति और उस की रक्षा तथा राष्ट्र की उन्नति के लिये जितने भी गुण जनता में होने आवश्यक हैं उन सब का स्रोत धर्म है। धर्म के बिना न कोई राष्ट्र स्वतन्त्र रह सकता है, न खोई हुई स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है और न ही किसी प्रकार की उन्नति कर सकता है।

धर्म लड़ना नहीं सिखाता

धर्म पर लोगों में लड़ाई-झगड़े कराने और इस प्रकार राष्ट्रोन्नति में बाधक होने का जो दोष लगाया जाता है वह निराधार है। धर्म लड़ाई-झगड़े नहीं कराता। जो लोग वास्तविक रूप में धार्मिक होते हैं, जो लोग ईश्वर के बन्दे होते हैं, जिन में ईश्वर के प्रति सच्चा और गहरा विश्वास होता है, जो हृदय से ईश्वर से प्रेम करते हैं और उस के ऊपर निर्दिष्ट गुणों को अपने में धारण कर के उस जैसा बनने का प्रयत्न करते हैं, वे लोग कभी आपस में लड़ते-झगड़ते नहीं। वे तो झगड़ों को मिटाने का यत्न करते हैं। इन्हीं लोगों में असल में धर्म का निवास होता है। जो लोग धर्म के नाम पर लड़ते हैं वे धर्मध्वजी होते हैं, पाखण्डी होते हैं, धर्म के ढोंगी होते हैं, झूठे और धोखे-बाज़ होते हैं। वे धार्मिक नहीं होते, अधार्मिक होते हैं। ऐसे अधार्मिक लोगों की निन्दा करनी चाहिये, धर्म की नहीं। जो लोग पाखण्डी हैं उन को न देख कर जो लोग सही रूप में धार्मिक हैं, हमें उन की ओर देखना चाहिये। हमें दयानन्द, बुद्ध, ईसा, नानक और गांधी जैसे धार्मिक पुरुषों की ओर देखना चाहिये। संसार के सभी धर्मों के इतिहास में इस प्रकार के सच्चे ईश्वर-विश्वासी धार्मिक साधु-सन्त बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। हमें उन की ओर देखना चाहिये। उन का अनुकरण कर के हमें भी उन जैसा धार्मिक बनने का यत्न करना चाहिये और अपने धार्मिक जीवन से अपने राष्ट्र और मनुष्य-समाज का भला करना चाहिये।

धर्म वालों को भी सावधान होना चाहिये

धर्मों वाले लोगों को भी यह समझ लेना चाहिये कि आज जो धर्म के विरुद्ध आन्दोलन चल रहा है उस का कारण हम धर्म वाले स्वयं हैं। हम में असल में धर्म नहीं है। हम धर्मध्वजी हैं—धर्म के पाखण्डी हैं। हम धर्म के नाम पर ऐसे कार्य करते रहते हैं जो असल में अधर्म

होते हैं--पाप होते हैं। हम अधर्म का पक्ष लेते रहते हैं। हम विवाद हो जाने पर अपने धर्म वाले दुष्ट और अन्यायी पुरुष का भी पक्ष करते हैं और दूसरे धर्म वाला यदि सच्चाई और न्याय पर भी हो तो भी उस का पक्ष नहीं लेते और उस का विरोध करते और उसे हानि पहुंचाने की चेष्टा करते हैं। हमारे अधर्ममय, पापपूर्ण जीवन को देख कर लोग सोचने लगते हैं कि क्या यही धर्म है ? इस धर्म से तो हम कोसों दूर रहें तो अच्छा है। हमारा पाखण्डी जीवन धर्म के प्रति लोगों में अश्रद्धा पैदा कर देता है। धर्म की निन्दा होने लगती है। आज के ज्ञान-विज्ञान के युग में धर्म का पाखण्ड नहीं चल सकता। आज के युग में अपने जीवन को सही अर्थों में धार्मिक बना कर ही धर्म की प्रतिष्ठा रखी जा सकती है। यदि हम धर्म की महिमा और गौरव को बचाये रखना चाहते हैं तो हमें अपने जीवनों में ऊपर वर्णित सच्चे धर्म को ढालना होगा।

१०.
वैदिक धर्म और राष्ट्रोन्नति

धर्म राष्ट्रोन्नति में बाधक है या नहीं, इस प्रश्न पर दो दृष्टियों से विचार हो सकता है। एक तो तब जब कि हम 'धर्म' को धर्मत्वेन सामान्य रूप में (Religion in General) ले लें, और दूसरा तब जब कि हम 'धर्म' को सामान्य रूप में न लेकर किसी विशेष धर्म के अर्थ में स्वीकार करें। अभी तक ऊपर जो विवेचन किया गया है वह सामान्य धर्म के सम्बन्ध में किया गया है। आर्य-समाज 'वैदिक-धर्म' के नाम से प्रसिद्ध धर्म का प्रचार करने वाली संस्था है। अतः हम ने अब यह देखना है कि धर्म राष्ट्रीय उन्नति में बाधक है इस प्रकार का आन्दोलन उठाने वालों की बात 'वैदिक-धर्म' के सम्बन्ध में कहां तक सत्य हे। ऊपर धर्म का जो सामान्य विवेचन किया गया है वह इस लिये किया गया है कि 'वैदिक-धर्म' धर्म के उस सामान्य रूप को ही असल में धर्म मानता है। वेद से ले कर गीता और सत्यार्थप्रकाश तक के आर्यो के सब धर्मशास्त्र धर्म के इस रूप को ही असल में धर्म मानते हैं। धर्म के उस सामान्य और सार्वभौम रूप को व्यक्ति के जीवन में बद्धमूल करने के लिये 'वैदिक-धर्म' में कुछ क्रिया-कलापों और जीवन बिताने की कुछ व्यवस्थाओं का विधान किया गया है। अपने इन विधि-विधानों की दृष्टि से भी वैदिक-धर्म राष्ट्रीय उन्नति में बाधक है या नहीं यह हमने अब देखना है।

राष्ट्रोन्नति का अर्थ

वैदिक-धर्म और राष्ट्रोन्नति में कोई विरोध है या नहीं इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले

हमें यह समझ लेना चाहिये कि राष्ट्रीय उन्नति का क्या अर्थ है। वर्तमान समय में राष्ट्रीय उन्नति यह शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है वह यह है कि कोई देश राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हो और उस में प्रजातन्त्र पद्धति का शासन चलता हो, उस के नर-नारियों में शिक्षा का खूब प्रचार हो, वहां विद्यालयों और ऊंची शिक्षा देने वाले विश्वविद्यालयों की संख्या यथेष्ट हो, वहां तरह-तरह के वैज्ञानिक आविष्कार होते हों और व्यावहारिक जीवन में उन से उपयोग लिया जाता हो, वहां कृषि खूब होती हो, खानों से अनेक खनिज पदार्थ निकाले जाते हों, व्यवसाय (Industry) द्वारा भांति-भांति की चीजें बनाई जाती हों और उन के आधार पर उस का देश-विदेश का व्यापार खूब बढ़ा-चढ़ा हो, उस के निवासियों के रहने के घर और नगर खूब सुन्दर, साफ-सुथरे, खुले, हवा और रोशनीदार हों, नगरों और देश की सड़कें सुव्यवस्थित हों, राज्य-प्रबन्ध में सर्वसाधारण प्रजा का पूरा हाथ हो और यह प्रबन्ध ऐसा हो कि प्रजा के लोग बाह्य और भीतरी सब प्रकार के भयों की आशंका से मुक्त हों, आपस में प्रेम और शान्ति से रहते हों, उन्हें खाने-पीने और पहनने को बढ़िया और यथेष्ट मिल जाता हो, तथा उन के स्वास्थ्य की पूरी चिन्ता होती हो, इस के साथ ही पृथिवी के अन्य देशों में उस देश की प्रतिष्ठा और सन्मान होता हो। आज-कल राष्ट्रीय उन्नति से जो कुछ समझा जाता है वह यही है। हम देखेंगे कि इस प्रकार की राष्ट्रीय उन्नति में वैदिक-धर्म से किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुंचती। उलटा वह इस में और सहायक होता है।

वैदिक-धर्म में राष्ट्रोन्नति सम्बन्धी उपदेश

वैदिक-धर्म के सर्वप्रामाणिक धर्म-पुस्तक वेद को, जिसे सभी प्रकार के विचार रखने वाले वैदिक-धर्मी ईश्वरीय वाणी स्वीकार करते हैं, यदि हम उठा कर देखें तो हमें पता चलता है कि वहां इस प्रकार की राष्ट्रीय उन्नति करने के लिये भी मनुष्य-मात्र को उसी प्रकार बल-पूर्वक आदेश दिया गया है जिस प्रकार आध्यात्मिक उन्नति करने के लिये दिया गया है।

इस सम्बन्ध में वेद के पचासों सूक्त उद्धृत किये जा सकते हैं। पर स्थानाभाव हमें इस की आज्ञा नहीं देता। उदाहरण के लिये दो-चार निर्देशों की ओर संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा। राज्य-प्रबन्ध को लीजिये। वेद की स्पष्ट आज्ञा है कि किसी देश के लोगों को पराधीन नहीं रहना चाहिये और अपने देश को सदा स्वतन्त्र रखना चाहिये। वेद कहता है—"हमें अदीन

होकर रहना चाहिये[1]।" "बहुतों की जो पालना करता है और बहुतों के सहयोग से जिस की रक्षा की जाती है उस स्वराज्य के लिये हमें सदा यत्नशील रहना चाहिये[2]।" वेद की सम्मति में राजा के चुनाव में प्रजा के सभी प्रकार के लोगों का मत होना चाहिये और राज्य प्रजातन्त्र होना चाहिये। वहां कहा है—"हे राजन् ! राष्ट्र की सभी दिशाओं में रहने वाली प्रजायें राज्य करने के लिये तुम्हारा आह्वान करें[3]।" "हे राजन् ! सब प्रजायें राज्य करने के लिये तुम्हारा चुनाव करें[4]।" "सारी प्रजायें मिल कर हे राजन् ! तुम्हारा चुनाव करें[5]।" "सभी प्रजायें हे राजन् ! राज्य करने के लिये तुम्हें पसन्द करें[6]।" "हे अग्नि जैसे तेजस्वी राजन् ! राष्ट्र के ये सारे ब्राह्मण लोग तुम्हारा चुनाव कर रहे हैं[7]।" "हे राजन् राष्ट्र के जो धीवर लोग हैं, जो रथकार लोग हैं, जो लोहे का काम करने वाले कारीगर हैं, जो बुद्धि-जीवी लोग हैं, जो रथ और गाड़ियें चलाने वाले लोग हैं, और जो गांवों को चलाने वाले किसान और उन के मुखिया लोग हैं, वे सब तुम्हारे चुनाव के लिये अपना मत दे रहे हैं[8]।" इसी प्रकार राज्य के कानून आदि का निर्माण करने वाली 'सभा' और 'समिति' नामक राज सभाओं के चुनावों में भी प्रजा के सभी श्रेणियों के लोगों को अपना मत देने और उन में चुने जाने के लिये खड़े होने का अधिकार वेद ने दिया है।

इसी प्रकार वेद का उपदेश है कि राज्य-प्रबन्ध प्रजा के कल्याण के लिये होना चाहिये[9]। राज्य को देश में शिक्षा का प्रचार करना चाहिये[10]। राष्ट्र की खानों का उपयोग लिया जाना चाहिये[11]।

१. अदीनाः स्याम। यजुः, ३६.२४।
२. बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये। ऋग्. ५.६६.६।
३. सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तु। अथर्व. ३.४.१।
४. त्वां विशो वृणतां राज्याय। अथर्व. ३.४.२।
५. सर्वाः संगत्य वरीयस्ते अक्रन्। अथर्व. ३.४।
६. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु। अथर्व. ४.८.४।
७. त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे। यजुः. २६.३।
८. ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः सूता ग्रामण्यश्च ये।।
अथर्व. ३.५.६, ७।
९. अथर्व. ७.३५१.।
१०. यजुः. १२.२३। ऋग्. १०.१३३.७.। अथर्व. ८.३.२०।
११. अथर्व. १२.१.४४।

राष्ट्र में कृषि का उत्तम प्रबन्ध होना चाहिये[१]। राष्ट्र में नहरें खुदवाई जानी चाहियें[२]। राज्य को देश के व्यापार को प्रोत्साहित करना चाहिये[३]। राष्ट्र के स्वास्थ्य की चिन्ता राज्य को करनी चाहिये[४]। राज्य को प्रजा के उत्पीड़क लोगों से प्रजा की रक्षा करनी चाहिये[५]।

राष्ट्र किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता यदि प्रजा के लोग परस्पर प्रेम से मिल कर न रहते हों। सब को परस्पर प्रेम से मिल कर रहना चाहिये इस विषयक उपदेशों से वेद भरा पड़ा है। वेद के प्रसिद्ध भूमि-सूक्त में, जिसे वेद का राष्ट्रीय गीत कहा जा सकता है, कहा है—"विविध भाषाओं को बोलने वाले और नाना धर्मों को मानने वाले लोगों को भी अपने राष्ट्र में इस प्रकार प्रेम से मिल कर रहना चाहिये जैसे एक घर के लोग रहा करते हैं, इस प्रकार प्रेम से रहने वाले लोगों के लिये राष्ट्र की भूमि सहस्रों प्रकार की सम्पत्ति की धारायें बहा देगी जैसे कि अपनी सेवा करने वाले के लिये दुधारु गाय अपने दूध की धारायें बहा देती है[६]।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद का धर्म राष्ट्रिय उन्नति में बाधक न हो कर राष्ट्र की उन्नति पर बल देता है और उस के उपायों का वर्णन करता है। वेद का धर्म वस्तुतः राष्ट्र की भौतिक और आत्मिक दोनों ही प्रकार की उन्नतियों के सम्बन्ध में समान रूप से उपदेश देता है। जैसा ऊपर दिखाया गया है, वेद की सम्मति में तो "जो लोग वेद को पढ़ कर अपने इस लोक को सब प्रकार से उन्नत बनाने वाले कर्मशील और ब्रह्मनिष्ठ तत्त्वज्ञानी नहीं बनते हैं उन का वेद पढ़ना व्यर्थ है[७]।" इसी प्रकार हमने ऊपर देखा है कि गीता की सम्मति में धर्म की एक आवश्यक कसौटी यह है कि उस से इस लोक की उन्नति होती हो[८]।"

१. अथर्व. १२.१.४४।
२. अथर्व. १२.१.६। अथर्व. ३.१३. सूक्त।
३. अथर्व. ३.१५ सूक्त।
४. अथर्व. ७.८४. सूक्त। अथर्व. १२.१.२२।
५. अथर्व. २.१.७, ८। अथर्व. ४.३६. सूक्त। अथर्व. ८.४. सूक्त। अथर्व. १२.१.७।
६. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।। अथर्व. १२.१.४५।
इस मन्त्र की और जिस सूक्त (अथर्व. १२.१) का यह मन्त्र है उसकी विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वेद का राष्ट्रीय गीत' में देखिये।
७. ऋग्. १०.७१.६।
८. गीता ४.३१।

वैदिक-धर्म राष्ट्रीय उन्नति में बाधा नहीं डालता प्रत्युत उस की दृष्टि में तो राष्ट्रीय उन्नति किसी जाति के लोगों की धर्मनिष्ठता की निशानियों में से एक है।

११
राष्ट्रोन्नति और वैदिक-धर्म का कर्मकाण्ड

राष्ट्रोन्नति के सम्बन्ध में वैदिक-धर्म के सामान्य निर्देशों की ओर यह सरसरा दृष्टिपात करने के अनन्तर अब और आगे चलिये। वैदिक-धर्म के कर्मकाण्ड को देखिये।

राष्ट्रोन्नति और पंच महायज्ञ

वैदिक-धर्म में प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रति दिन पांच यज्ञों का, जिन्हें महायज्ञ भी कहते हैं, करना आवश्यक रखा गया है। इन के नाम हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ, (२) देवयज्ञ, (३) पितृयज्ञ, (४) भूतयज्ञ अथवा बलि-वैश्वदेव-यज्ञ, और (५) अतिथियज्ञ।

'ब्रह्मयज्ञ' में मनुष्य प्रति दिन प्रातः-सायं एकान्त में बैठ कर मंत्र-पाठ-पूर्वक अपने प्रत्येक अंग-प्रत्यंग पर मानसिक दृष्टि डालता है और अपने जीवन की पड़ताल करता है। प्रातःकाल प्रभु को साक्षी कर के प्रतिज्ञा करता है कि आज मैं अपने किसी अंग से अनाचार और अधर्म का काम नहीं होने दूंगा, प्रभो ! आप मुझे इस प्रतिज्ञा को निभाने का सामर्थ्य दीजिये। सायंकाल अपने दिन-भर के कार्यों पर दृष्टि डालता है, यदि किसी काम में अपने किसी अंग से कोई अनाचरण हुआ है तो उस के लिये पश्चात्ताप करता है और अगले दिन से उसे न करने की फिर प्रतिज्ञा करता है। जितने अंश में प्रातःकाल की हुई प्रतिज्ञा में सफलता हुई है उसे स्मरण कर के प्रभु का धन्यवाद करता है और उस सन्मार्ग पर सदा डटे रहने के लिये अपने निश्चय को और दृढ़ करता है। इस प्रकार प्रति दिन के प्रयत्न से अपने आप को पवित्र बनाता चलता है और अपने आप को ब्रह्मसाक्षात्कार (मोक्ष) के, जो कि एक वैदिक-धर्मी का सब से बड़ा लक्ष्य है, योग्य करता जाता है। बताइये इस प्रकार के 'ब्रह्मयज्ञ' द्वारा अपने आचरणों और आत्मा को पवित्र करने वाले लोग राष्ट्रीय उन्नति में बाधक होंगे या साधक ?

'देवयज्ञ' में यज्ञकर्त्ता प्रति दिन शाम-सवेरे यज्ञकुण्ड में अग्नि प्रज्वलित कर के ऋतु-ऋतु के अनुकूल सुगन्धित, पुष्टिकारक, रोगनाशक और स्वास्थ्यप्रद ओषधियों (Medicinal herbs) से बनी हुई सामग्री और घृत की आहुतियाँ देता है। इस का परिणाम यह होता है कि आस-पास का सारा वायु-मण्डल सुगन्धित, रोग-रहित और स्वास्थ्यप्रद हो जाता है। आहुतियें देते हुए मंत्रों

का पाठ भी किया जाता है जिन में व्यक्ति और समाज के लिये उपयोगी अनेक शिक्षायें रहती हैं और इस प्रकार दोनों समय जिन का स्मरण व्यक्ति को अनायास ही होता रहता है। मन्त्र से आहुति देने के पश्चात् यज्ञकर्ता **"इदमग्नये इदन्न मम"** इस प्रकार के वाक्य बोलता है, जिन के द्वारा वह यह भाव प्रकट करता है कि इस आहुति से उपलक्षित मेरा सर्वस्व परमात्मा के लिये है—संसार में उसी की पवित्र इच्छा को पूरा करने के लिये है, धरती पर स्वर्ग स्थापित करने के लिये है। अगर मेरा सर्वस्व इस ऊंचे उद्देश्य के लिये नहीं लग रहा तब तो वह व्यर्थ है और मैं प्रभु के सामने अपराधी हूं। कहिये 'देवयज्ञ' द्वारा इस प्रकार का लोकोपकारी कार्य करने वाला और अपने अन्दर आत्म-त्याग की भावना भरने वाला व्यक्ति राष्ट्रीय उन्नति में सहायता पहुंचायेगा या बाधा ?

'पितृयज्ञ' में यज्ञकर्ता अपने आस-पास रहने वाले अपने माता, पिता, आचार्य आदि पितरों की, बड़ों की, तथा समाज की तरह-तरह से सेवा करते हुए जो लोग वृद्ध हो गए हैं उन पितरों की अन्न-वस्त्रादि के दान द्वारा सत्कार पूर्वक सेवा-शुश्रूषा करता है। इस प्रकार बड़ों का सत्कार और उन की सेवा करने वाला व्यक्ति राष्ट्रीय उन्नति में सहायक होगा या उस में रोड़ा अटकाने वाला बनेगा ?

'अतिथि-यज्ञ' में यज्ञकर्ता अन्न-वस्त्र आदि द्वारा सत्कार पूर्वक संन्यासी आदि उन लोगों की सेवा-शुश्रूषा करता है जिन्होंने परोपकार में ही अपना सारा जीवन लगा रखा है, जो स्थान-स्थान पर घूम कर लोगों को धर्म का, कर्त्तव्य-कर्म का, उपदेश देते फिरते हैं, जिन्होंने सारी धरती को अपना घर और प्राणिमात्र को अपना कुटुम्बी बना रखा है। जब कभी ऐसे अतिथि उस के पास पहुंचते हैं तो यज्ञकर्ता उन का सेवा-सत्कार करता है और उन के चरणों में बैठ कर भिन्न-भिन्न विषयों पर उन से उपदेश ग्रहण करता है। इस प्रकार के लोकोपकारी विद्वान् साधु-संन्यासियों और महात्माओं की सेवा-शुश्रूषा करने और उन से कर्त्तव्यों का उपदेश लेने वाला व्यक्ति राष्ट्रीय उन्नति में रुकावट डालेगा या उस में सहायक होगा ?

'भूतयज्ञ' में यज्ञकर्त्ता कृमि-कीट, पशु-पक्षियों और पाप-रोगियों को भोजन देता है और उन के सुख-आराम की फिक्र करता है। पाप-रोगी कोढ़ी आदि उन भयंकर-रोग पीड़ितों को कहते हैं जो अपनी आजीविका स्वयं कमाने के अयोग्य हो गये हैं। जो लोग अपने आस-पास रहने वाले कृमि-कीट, पशु-पक्षियों और पाप-रोगियों तक के सुख-आराम की चिन्ता करते हैं वे 'भूतयज्ञ' करने वाले लोग राष्ट्रीय उन्नति में सहायता करने वाले व्यक्ति होंगे या उस में

रुकावट डालने वाले ?

इस प्रकार हमने देखा कि वैदिक-धर्म का प्रति दिन किया जाने वाला कर्म-काण्ड (Ritual) भी यज्ञकर्ता को राष्ट्रीय उन्नति में किसी तरह बाधा पहुंचाने वाला नहीं बनाता, प्रत्युत उसे उस कार्य के लिये और अधिक अच्छा आदमी बनाता है।

१२
राष्ट्रोन्नति और आश्रम-व्यवस्था

'वैदिक-धर्म' व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों में और समाज (Society) को चार वर्णों में विभक्त करता है। व्यक्ति और समाज के जीवन की इस व्यवस्था को वर्णाश्रम-व्यवस्था कहते हैं। हम आश्रमों को पहले लेते हैं। ये आश्रम क्रमशः (१) ब्रह्मचर्याश्रम, (२) गृहस्थाश्रम, (३) वानप्रस्थाश्रम और (४) संन्यासाश्रम कहलाते हैं।

'ब्रह्मचर्याश्रम' में कम-से-कम २४ वर्ष की समाप्ति तक बालक को और १६ वर्ष की समाप्ति तक बालिका को अविवाहित रह कर मन, वचन और कर्म द्वारा पूर्ण पवित्रता का जीवन व्यतीत करते हुए अपनी जीवनी शक्ति को—जाग्रत अवस्था की तो बात ही दूर है—कभी स्वप्न में भी जाया न कर के, अपना सारा समय शरीर को बलिष्ठ, सुडौल और सुन्दर बनाने में, दिमाग को विभिन्न विद्याओं से भरने में, और, योग-विधियों द्वारा अपने आत्मा को परमात्मा तक पहुंचने के योग्य बनाने में लगाना होता है। उसे तप और संयम का जीवन बिताना होता है। इस प्रकार अपने विद्यार्थी जीवन में अपने शरीर, मन (दिमाग) और आत्मा को खूब शक्तिशाली और योग्य बना कर युवक और युवतियें संसार में प्रवेश करते हैं। बताइये इस प्रकार का ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करने वाले लोग राष्ट्रिय उन्नति में बाधक होंगे या उसे और अधिक आगे बढ़ाने वाले ?

'गृहस्थाश्रम' में व्यक्ति ब्रह्मचर्य के पीछे विवाहित जीवन व्यतीत करता है। ऊपर कहे गये पंच-महायज्ञ अविकल रूप से इसी आश्रम में करने होते हैं। अन्य आश्रमों में ये यज्ञ सब-के-सब नहीं किये जाते, इन में से कुछ ही किये जाते हैं। इस के अतिरिक्त गृहस्थ अपने और अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिये तथा समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य को ठीक ढंग से पूरा करने के लिये धनोपार्जन करता है। सारी राष्ट्रिय उन्नति होती ही है। विशेष कर इसी आश्रम वालों

के द्वारा, और, उस उन्नति का विशेष उपभोग भी इसी आश्रम वाले लोग करते हैं। इस लिये इस आश्रम और राष्ट्रीय उन्नति के विरोध का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

इस के अनन्तर 'वानप्रस्थ' आश्रम आता है। २५-३० वर्ष तक गृहस्थ का जीवन व्यतीत कर के व्यक्ति इस आश्रम में प्रवेश करता है। इस आश्रम में व्यक्ति ग्रामों और नगरों का निवास छोड़ कर जंगल का आश्रय लेता है। वह नगरों से दूर जंगलों की सुन्दर परिस्थितियों में बने हुए गुरुकुलों और आश्रमों में चला जाता है। गृहस्थ के सांसारिक आराम और सुखों से चित्त हटा कर वह ब्रह्मचर्याश्रम की तरह फिर संयम, तप और सादगी का जीवन व्यतीत करता है। अपना सारा समय ज्ञान-चर्चा और योग-साधन में व्यतीत करता है। इस आश्रम वाले का एक मुख्य कर्त्तव्य यह होता है कि वह गुरुकुलों में समाज के बालकों को अपनी योग्यता के अनुसार शिक्षा दे। यह शिक्षा सर्वथा निःशुल्क दी जायेगी। इस प्रकार इस आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को बाधित रूप से राष्ट्र के बच्चों को शिक्षा देने की सेवा (Compulsory Educational Service) करनी होती है। इस प्रकार सुसंगठित (Well-organised) हुआ यह आश्रम देश के शिक्षा के प्रश्न को सर्वथा हल कर देता है। इस आश्रम से दूसरा भारी लाभ यह होता है कि लोग मृत्यु-पर्यन्त धनोपार्जन के पेशों में नहीं पड़े रहते। वे उस जीवन से उपरत (Retired) हो जाते हैं और नये आने वालों के लिये जगह खाली कर जाते हैं, जिस से रुपया कमाने के लिये प्रतियोगिता (Competition) कम हो जाती है। इस प्रकार यह आश्रम राष्ट्र की बहुत भारी सेवा करता है और उस की उन्नति में बहुत सहायक होता है। उस में बाधा किसी प्रकार नहीं पहुंचाता।

इस के पीछे चौथा 'संन्यास-आश्रम' आता है। जिस ने पहले तीन आश्रमों का जीवन व्यतीत करते हुए अपने आत्मा पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लिया है, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय और शोक आदि मानसिक विकारों और इन्द्रियों के विषयों पर जिस ने पूरी तरह काबू पा लिया है, संसार का मान और अपमान जिस पर कोई प्रभाव नहीं रखते, संसार का कोई भय और कोई प्रलोभन जिसे अपने कर्त्तव्य से डिगा नहीं सकता, प्राणिमात्र के कल्याण की भावनायें जिस के हृदय में स्वाभाविक तौर से हिलारें ले रही होती हैं, जिस का जीवन ईश्वर-परायणता और आध्यात्मिकता के रंग में रंगा होता है, जो सत्य और धर्म का सन्देश संसार के लोगों को सुनाना अपना कर्त्तव्य समझता है, ऐसे सिद्ध पुरुष को ही इस आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार है। जो इस ऊंची स्थिति तक नहीं पहुंच सका है वह वानप्रस्थाश्रम

में आ कर ठहर जाता है और मरण समय तक उसी आश्रम का जीवन व्यतीत करता है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो ब्राह्मण-वर्ण का (स्मरण रहे खाली जन्म का ब्राह्मण नहीं) व्यक्ति ही संन्यासाश्रम में जा सकता है। शास्त्र में ब्राह्मण को ही संन्यासी बनने का अधिकार दिया गया है। संन्यासी का मुख्य कर्तव्य ग्राम-ग्राम और नगर-नगर में भ्रमण करके लोगों को सत्य और धर्म का उपदेश करते रहना है। ये लोग सारी धरती को अपना घर और प्राणिमात्र को अपना कुटुम्बी बना लेते हैं। किसी के प्रति द्वेष और हिंसा के भाव अपने मन में नहीं रखते। सब के कल्याण को हृदय में रख कर उन के भले के लिये ही उन्हें कर्तव्य-कर्म का उपदेश देते फिरते हैं। और इसी कार्य को करते हुए अपने जीवन को समाप्त कर देते हैं। इस प्रकार के ऊंचे ब्रह्मनिष्ठ संन्यासी मरते ही सीधा ब्रह्म की गोद में (मोक्ष में) चले जाते हैं। ये लोग समाज के आचार और अन्तःकरण (Conscience) के रक्षक होते हैं। बताइये किसी देश में इस प्रकार के संन्यासियों का होना राष्ट्रिय उन्नति में बाधक होगा या वे उसे और अधिक उन्नति के मार्ग पर ले जायेंगे ?

राष्ट्रोन्नति और वर्ण-व्यवस्था

हमने अभी कहा है कि वैदिक-धर्म मनुष्य-समाज को चार वर्णो में विभक्त करता है। इन वर्णों के नाम क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। इस विभाग से समाज सैकड़ों जातियों और उपजातियों के अस्वाभाविक और घातक विभाग से बच जाता है। अस्वाभाविक जात-पांत के स्थान में समाज का स्वाभाविक चार विभागों में वर्गीकरण हो जाता है। ब्राह्मण वे लोग हैं जो निःस्वार्थभाव से विद्या की वृद्धि, सत्य न्याय, और धर्म के प्रचार का व्रत ले कर जन्म भर अपनी सारी शक्ति इसी के लिये लगाते रहते हैं। क्षत्रिय वे लोग हैं जो ब्राह्मणों के बताये मार्ग से जाति के लोगों की रक्षा का निःस्वार्थ व्रत ले कर राज्य के, पुलिस, सेना तथा अन्य प्रबन्ध के (Administrative) विभागों में कार्य करते हैं। वैश्य वे लोग हैं जो तरह-तरह के पेशे स्वीकार कर के जाति की धन-सम्पत्ति की वृद्धि करने का निःस्वार्थ व्रत ले लेते हैं। प्रजा का सब से बड़ा—बहुत बड़ा—भाग वैश्य लोग ही होते हैं। इसी आधार पर संस्कृत में प्रजा का एक नाम विश् अर्थात् वैश्य भी है। शूद्र वे लोग हैं जो अवसर दिये जाने पर भी अपनी स्वाभाविक अयोग्यता के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य में से किसी भी वर्ण के धर्मों का पालन करने

योग्य अपने को न बना सके। इन में बुद्धि का सर्वथा अभाव होता है। ये कोई ऐसा पेशा नहीं कर सकते जिस में बुद्धि-चातुर्य का ज़रा भी काम पड़ता हो। ये लोग, अगर अंग्रेजी भाषा का शब्द प्रयुक्त करना हो, अन्स्किल्ड लेबर (Unskilled labour) ही कर सकते हैं, ऐसा श्रम ही कर सकते हैं जिस में चतुर बुद्धि की आवश्यकता न पड़ती हो। महा-मन्द-मति (Dullards) लोगों को शूद्र कहा जाता है। वैदिक-धर्म में चारों वर्णों के लोगों के बालक-बालिकाओं का गुरुकुलों में जा कर ब्रह्मचर्याश्रम का जीवन व्यतीत करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य-आश्रम तैयारी का आश्रम है। इस में बालक आत्म-निरीक्षण करके गुरुओं की सहायता से, अपने लिये चारों में से किसी एक वर्ण का निश्चय कर के जीवन भर उस का पालन करने का व्रत लेता है। और उस वर्ण के धर्म का पालन करने के योग्य अपने को बनाता है। शूद्र का बालक या तो अपने को किसी ऊंचे वर्ण के योग्य बना लेगा अन्यथा ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर गुरु लोगों की सेवा आदि करता हुआ खाली शारीरिक ब्रह्मचर्य का पालन करता रहेगा और कुछ थोड़ा-बहुत सीखता रहेगा। शूद्र लोगों की संख्या राष्ट्र में बहुत ही कम रहेगी। गृहस्थाश्रम में चारों वर्णों के लोग अपने-अपने वर्ण के अनुकूल पेशे करते हैं। वानप्रस्थ-आश्रम में ये लोग गुरुकुलों और आश्रमों में जाकर ब्रह्मचारियों (विद्यार्थियों) को अपने ज्ञान और अनुभवों के आधार पर उस-उस वर्ण के योग्य शिक्षा देते हैं और अपना शेष समय तप और स्वाध्याय में व्यतीत करते हैं। योग्यता न होने के कारण शूद्र विद्यार्थियों को शिक्षा देने का काम तो कर नहीं सकेगा, वह गुरुकुलों के आचार्यों और वानप्रस्थी लोगों की सेवा करता रहेगा और जो कुछ ज्ञान की बात सीख सकेगा सीखता रहेगा। अथवा यह भी हो सकता है कि वानप्रस्थ के धर्मों का पालन करने की योग्यता न होने से वह ग्रामों और नगरों में ही शारीरिक श्रम द्वारा अपनी आजीविका चलाता रहे। पर उसे भी २५-३० वर्ष गृहस्थ का जीवन बिता लेने के पीछे सन्तान उतपादन का कार्य बन्द कर देना होगा। संन्यासाश्रम में केवल ब्राह्मण ही जा सकेगा। क्योंकि इस आश्रम के ऊंचे और कठिन धर्मों का पालन अन्य वर्णों से नहीं हो सकता। वर्णाश्रम-धर्म की विशेष व्याख्या शास्त्रों में देखी जा सकती है। यहां हमने केवल निर्देश मात्र किया है। ये चारों वर्णों वाले लोग अपने-अपने धर्मों का पालन करते हुए अपने को एक ही मनुष्य-समाज का अंग समझेंगे। वेद के **'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'** (यजुः. ३१.११) मन्त्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों को क्रम से मुख, बाहू, उरु और पैर से जो उपमा दी गई है वह ध्यान देने योग्य है।

ये चारों अंग, अलग-अलग होते हुए भी मिल कर एक ही शरीर (Organism) बनाते हैं। एक-दूसरे के कष्ट-क्लेश को एक-दूसरा अनुभव करता है और उसे हटाने की कोशिश करता है। यही सम्बन्ध वर्णों का है। वे मिल कर एक समाज (Social Organism) बनाते हैं। हरेक को एक-दूसरे के कल्याण की चिन्ता रहती है। कोई किसी से द्वेष नहीं कर सकता। वे सभी वेद की आज्ञा मानते हुए प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि "हे प्रभो ! मुझे ब्राह्मणों का, क्षत्रियों का, शूद्रों और वैश्यों का प्यारा बनाइये[1]।" प्रत्येक वैदिक-धर्मी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ने यह प्रार्थना करनी है। प्रति दिन ऐसी प्रार्थना करने वाले चातुर्वर्ण्य के लोग आपस में लड़ नहीं सकते और एक दूसरे का अहित नहीं कर सकते। फिर एक बात और है। ये वर्ण आज-कल की जातियों की तरह वंश-परम्परा में नहीं जाते। इन का नियामक गुण, कर्म और स्वभाव है। एक ब्राह्मण का लड़का ब्राह्मण के गुण, कर्म और स्वभाव न होने पर किसी दूसरे वर्ण के गुण, कर्म और स्वभाव होने की वजह से वर्णेतर में जा सकता है, और, एक शूद्र का लड़का उस-उस वर्ण के गुण, कर्म और स्वभाव होने पर ब्राह्मण तक किसी भी वर्ण को धारण कर सकता है। इस वैदिक-वर्णव्यवस्था में उन्नति के लिये आधारभूत भय और प्रलोभन ये दोनों ही तत्त्व आ जाते हैं। ऊंचे वर्ण वाले तो इस भय से उन्नति करते रहेंगे कि अपने वर्ण के गुण, कर्म और स्वभाव खो देने पर उन्हें निचले वर्णों में धकेल दिया जायगा और शूद्रादि निम्न वर्ण के लोग इस प्रलोभन से उन्नति में लगे रहेंगे कि उस वर्ण के गुण, कर्म और स्वभाव पैदा कर लेने पर वे किसी भी ऊंचे वर्ण में जा सकते हैं। इस प्रकार समाज के सभी श्रेणियों के लोग उन्नति करने में और उसे कामय रखने में लगे रहेंगे। जन्म की वर्ण-व्यवस्था में यह भय और प्रलोभन का तत्त्व नहीं रहता। इसी लिये वह समाज के लिये हानिकारक है। आर्य समाज जिस वैदिक-वर्णव्यवस्था को मानता है उस में यह दोष नहीं है। वहां हरेक के लिये उन्नति का मार्ग खुला हुआ है। और प्राप्त की हुई उन्नति के आधार पर ही हरेक के साथ यथायोग्य बर्ताव किया जाता है।

इस प्रकार की वर्ण-व्यवस्था राष्ट्रय उन्नति में बाधक कैसे हो सकती है ? यह वर्ण-व्यवस्था तो राष्ट्र को उन्नति की चोटी पर ले जायेगी।

---

१. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।। अथर्व. १९.६२.१।

१३
वैदिक-धर्म और अन्य धर्मावलम्बी

यहां एक प्रश्न हो सकता है माना कि वैदिक-धर्म को स्वीकार करने वाले समाज (Society) के सब अङ्गों को परस्पर प्रेम और सहानुभूति से रहने की आज्ञा तुम्हारा धर्म देता है। कोई भी धर्म अपने अनुयायियों की सभी श्रेणियों को प्रेम से मिल कर रहने की हिदायत करेगा। किन्तु एक राष्ट्र में कई धर्मों को मानने वाले लोग भी रह सकते हैं। राष्ट्र में रहने वाले अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति वैदिक-धर्म को मानने वाले लोगों का कैसा दृष्टिकोण रहेगा ? धर्मो का इतिहास तो यह बताता है कि एक धर्म को मानने वाले दूसरे धर्म वालों को तुच्छ, हीन और धिक्कृत समझते हैं—उन्हें धरती पर जीने के योग्य ही नहीं समझते। धर्म वालों की इस मनोवृत्ति के कारण राष्ट्र के लोगों में परस्पर कलह और लड़ाई-झगड़े होते हैं। और इसी लिये धर्म राष्ट्रीय उन्नति में बाधक होते हैं। तुम्हारा वैदिक-धर्म भी क्या ऐसा ही एक धर्म नहीं है ? इस प्रश्न के उत्तर में हमारा यह नम्र निवेदन है कि नहीं, वैदिक-धर्म इस प्रकार का धर्म नहीं है। राष्ट्र में रहने वाले अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति वैदिक-धर्मियों के इस प्रकार के भाव नहीं हैं[1]। इस सम्बन्ध में अथर्ववेद के भूमिसूक्त का, जिसे वेद का राष्ट्रीय गीत कहा जा सकता है, पैंतालीसवां (४५ वां) मन्त्र देखने योग्य है। अभी पीछे एक प्रसंग में हम इस मन्त्र की ओर निर्देश कर चुके हैं। मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—"विविध भाषाओं को बोलने वाले और नाना धर्मो को मानने वाले लोगों को भी अपने राष्ट्र में इस प्रकार प्रेम से मिल कर रहना चाहिये जैसे एक घर के लोग रहा करते हैं, इस प्रकार प्रेम से मिल कर रहने वाले लोगों के लिये राष्ट्र की भूमि सहस्रों प्रकार की सम्पत्ति की धारायें बहा देती है जैसे कि अपनी सेवा करने वाले के लिये दुधारु गाय अपने दूध की धारायें बहा देती है[2] ।" एक घर में रहने वाले लोगों में—पति-पत्नी में, पिता-पुत्र में और भाई-बहिन में—अनेक बार मत-भेद हो जाता है, और ऐसा हो जाना स्वाभाविक है, पर इससे वे एक-दूसरे के शत्रु और जान के प्यासे नहीं हो जाते। उनके इस मत-भेद का—और कभी-कभी कलह

१. अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति वैदिक-धर्म का क्या दृष्टिकोण है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन इसी पुस्तक के 'वैदिक-धर्म और अन्य धर्मावलम्बी' प्रकरण में किया गया है।

२. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।। अथर्व. १२.१.४५।

का—परिणाम होता है अगले दिन और अधिक प्रेम से मिलना। वेद कहता है इसी भाव से राष्ट्र में रहने वाले विभिन्न धर्मावलम्बियों और भाषा-भाषियों को आपस में व्यवहार करना चाहिये। सब अपने-अपने धर्म की खूबियों को युक्ति-प्रमाण-पूर्वक दूसरों के सामने रखें और दूसरों द्वारा की हुई अपने धर्म के विभिन्न अंशों की आलोचनाओं को शान्ति, प्रेम और धैर्य से सुनें। अपनी बुद्धि से परख कर किसी धर्म को स्वीकार करना या न करना प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है। इसे धर्म वालों को स्वीकार करना चाहिये। जब हम व्यक्ति के इस अधिकार को स्वीकार कर लेंगे तो अपने धर्म की आलोचना से चिढ़ेंगे नहीं। तब हमें धर्म सम्बन्धी मत-भेद एक-दूसरे का शत्रु नहीं बनायेगा। तब हम आपस में भारी मत-भेद रखते हुए भी समग्र राष्ट्र के हित के कार्यों में मिल कर एक हो जाया करेंगे, जैसे आपस में मत-भेद रखते हुए भी एक घर के कुटुम्बी कुटुम्ब के हित के लिये मिल कर एक हो जाते हैं। यह है दृष्टिकोण जिसे अन्य धर्मावलम्बियों के सम्बन्ध में धारण करने की वेद अपने अनुयायियों को आज्ञा देता है। राष्ट्र में रहने वाले विभिन्न धर्मों के सम्बन्ध में इस प्रकार का दृष्टिकोण रखने वाला वैदिक-धर्म राष्ट्रीय-उन्नति में बाधक किस प्रकार हो सकता है ?

१४.
आज के नव-शिक्षितों से एक निवेदन

अन्त में हम आर्य जाति के पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित लोगों, विशेषकर नवयुवकों, से एक निवेदन करना चाहते हैं। योरोप के हरेक विचार का हमें आंख मूंद कर अनुकरण नहीं करने लग जाना चाहिये। क्योंकि योरोपियन कम्युनिज़्म (Communism) या साम्यवाद में धर्म को कोसा जाता है। इस लिये हमें भी उसे कोसना चाहिये, यह कोई बुद्धिमत्ता-युक्त बात नहीं है। योरोप के धर्मालोचकों ने किस प्रकार के धर्म की आलोचना की है, वहां के धर्म में कौन सी बुराइयें आ गई थीं, जिन की प्रतिक्रिया स्वरूप वे धर्म और परमात्मा के ही विरुद्ध खड़े हो गये, पहले इन बातों को तो भली-भांति जान लीजिये। और फिर देखिये कि आप के देश में जो धर्म प्रचलित हैं क्या वे सभी इस प्रकार के हैं कि उन्हें धरती पर से मिटा दिया जाना चाहिये, या आप के देश में और आप की जाति के पास ऐसा भी कोई धर्म है जो सब प्रकार के आक्षेपों से ऊपर है और जिस का रहना मनुष्य जाति के लिये महान् कल्याण-कारक है।

यदि आपको अपने देश में इस प्रकार का कोई धर्म मिलता हो तो आप योरोप का अन्धा अनुकरण कर के उस के भी विरोध में क्यों खड़े होते. हैं ? हमारा विश्वास है कि वैदिक-धर्म एक इसी प्रकार का धर्म है।

वैदिक धर्म और उपासना

१.

धर्म का स्वरूप : ईश्वर-विश्वास और उस का जीवन पर प्रभाव

परमात्मा में विश्वास धर्म का आवश्यक अङ्ग है। ईश्वर में विश्वास के आधार पर ही धर्म खड़ा होता है। ईश्वर-विश्वास के बिना धर्म, धर्म नहीं रहेगा[1]। पर यह ईश्वर में विश्वास ऊपर-ऊपर का, सूखा और कोरा शाब्दिक विश्वास नहीं होना चाहिये। यह ईश्वर-विश्वास हृदय की गहराई में बसने वाला, श्रद्धा से सींचा हुआ, मन की भावनाओं में रहने वाला दृढ़ विश्वास होना चाहिये। इस विश्वास का प्रभाव हमारे मन, वचन और कर्म में स्पष्ट दिखाई देना चाहिये। हमारा जीवन इस विश्वास के रङ्ग से रंगा हुआ होना चाहिये जब हम ईश्वर को नहीं मानते थे तब हमारा जैसा जीवन था उस में, और जब हम ईश्वर को मानने लग गये तब हमारा जैसा जीवन बन गया। उस में, स्पष्ट भेद दीखना चाहिये। धर्म को इसी लिये स्वीकार किया जाता है कि उस के स्वीकार करने से हमारे जीवन में परिवर्तन आ जायेगा। धर्म को स्वीकार करने का अर्थ है ईश्वर को स्वीकार करना–ईश्वर में विश्वास रखना। इस लिये ईश्वर-विश्वास का सीधा प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ना चाहिये। उस से हमारे जीवन में परिवर्तन आना चाहिये। ईश्वर में विश्वास रखने से हमें अपने जीवन में कोई लाभ मिलना चाहिये। इस विश्वास के फलस्वरूप हमें कोई ऐसी नई चीज़ मिलनी चाहिये जिसे प्राप्त कर के हम समझें कि हमारा जीवन पहले से भिन्न प्रकार का हो गया है और उस से हमें लाभ पहुंचा है।

ईश्वर-विश्वास से जीवन को प्रभावित करने का उपाय : उपासना

ईश्वर में विश्वास रख कर उस से अपने जीवन को प्रभावित करने का और उस से अपने जीवन के लिये लाभ उठाने का उपाय क्या है ? वह उपाय है–प्रभु की उपासना। सभी धर्मों में ईश्वर की उपासना पर बड़ा बल दिया जाता है। सभी धर्मों में ईश्वरोपासना का बड़ा

१. बौद्ध और जैन आदि जिन धर्मों में ईश्वर को नहीं माना जाता, वहां भी बुद्ध और तीर्थङ्कर आदि अपने गुरुओं का रूप ईश्वर जैसा ही बना दिया जाता है। ईश्वर को मानने वाले लोग जैसी मनोवृत्ति ईश्वर के प्रति रखते हैं, लगभग वैसी ही मनोवृत्ति बौद्ध और जैन लोग बुद्ध और तीर्थङ्करों के प्रति रखते हैं। वही श्रद्धा की वृत्ति और वही भक्ति की भावना। ईश्वर के सृष्टि-रचना के गुण को छोड़कर ईश्वर के शेष प्रायः सभी गुणों को ये लोग अपने इन गुरुओं में मान बैठते हैं।

महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः ईश्वरोपासना को ही धर्म समझा जाता है। हम ने ईश्वर की उपासना कर ली तो समझा जाता है कि हम ने धर्म कर लिया। हम ईश्वर की उपासना करने वाले बन गये तो समझा जाता है कि हम धार्मिक हो गये।

उपासना का प्रचलित स्वरूप

ईश्वर की उपासना का स्वरूप क्या है ? और वह हमें लाभ किस प्रकार पहुंचाती है ? प्रायः सभी धर्मों में प्रभु के गुणों का कीर्तन करना, भगवान् की महिमा को बताने और उन के गुणों की प्रशंसा करने वाले भजनों, श्लोकों और मन्त्रों का पाठ करना, भगवान् के किसी नाम या उन के किसी गुण को बताने वाले किसी वाक्य को बार-बार दोहरा कर उसका जप करना और इस प्रकार प्रभु के गुण-कीर्तन के अनन्तर उनको नमस्कार करना ईश्वरोपासना समझा जाता है। इस उपासना के पश्चात्, प्रभु के इस गुण-कीर्तन के पश्चात्, प्रभु से प्रार्थना की जाती है कि हे प्रभो ! आप तो सदा सब पर कृपा बरसाने वाले हो, मुझ पर भी अपनी कृपा-दृष्टि कीजिये, मेरे अमुक-अमुक कष्टों को दूर कर दीजिये और मुझे अमुक-अमुक फल की प्राप्ति करा दीजिये। समझा यह जाता है कि इस प्रकार भगवान् की उपासना करने से अर्थात् इस प्रकार भगवान को उन की महिमा और गुणों की प्रशंसा सुनाने से भगवान् हम से प्रसन्न हो जाते हैं। और इस प्रकार प्रसन्न किये हुये भगवान् से जब हम अपने कष्टों को दूर करने की तथा अपने कामों में सफलता-प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं तो हमारी भक्ति और उपासना से, हमारे द्वारा की गई अपने गुणों की प्रशंसा को सुन कर, हम से प्रसन्न हुए ये भगवान् हमारे कष्टों को काट देते हैं और कामों में सफलता प्रदान कर देते हैं। इस प्रकार भगवान् को उन के गुणों की प्रशंसा सुना कर प्रसन्न करना उन की उपासना, और उपासना के अनन्तर भगवान् से अपने कष्टों को दूर करने तथा अपने कामों में सफलता प्रदान करने की प्रार्थना को भगवान् से अपने जीवन में लाभ प्राप्त करने का उपाय समझा जाता है। ईश्वर में विश्वास रख कर उससे लाभ उठाने का यही प्रकार प्रायः सब धर्मों में स्वीकार किया जाता है।

हमने भगवान् को अपने जैसा बना लिया है

हम ने अपने भगवान् को अपने जैसा बना रखा है। हम स्वयं जैसे हैं हम ने अपने भगवान् को भी वैसा ही समझ रखा है। हम प्रशंसा और ख़ुशामद को पसन्द करने वाले हैं। हम में यह कमज़ोरी है। यदि कोई हमारी प्रशंसा और ख़ुशामद कर दे तो हम उस से प्रसन्न हो जाते हैं, उसे अच्छा समझने लगते हैं और उस के हक में हो जाते हैं। हम उस के दोषों

और अवगुणों की ओर ध्यान नहीं देते, उधर से हम आंखें मींच लेते हैं। उस की प्रशंसा और खुशामद की रिश्वत से प्रभावित हो कर हम उस का पक्ष करने लगते हैं। योग्य और अधिकारी न होने पर भी हम उसे अन्याय-पूर्ण रीति से लाभ पहुंचाने लगते हैं। हम ने अपने परमात्मा को भी अपने जैसा प्रशंसा और खुशामद को पसन्द करने वाला समझ रखा है। यह खुशामद की रिश्वत से प्रभावित होने की दुर्बलता हमने अपने परमात्मा में भी डाल रखी है। हम समझते हैं कि हमारी प्रशंसा और खुशामद की रिश्वत को पा कर परमात्मा भी हम से प्रसन्न हो जाते हैं, हमें अच्छा समझने लगते हैं और हमारे हक में हो जाते हैं। हमारे दोषों और अवगुणों की ओर ध्यान नहीं देते, उधर से आंखें मींच लेते हैं। हमारी प्रशंसा और खुशामद की रिश्वत से प्रभावित हो कर भगवान् हमारा पक्ष करने लगते हैं। योग्य और अधिकारी न होने पर भी वे हमारे पक्ष में हो कर हमारे कष्टों को काट देते हैं और हमारे कामों में हमें सफलता प्रदान कर देते हैं। भगवान् हमारे आचरण और कर्मों को नहीं देखते, वे तो हमारे द्वारा अपनी प्रशंसा और खुशामद को सुनने के भूखे हैं। जिसने प्रशंसा और खुशामद सुनने की परमात्मा की यह भूख मिटा दी वे उसी के पक्ष में हो जाते हैं और उस के सब दुःखों को काट देते हैं तथा जो कुछ वह मांगता है वह सब उसे दे देते हैं। ऐसा हम ने अपने भगवान् को समझ रखा है।

हम ने उपासना को व्यापार की वस्तु बना रखा है

हम ने परमात्मा की भक्ति और उपासना को व्यापार की, लेन-देन की, सौदे की, चीज़ बना रखा है। मुझे कुर्ता सिलवाने के लिये तीन गज़ कपड़ा चाहिये। दुकानदार को अपनी आवश्यकता की चीज़ें खरीदने के लिये पैसे चाहिये। एक चीज़ की मुझे आवश्यकता है, एक की दुकानदार को। दुकानदार मुझे कपड़ा दे कर मेरी आवश्यकता पूरी कर देता है और मैं बदले में उसे पैसे दे कर उस की आवश्यकता पूरी कर देता हूं। यही बात हमने भक्ति और उपासना के सम्बन्ध में समझ रखी है। भगवान् को अपनी प्रशंसा और खुशामद चाहिये। मुझे अपने दुःखों से छुटकारा और कामों में सफलता चाहिये। एक चीज़ की भगवान् को ज़रूरत है और एक की मुझे। मैं भगवान् के गुण गा कर उन की ज़रूरत पूरी कर देता हूं और बदले में भगवान् मेरे कष्टों को काट कर तथा मुझे मेरे कामों में सफलता दे कर मेरी ज़रूरत पूरी कर देते हैं। ऐसी सौदे और व्यापार की वस्तु हम ने भगवान् की भक्ति को बना रखा है।

२.
भगवान् अपनी प्रशंसा के भूखे नहीं हैं

भगवान् इस प्रकार के अपनी प्रशंसा और खुशामद को पसन्द करने वाले नहीं हैं और भक्ति इस प्रकार की सौदे और व्यापार की वस्तु नहीं है।

वैदिक-धर्म में परमात्मा को आप्त-काम और पूर्णकाम माना जाता है। परमात्मा में कोई ऐसी कामना नहीं है जो पूर्ण नहीं हुई है, और जिसे उन्होंने पूरा करना है। उन की सब कामनायें सदा से स्वभाव से ही पूर्ण हैं। उन्हें कुछ भी नहीं चाहिये। उन्हें कोई कमी अनुभव नहीं होती। इस लिये उनमें कोई भी कामना नहीं है। इसी लिये वैदिक-धर्म में परमात्मा को अकाम भी कहा जाता है। परमात्मा के ये आप्त-काम, पूर्ण काम और अकाम नाम एक ही बात को कहते हैं। क्योंकि परमात्मा की सभी कामनायें सदा से स्वभाव से ही पूर्ण हैं इसी लिये तो वे अकाम हैं--कामनाओं से रहित हैं। और क्योंकि वे अकाम हैं, कामनाओं से रहित हैं, इसी लिये तो वे आप्तकाम और पूर्णकाम हैं। उन की सब कामनायें पूर्ण हैं, उन्हें कुछ भी नहीं चाहिये। अथर्ववेद में भगवान् के सम्बन्ध में कहा है--"वे प्रभु अकाम[1] हैं--सारी कामनाओं से रहित हैं, उन्हें अपने लिये किसी भी वस्तु को प्राप्त नहीं करना है; वे धीर हैं--संसार के किसी भी परिवर्तन से उनमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता, सदा एक-रस रहते हैं, अपनी समावस्था को नहीं खोते; वे अमृत हैं--मृत्यु से रहित हैं; वे स्वयंभू हैं--अपनी सत्ता का हेतु स्वयं ही हैं, उनकी सत्ता में और कोई कारण नहीं, उन्हें किसी ने नहीं बनाया है, वे सदा से स्वयं ही चले आ रहे हैं; वे रस से अर्थात् आनन्द से तृप्त हैं, परिपूर्ण हैं; वे कहीं से भी किसी प्रकार की कमी वाले नहीं हैं।" इस प्रकार के आनन्द से तृप्त और परिपूर्ण, सब प्रकार की कमियों से रहित अकाम परमात्मा को अपने लिये किसी भी वस्तु की इच्छा और आवश्यकता नहीं है। उन्हें अपनी प्रशंसा और खुशामद सुनने की भी इच्छा नहीं है। उन्हें कुछ भी नहीं चाहिये। अपनी प्रशंसा और गुणावली का गान भी नहीं चाहिये।

हमें अपने किये का फल अवश्य भोगना पड़ता है

इस लिये हमारे मुख से अपनी प्रशंसा सुन कर भगवान् के प्रसन्न होने और प्रसन्न हो कर हमारे दुःखों को काट देने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वैदिक-धर्म के अनुसार

१. अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। अथर्व. १०.८.४४।
यह सारा मन्त्र और उसकी विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' में देखिये।

मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। हमारे शुभ कर्मों का फल सुख होता है और अशुभ कर्मों का फल दुःख होता है। हम जैसा करेंगे वैसा भरेंगे। हमारे ऋषियों ने कहा है—"हमें अपने अच्छे और बुरे कर्मों का फल सुख और दुःख भोगना ही पड़ता है[1]।" "कर्म का फल जब तक भोग न लिया जाये तब तक वह सौ करोड़ कल्पों में भी क्षीण नहीं होता है[2]।" स्वयं वेद भगवान् में कहा गया है—"मनुष्य जैसा पकाता है, जैसा करता है, वह पकाने वाले को, करने वाले को, वैसा ही प्राप्त होता है[3]।" भाव यह है कि हम जैसा करते हैं वैसा भरते हैं। वेद में अन्यत्र कहा है—"हे वरणीय प्रभो ! (वरुण) असत्यवादी को तुम्हारे पाश बांध लेवें और सत्यवादी को छोड़ देवें[4]।" और कहा है—"मनुष्यों को पहिचानने वाले हे वरणीय प्रभो ! (वरुण) अनृतवाणी वाला झूठा व्यक्ति तुम्हारे पाशों से छूट नहीं पाता है[5]।" अन्यत्र कहा है—"राजा वरुण सब लोगों के सत्य और झूठ को भली-भांति देखते हुए सब के बीच में चल रहे हैं[6]।" राजा वरुण सब के बीच में हैं, सब के हृदयों में हैं, और सब के झूठ और सच को भली-भांति देख रहे हैं, असत्यवादी को उन के पाश बांध लेते हैं और सत्यवादी को छोड़ देते हैं। वेद के इन कथनों का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि हमें हमारे पुण्य और पाप-कर्मों का फल सुख और दुःख मिल कर ही रहता है। उससे छुटकारा नहीं है।

इस प्रकार वैदिक-धर्म के अनुसार मनुष्य को अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। परमात्मा हमारे मुख से अपनी प्रशंसा के गीत सुन कर हमारे पक्ष में नहीं हो जाते और हम पर कृपा कर के हमारे दुःखों को नहीं काटते। वे तो हमारे द्वारा की गई अपनी प्रशंसा की ओर ध्यान न दे कर हमारे आचरणों को देखते हैं और हमारे शुभाशुभ आचरणों के अनुसार ही हमें सुख या दुःख देते हैं। सौदे और व्यापार की मनोवृत्ति से की गई हमारी भक्ति से वे कभी प्रभावित नहीं होते।

---

१. अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

२. नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

३. पक्तारं पक्वः पुनराविशाति। अथर्व. १२.३.४८।

४. सिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु। अथर्व. ४.१६.६।

५. मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः। अथर्व. ४.१६.७।
जिस सूक्त (अथर्व. ४.१६) के ये दोनों मन्त्र खण्ड हैं उस की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वरुण की नौका' में देखिये।

६. राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्। अथर्व. १.३३.२।

मनुष्य जाति के इतिहास की साक्षी

वैदिक-धर्म के इस मन्तव्य की पुष्टि मनुष्य जाति के आज तक के इतिहास में भी होती है। मनुष्य के वैयक्तिक और जातीय जीवन के इतिहास पर दृष्टि डालने से हमें पता लगता है कि भगवान् इस प्रकार हमारे मुख से अपनी स्तुति सुन कर खुशामद-पसन्द मनुष्य की भांति खुश हो कर हमारे दुःखों को कभी नहीं काटते। वर्तमान और पुराने इतिहास में हम देखते हैं कि भक्ति करने वाले पुरुषों के जीवन में उसी प्रकार भांति-भांति के कष्ट और क्लेश आते रहते हैं जिस प्रकार भक्ति न करने वाले नास्तिक लोगों के जीवन में आते रहते हैं। उन्हें भी बीमारी, मृत्यु, काम-काज में घाटा, लड़ाई-झगड़े, प्रिय परिजनों का वियोग, आग, अतिवृष्टि और अनावृष्टि, अकाल, मानापमान, मुकदमेबाज़ी आदि से मिलने वाले कष्ट और क्लेश उसी प्रकार प्राप्त होते रहते हैं जिस प्रकार भक्ति न करने वाले लोगों को प्राप्त होते रहते हैं। महाराज हरिश्चन्द्र और महाराज रामचन्द्र जी जैसे आस्तिक-शिरोमणि लोगों के जीवन में भी भांति-भांति के कष्ट आते रहे हैं। बड़े-बड़े धर्म-प्रचारक गुरुओं और महात्माओं के जीवन में भी तरह-तरह के दुःख आते रहे हैं।

इस प्रकार की भक्ति करने वाली, धार्मिक कही जाने वाली जातियों के जीवन में भी हम देखते हैं कि उन्हें उसी प्रकार भांति-भांति के कष्ट-क्लेश होते रहते हैं जिस प्रकार दूसरी जातियों को होते रहते हैं। भारत वर्ष की हिन्दू जाति बड़ी धर्मप्राण जाति समझी जाती है। हिन्दू लोग बड़े भक्तिशील हैं। नगरों की गली-गली में हिन्दुओं के मन्दिर हैं और नगर-नगर में उनके तीर्थ-स्थान हैं। मन्दिरों को निर्माण और मन्दिरों में प्रतिष्ठापित देवताओं की मूर्तियों की सजावट पर हिन्दू लोग लाखों और करोड़ों रुपये खर्च कर देते हैं। हिन्दुओं के सोमनाथ के मन्दिर की वैभव, सम्पत्ति और सजावट की कहानी तो इतिहास-प्रसिद्ध है। उस मन्दिर के घण्टे दो सौ दो सौ मन की सोने की जंजीरों पर लटका करते थे और उस की मूर्ति पर करोड़ों रुपये की कीमत के मणि-माणिक्य जड़े हुए थे। आज भी हिन्दू लोग अपने मन्दिरों और उन में के देवताओं की मूर्तियों की सजावट पर बहुत भारी खर्च करते हैं। और इन मन्दिरों में जा कर बड़ी श्रद्धा से अपने देवताओं के आगे नत-मस्तक हो कर उन की भक्ति और उपसाना करते हैं। पर यह सब कर के भी क्या हिन्दू-जाति जीवन में आने वाले भाँति-भाँति के कष्ट-क्लेशों से बची रह सकी ? और कष्टों की बात तो जाने दीजिये, पिछले लगभग हज़ार वर्ष हिन्दू जाति पराधीन रही है। पहले मुसलमानों के और फिर अंग्रेजों के। इस पराधीनता की अवस्था में हिंदू जाति

को जो कष्ट भोगने पड़े हैं उन्हें इतिहास पढ़ने वाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है। उन्हें यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार मुसलमानों को लीजिये। मुसलमानों की धर्म की कट्टरता तो हिन्दुओं से भी कहीं बढ़ी-चढ़ी है। प्रत्येक मुसलमान बड़ी श्रद्धा और आस्था के साथ दिन में पाँच बार नमाज पढ़ता है। पर क्या प्रति दिन श्रद्धा-पूर्वक पढ़ी गई पांच बार की नमाज ने उन की रक्षा कर ली ? भारतवर्ष के मुसलमान लगभग दो सौ साल तक हिन्दुओं की भांति ही अंग्रेज़ों के गुलाम रहे हैं। इस गुलामी के कारण मुसलमानों को भी हिन्दुओं की तरह ही तरह-तरह के कष्ट भोगने पड़े हैं। इतिहास में एक समय ऐसा रहा है जब कि धरती के प्रत्येक मुसलमानी देश पर योरोप की किसी-न-किसी राष्ट्र का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभुत्व रहा है। संसार-भर के मुसलमानों की इस गुलामी और उस से मिलने वाले कष्टों से उन की पांच बार की नमाज रक्षा नहीं कर सकी।

यदि यह बात सत्य होती कि दुःख घटाने की नीयत से की हुई भगवान् की स्तुति से प्रसन्न हो कर भगवान् भक्तों के दुःख काट दिया करते हैं तो इतिहास में हमें ऐसी भक्ति करने वाले व्यक्तियों और जातियों के जीवन में कभी दुःख नहीं दीखना चाहिये था।

परमात्मा की उलझन

यहां एक बात और देखने की है। यदि परमात्मा हमारी स्तुति से प्रसन्न हो कर हमारे पक्ष में हो जाया करें और हमारे पक्ष की बातें करने लगें तो परमात्मा के लिये ऐसी उलझन पैदा हो जाये कि उस में से निकलने का उपाय स्वयं परमात्मा को भी न सूझे। न्यायालय में दो व्यक्तियों का अभियोग चल रहा है। दोनों ईश्वर-भक्त हैं। दोनों ईश्वर से अपने-अपने जीतने की प्रार्थना करते हैं। अब परमात्मा दोनों में से किस को विजय दिलाये ? अंग्रेज़ों और जर्मनों के पिछले दोनों महायुद्धों में इन दोनों देशों और उन के साथी देशों की सरकारों ने अपनी प्रजाओं को हिदायत दी थी कि वे अपने पक्ष की विजय के लिये अपने मन्दिरों में परमात्मा से प्रार्थना करें। दोनों पक्षों के देशों के मन्दिरों में ऐसी प्रार्थनायें की गई थीं। अब परमात्मा क्या करता ? वह अंग्रेज़ों के पक्ष को विजय दिलाता या जर्मनों के पक्ष को ? स्पष्ट है कि परमात्मा हमारी इस प्रकार की प्रार्थनाओं से हमारे पक्ष में नहीं हो सकते। वे तो हमारे चरित्र और कर्म देखते हैं। और उनके अनुसार ही हमें फल देते हैं।

३.

उपासना का सही प्रयोजन : प्रभु की संगति

तब क्या हमें भगवान् की भक्ति और उपासना नहीं करनी चाहिये? क्या वैदिक-धर्म प्रभु-भक्ति का उपदेश नहीं देता है ? हमें भगवान् की भक्ति और उपासना अवश्य करनी चाहिये। वैदिक-धर्म में प्रभु-भक्ति का बड़ा उपदेश दिया गया है। परमात्मा को मानने से हमें जो लाभ मिल सकता है वह भक्ति और उपासना के द्वारा ही मिल सकता है। पर उपासना का प्रयोजन वास्तव में क्या है, वह हमें लाभ किस प्रकार पहुंचाती है, इसे भली-भांति समझ लेना चाहिये।

उपासना के प्रयोजन पर स्वयं उपासना शब्द बड़ा सुन्दर प्रकाश डाल देता है। उपासना शब्द संस्कृत के 'उप' और 'आसना' इन दो शब्दों से मिल कर बना है। 'उप' का अर्थ होता है समीप और 'आसना' का अर्थ होता है बैठना। इस प्रकार उपासना का शब्दार्थ है--समीप बैठना, संगति में बैठना। उपासना के द्वारा हमें भगवान् के समीप, उन की संगति में, बैठना होता है। संगति का जो लाभ है वही लाभ उपासना का है।

संगति का प्रभाव

संगति का प्रभाव कितना भारी होता है, वह जीवन में किस प्रकार आमूल-चूल परिवर्तन कर देने की शक्ति रखती है, इस सम्बन्ध में यहां विस्तार से कहने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति संगति के प्रभाव को जानता है।

किसी बालक और बालिका को सच्चरित्र और निर्दोष मित्रों और सखी-सहेलियों की संगति में रहने दीजिये वे सच्चरित्र और निर्दोष बने रहेंगे। उन्हें ही साल-छः महीने के लिये दुश्चरित्र और दुष्ट मित्रों और सखी-सहेलियों की संगति में रख दीजिये वे भी दुश्चरित्र और दुष्ट बन जायेंगे। आप किसी बालक या युवक में जो गुण पैदा करना चाहते हैं उसी गुण वाले लोगों की संगति में उसे रख दीजिये, वह उसी गुण का धनी बन जायेगा। और यदि कोई अवगुण उसमें डालना चाहते हैं तो उसी अवगुण वाले लोगों की संगति में उसे रहने दीजिये, वह उस अवगुण या बुराई का पण्डित बन कर आप के पास आयेगा।

हमारे घरों में पैदा होने वाले नन्हे-नन्हे बच्चे शुरू में कुछ भी नहीं जानते होते। उन्हें घर के तथा पास-पड़ोस के लोगों की संगति प्राप्त होने लगती है। कुछ अरसे में इस संगति का यह प्रभाव होता है कि वे बच्चे हमारे जैसी भाषा बोलने लगते हैं और हमारे जैसी ही

उन की अच्छी और बुरी आदतें बन जाती हैं। घर और पास-पड़ोस के लोगों के अनन्तर उन्हें गली-मुहल्ले के लोगों की संगति मिलने लगती है, फिर नगर के दूसरे लोगों की संगति मिलने लगती है, विद्यालय में अध्यापकों और सहपाठियों की संगति मिलने लगती है, मोटरों और रेलों में यात्रा करते समय दूर-दूर के लोगों की संगति मिलने लगती है। पुस्तकों, समाचारपत्रों, खेल-तमाशों आदि के रूप में उन्हें और भी अनेक प्रकार की संगति मिलने लगती है। इस सारी संगति का परिणाम यह होता है कि जब वे बच्चे बड़े हो कर घर की ज़िम्मवारियों को संभालने वाले बनते हैं तो वे हूबहू अपने से पहली पीढ़ी वाले नागरिकों जैसे बने हुए होते हैं—उन्हीं जैसी अच्छी और बुरी आदतों वाले। यह है संगति का प्रभाव !

हम सब में अच्छा बनने की इच्छा रहती है

प्रत्येक नर-नारी में अच्छा बनने की स्वाभाविक इच्छा है। हम सब को सच्चरित्रता और गुणों की उच्चता पसन्द आती है। हम सभी सच्चरित्र और गुणी बनना चाहते हैं। यदि हम में कोई बुराई होती है जिसे हम नहीं छोड़ पाते, तो भी हम अन्दर ही अन्दर अपनी उस बुराई को नापसन्द करते हैं। हम अपनी उस बुराई को अपने बच्चों में नहीं आने देना चाहते। शराबी अपने बच्चे को शराबी बनाना नहीं चाहता। वेश्या, बस चले तो, अपनी कन्या को वेश्या नहीं बनने देगी। यही बात अन्य बुराइयों के सम्बन्ध में भी है। स्वभाव से हम अपना और अपनी सन्तानों का बुरा हो जाना पसन्द नहीं करते। हमारी स्वाभाविक इच्छा तो सब दोषों से रहित पूर्ण, निर्मल, निष्कलङ्क चरित्र वाले और सब गुणों का आगार बनने की रहती है।

हमें संसार में पूर्ण श्रेष्ठ संगति नहीं मिल सकती

परन्तु हम कैसे बनेंगे यह तो इस बात पर निर्भर करता है कि हमें संगति कैसी प्राप्त होती है। हमें अपने दैनिक सांसारिक जीवन में तो ऐसे लोगों की संगति प्राप्त नहीं हो पाती जो सब दोषों से रहित पूर्ण पवित्र जीवन वाले हों। पहले तो ऐसे सब दोषों से रहित पूर्ण पवित्र जीवन वाले पुरुषों का संसार में प्रायः अभाव रहता है। फिर यदि कभी-कभी ऐसे महापुरुष उत्पन्न भी हो जाते हैं जिन के जीवन में दोषों का बहुत अधिक अभाव रहता है और जो पवित्रता की बहुत ऊंची कोटि में पहुंचे हुए होते हैं, तो उस अवस्था में कठिनाई यह रहती है कि ऐसे महापुरुषों की संगति सब को नहीं प्राप्त हो सकती और जिन्हें कभी प्राप्त भी हो

जाती है उन्हें सदा प्राप्त नहीं रहती है। भगवान् राम और कृष्ण की, महात्मा बुद्ध और शङ्कर की, ऋषि दयानन्द और महात्मा गांधी जैसे महापुरुषों की संगति उन के काल के सब लोगों को प्राप्त नहीं हो सकती और जिन्हें सौभाग्य से कभी प्राप्त भी हो जाती है उन्हें सदा प्राप्त नहीं रह सकती। ऐसे श्रेष्ठ महापुरुषों की संगति कुछ लोगों को कुछ काल के लिये ही प्राप्त हो सकती है।

साधारणतया हमें बुरी संगति ही मिलती है

अधिकांश में तो हम सब सांसारिक लोगों को आपस में अपने जैसे सांसारिक लोगों की संगति ही प्राप्त होती है। हम सभी सांसारिक लोग अच्छाइयों और बुराइयों के मिश्रण हैं। और हमारा दौर्भाग्य यह है कि प्रायः हम में अच्छाइयें कम तथा बुराइयें अधिक रहती हैं। हम सांसारिक लोगों में बुराइयें कितनी अधिक हैं इसे जानने के लिये किसी दूसरे की ओर अंगुलि उठा कर दिखाने की आवश्यकता नहीं है कि देखो ! तुम में यह दोष है और यह दोष है। हम में से हर कोई अपनी आंखें बन्द कर के अपने हृदय की पड़ताल कर ले, हमें पता लग जायेगा कि हम में कितनी बुराइयें हैं। हमें पता लगेगा कि काम हम में है, क्रोध हम में है, ईर्ष्या और द्वेष हम में है, लोभ हम में है, आलस्य हम में है, निन्दा-चुगली हम में है, हिंसा हम में है, अन्याय और झूठ हम में है। कौन सा दोष है जो हम में नहीं है ? ऐसे अच्छाई और बुराई के मिश्रण, जिन में अच्छाई कम और बुराई अधिक है, हम सांसारिक लोगों की संगति आपस में एक दूसरे को मिलती है। इस संगति का परिणाम यह होता है कि हम सभी अच्छाई और बुराई का मिश्रण बने रहते हैं—ऐसा मिश्रण जिस में प्रायः अच्छाई बहुत कम रहती है और बुराई बहुत अधिक। हमारे जीवन में बुराई रहने का परिणाम यह होता है कि हमारे आचरण और कर्म अशुभ रहते हैं। और अपने इन अशुभ कर्मों का फल भगवान् की न्याय-व्यवस्था के अनुसार हमें भांति-भांति के कष्ट-क्लेशों के रूप में भोगते रहना पड़ता है। हमारी इन बुराइयों और अशुभ कर्मों के कारण हमारे वैयक्तिक जीवन भी भांति-भांति के दुःखों से पीड़ित रहते हैं और हमारे राष्ट्र भी क्लेशित रहते हैं। इन अपने अशुभ और निन्दित आचरणों के कारण न हम वैयक्तिक रूप में ऊंचा उठ पाते हैं और न ही अपने राष्ट्रों को उन्नत कर पाते हैं।

उपासना द्वारा प्रभु की पूर्ण श्रेष्ठ संगति प्राप्त होती है

तब हमें ऐसी संगति कहां से प्राप्त हो जो हमें सब प्रकार के दोषों से रहित कर के पूर्ण पवित्रता की ओर ले जाने वाली हो ? जो हमारी पूर्ण निर्दोष और सच्चरित्र बनने की स्वाभाविक

इच्छा की पूर्ति में सहायता करने वाली हो ? यह पवित्र करने वाली संगति हमें भगवान् की उपासना द्वारा प्राप्त होती है। परमात्मा एक ऐसी सत्ता हैं जिन में सब गुण ही गुण हैं, जिन में दोष कोई भी नहीं है। और ये गुण भगवान् में इतनी अधिक मात्रा में हैं कि वहां इन गुणों की पराकाष्ठा हो गई है--हद हो गई है। भगवान् में सत्य है और पराकाष्ठा का सत्य है, न्याय है और पराकाष्ठा का न्याय है, दया है और पराकाष्ठा की दया है, संयम है और पराकाष्ठा का संयम है, ज्ञान है और पराकाष्ठा का ज्ञान है, बल है और पराकाष्ठा का बल है, नियम में बंध कर चलने-चलाने का गुण है और यह गुण पराकाष्ठा का है। भगवान् में और भी अनन्त गुण हैं और उनके ये गुण पराकाष्ठा तक, सीमा तक, पहुंचे हुए हैं। उपासना के समय उपासक अपने मन की आंखों से इन गुणागार भगवान् के स्वरूप को देखता और उस का चिंतन करता है। वह अपने विचार द्वारा देखता है कि उस के उपास्यदेव परमात्मा विश्व-भर में व्याप रहे हैं, वह विचार द्वारा अनुभव करता है कि वे गुणों के महानिधि भगवान् उसके अपने भीतर भी हैं और बाहर भी हैं, उसके आगे भी हैं और पीछे भी हैं, उसके दायें भी हैं और बायें भी हैं, उसके ऊपर भी हैं और नीचे भी हैं, उस के अणु-अणु में रमे हुए हैं--उस के आत्मा में ओत-प्रोत हैं। और विश्वात्मा, इन मेरे प्रभु, के गुण ? उनके गुणों की तो कथा ही क्या है। वे तो गुणों के महा-समुद्र हैं जिसमें का एक-एक गुण अथाह और असीम है। उपासक इस प्रकार उपासना के समय भगवान् के गुणों के और उनकी महिमा के चिन्तन में तल्लीन हो जाता है। उपासना के समय का यह भगवान् के गुणों का चिन्तन उपासक को मानसिक रूप में भगवान् के समीप ला बैठाता है। अपने मन द्वारा वह भगवान् की संगति में जा बैठता है। प्रभु की इस संगति का प्रभाव उपासक के चरित्र पर पड़ता है। भगवान् के गुण उस में आने लगते हैं। वह भी भगवान् जैसा गुणशाली और पवित्र बनने लगता है।

४.

प्रभु-भक्ति का अर्थ : प्रेम में भर कर प्रभु के गुण गाना

उपासना के लिये प्रयुक्त होने वाला दूसरा शब्द संस्कृत में भक्ति है। भक्ति शब्द का अर्थ भी इस बात पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालता है कि परमात्मा की उपासना हमें किस प्रकार लाभ पहुंचाती है। भक्ति का अर्थ होता है प्रेम में भर कर प्रभु के गुण गाना। हमें प्रेम में भर कर प्रभु की स्तुति करनी चाहिये--प्रेम में भर कर उसके गुणों का गान करना चाहिये।

इस प्रकार के उपदेशों से वेद भरा पड़ा है[1]। प्रेम में भर कर किया हुआ प्रभु के गुणों का गान उपासक को किस प्रकार लाभ पहुंचाता है इसे समझने के लिये प्रेम में स्वरूप पर थोड़ा सा विचार कर लेना चाहिये।

प्रेम का स्वरूप

प्रेम हमारे मन की जिस वृत्ति को बताता है उसका विश्लेषण करने पर हमें प्रेम के स्वरूप में पांच बातें दिखाई देती हैं। प्रेम का यह स्वभाव है कि (१) हम जिस से प्रेम करते हैं उसमें हमें नये-नये गुण दिखाई देने लगते हैं, (२) नये-नये गुण दीखने के कारण अपने प्रेमपात्र में हमारा प्रेम और गहरा हो जाता है, और इस बढ़े हुए प्रेम के कारण हमें प्रेमपात्र में और अधिक गुण दीखने लगते हैं, इस से हमारा प्रेम उस में और बढ़ जाता है, यह प्रक्रिया उत्तरोत्तर बढ़ती जाती, (३) हम जिस से प्रेम करते हैं हम सदा उस के पास रहना चाहते हैं, उस से अलग होने में हमें दुःख अनुभव होता है, (४) जिस से हम प्रेम करते हैं उस का अनुकरण कर के हम उस जैसा बन जाना चाहते हैं, और (५) हमारे मन में जितनी देर तक प्रेम की वृत्ति जागी रहती है उतनी देर तक हम संसार की चिन्ताओं और दुःख-क्लेशों से दूर हो कर सुख में रहते हैं।

प्रेम चाहे उत्कृष्ट कोटि का हो चाहे निकृष्ट कोटि का, सब प्रकार के प्रेम में ये पांचों तत्त्व पाये जायेंगे। पाठशाला में कन्यायें पढ़ती हैं। एक कन्या के मन में किसी दूसरी कन्या के प्रति प्रेम जाग्रत होता है, वह उसे अपनी सहेली बना लेती है। अब इस प्रेम करने वाली पहली कन्या के मन की अवस्था देखिये। उसे अपनी यह सहेली बड़ी अच्छी—बड़ी गुणवती दीखती है। अपनी सहेली के इस निरन्तर दीखने वाले अच्छेपन के कारण उसका प्रेम सहेली के प्रति उत्तरोत्तर गहरा होता जाता है। वह इस प्रेम के कारण सदा अपनी सहेली के पास ही रहना चाहती है, स्कूल में भी उसके साथ एक ही बेंच पर उसके साथ बिलकुल सट कर, बिल्कुल जुड़ कर, बैठना चाहती है। यदि अध्यापिका उन्हें अलग-अलग बिठा देती है तो उसे दुःख अनुभव होता है। वह अपनी सहेली का अनुकरण कर के बिलकुल उस जैसी ही बन जाना चाहती है। वैसी ही चूड़ियें पहनती है, वैसा ही सलवार-कमीज़ और वैसा ही धोती-जम्पर

१. वेद में प्रभु की भक्ति-उपासना के सम्बन्ध में किसी प्रकार के ऊंचे उपदेश हैं, यह जानने के लिये पाठकों को हमारी पुस्तक 'वरुण की नौका' तथा हमारी पुस्तक 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' का उपासना-खण्ड पढ़ना चाहिये।

पहनती है, वैसे ही बाल बनाती है, वैसा ही बस्ता रखती है और वैसी ही स्लेट लेती है। वह सब तरह से अपनी सहेली जैसा बन जाना चाहती है। उस का बस चले तो वह अपनी सहेली से बिलकुल भी अलग न रहे, उस में तन्मय हो कर उस के साथ एक-रूप हो जाये। उस के साथ वह दो-शरीर एक-जान तो हो ही जाती है। जिस समय उस के मन में अपनी सहेली के लिये प्रेम की भावना प्रदीप्त रूप में जागी हुई होती है और वह अपनी सहेली के पास बैठी हुई होती है उस समय वह बड़ा सुख अनुभव कर रही होती है। उस समय संसार की कोई चिन्ता और कोई कष्ट-क्लेश उसके पास नहीं फटक रहा होता। उस समय वह सखी-प्रेम में विभोर हो कर आनन्द में डूब रही होती है। विद्यालय में पढ़ने वाला एक विद्यार्थी जब किसी दूसरे विद्यार्थी के प्रति आकृष्ट हो कर उस से प्रेम करने लगता है और उसे अपना भाई और मित्र बना लेता है तो उस के मन की भी यही अवस्था होती है।

यह तो हुई दो सहेलियों और दो मित्रों के स्वच्छ प्रेम की बात। जब प्रेम निकृष्ट श्रेणी का होता है तब भी प्रेम करने वाले की यही अवस्था होती है। कहते हैं लखनऊ के नवाब वाजिदअलीशाह अपने यौवन में बड़े बहादुर और वीर पुरुष थे। परन्तु कुसंगति में पड़ कर उन्हें स्त्रियों से बहुत प्रेम रहने लगा। पुरुष का नारी के प्रति प्रेम बुरी वस्तु नहीं है। हमारा अपनी माता, बहिन, पत्नी और पुत्री के प्रति रहने वाला प्रेम हमारे लिये संसार को स्वर्ग बना देता है। इस प्रेम के कारण ही यह संसार रहने लायक बनता है। नर का नारी के प्रति इस प्रकार का सीमा में रहने वाला प्रेम तो बड़ी चाहने योग्य वस्तु है। परन्तु वाजिदअलीशाह का स्त्रियों के प्रति प्रेम सीमा को लांघ गया था। एक समय आया जब वाजिदअलीशाह को स्त्रियें इतनी अधिक अच्छी लगने लगीं कि उसे अपना पुरुष होना पसन्द नहीं आता था। वह पुरुष न रह कर स्त्री बन जाना चाहता था। पर भगवान् ने तो उसे दुनिया में पुरुष बना कर भेजा था। वह स्त्री कैसे बन सकता था ? पर उस की तो स्त्री बन जाने की प्रबल इच्छा थी। अपनी इस इच्छा को चरितार्थ करने के लिये उसने स्त्रियों का वेश पहिन कर रहना शुरू कर दिया। यही नहीं, स्त्रियों को जिस प्रकार महीने में चार दिन मासिक आता है, और वे तज्जन्य दुर्बलता आदि के कारण उन दिनों में कोई काम नहीं करतीं, एकान्त में बैठी रह कर विश्राम करती हैं, उसी प्रकार नवाब साहब भी महीने में चार दिन एकान्त में बैठे रह कर विश्राम किया करते थे और कहा करते थे कि उन्हें उन दिनों में मासिक आ रहा है ! बात यहीं तक नहीं रही। स्त्रियें जिस प्रकार गर्भवती हो जाती हैं और उस के कारण जैसे वे विशेष सावधानी से

रहती हैं और कोई विशेष परिश्रम का काम नहीं करतीं, उसी प्रकार नवाब साहब भी बीच-बीच में कहा करते थे कि आजकल उन के गर्भ रहा हुआ हैं और वे उन दिनों में गर्भवती की तरह का ही जीवन व्यतीत किया करते थे। कहते हैं जब अंग्रेज़ों ने लखनऊ पर आक्रमण किया तब नवाब वाजिदअलीशाह के आठ-नौ महीने का गर्भ था। भला जिसे आठ-नौ महीने का गर्भ हो वह शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित हो कर घोड़े पर चढ़ कर रण-क्षेत्र में थोड़े ही जा सकती है। सो नवाब साहब भी अंग्रेजों से लड़ने के लिये रण-क्षेत्र में नहीं गये। और अवध की नवाबी अंग्रेज़ी इलाके में मिल गई। नवाब वाजिदअलीशाह का यह उदाहरण यद्यपि निकृष्ट प्रेम का उदाहरण है तथापि यह बात सिद्ध करने के लिए यह उदाहरण बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि प्रेम करने वाला अपने प्रेम-पात्र का अनुकरण कर के उस जैसा बनना चाहा करता है।

प्रभु-भक्ति के प्रेम का उपासक पर प्रभाव

उपासना के समय का प्रभु-भक्ति का प्रेम बहुत सात्विक और उत्कृष्ट कोटि का प्रेम है। इस प्रेम के समय भी उपासक के मन की अवस्था उसी प्रकार की हो जाती है। जिस का ऊपर वर्णन किया गया है। उपदेशकों, साधु-सन्तों और महात्माओं के मुख से प्रभु की महिमा और गुणावली को सुन कर तथा शास्त्रों का पाठ कर के उपासक के मन में भगवान् के प्रति कुछ आकर्षण और प्रेम उत्पन्न होता है। और वह दोनों काल उपासना में बैठ कर भक्ति में भर कर भगवान के गुणों का चिन्तन और गान आरम्भ कर देता है। प्रभु के गुणों के इस गान और चिन्तन से उपासक के मन में प्रभु के प्रति प्रेम प्रति दिन गहरा होने लगता है और उसे प्रभु के और नये-नये गुण तथा उन की और नई-नई महिमायें और विभूतियें दृष्टिगोचर होने लगती हैं। जितना ही अधिक-अधिक वह प्रभु की महिमा को अनुभव करने लगता है उतना ही और अधिक वह प्रभु के प्रेम में तन्मय होने लगता है। प्रभु के प्रेम की इस तन्मयता में उसे बड़ा आनन्द अनुभव होने लगता है। उस आनन्द की अनुभूति के काल में उस के पास किसी प्रकार के सांसारिक दुःख और कष्ट-क्लेश फटकने नहीं पाते। उस समय वह भगवान् के प्रेम में विभोर हो कर आनन्द में मग्न हो जाता है।

भगवान् के प्रेम में डूबे रहने और प्रेम में भर कर भगवान् के गुणों का चिन्तन करते रहने का परिणाम यह होता है कि वह अपने जीवन का भगवान् के साथ मिलान कर के देखने लगता है। वह सोचने लगता है कि मेरे प्रेम के पात्र मेरे उपास्य देव परमात्मा तो सत्य, न्याय, दया, ज्ञान, बल और संयम आदि के समुद्र हैं। उन में सत्य आदि पवित्र गुणों की पराकाष्ठा

हो गई है—हद हो गई है। उन में सत्य आदि ये गुण इस असीम सीमा तक पहुंचे हुए हैं कि शास्त्र उन्हें सत्यस्वरूप, न्यायस्वरूप आदि नामों से पुकारते हैं। जैसे प्रकाश के साथ अन्धेरा नहीं रह सकता वैसे ही मेरे भगवान् के साथ सत्य आदि गुणों के विरोधी झूठ आदि अवगुण नहीं रह सकते। जैसे प्रकाश के स्वरूप में अन्धकार की सत्ता सोची ही नहीं जा सकती वैसे ही प्रभु के स्वरूप में असत्य अन्याय आदि अवगुणों की सत्ता की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भगवान में तीनों कालों में इन सत्य, न्याय आदि पवित्र गुणों की विद्यमानता रहती है इन सत्य आदि गुणों का अभाव और इनके विरोधी झूठ आदि अवगुणों का भाव भगवान् में न कभी रहा है और न कभी रहेगा। वे तो सदा ही सत्यशील, न्यायशील और दयाशील आदि रहते हैं। तभी तो शास्त्र उन्हें सत्यस्वरूप, न्याय स्वरूप और दयामय आदि नामों से पुकारते हैं। ऐसे सत्य आदि पवित्र गुणों के महासागर हैं मेरे भगवान्, जिन के साथ मैंने अपने प्रेम की लौ लगाई है, जिन का मैं उपासक और भक्त बना हूं, जिन का मैं अपने आप को बन्दा कहता हूं इधर तो ये मेरे भगवान् हैं और उधर मैं अपने आप को देखूं। मैं तो अपने भगवान् के इन पवित्र गुणों के विरोधी असत्य, अन्याय, अदया, अज्ञान और असंयम आदि दुर्गुणों से भरा हुआ हूं। मैं तो प्रातःकाल जागने से ले कर रात को सोने के समय तक अपने दैनिक व्यवहार में असत्य और अन्याय आदि के ढेर के नीचे दबा रहता हूं। मैं सत्यस्वरूप आदि नामों वाले भगवान् का उसासक, भक्त और बन्दा कैसा?

भगवान् के प्रति इस प्रेम और इस प्रेम में भर कर उनके गुणों का इस प्रकार चिन्तन करने और अपनी अवस्था का उनके साथ मिलान करने से उपासक के मन में एक बिजली-सी दौड़ने लगती है। जिस से उस अपने अवगुणों से नफरत होने लगती है। अपने अवगुणों के प्रति उत्पन्न हुई इस घृणा के कारण वह अपने अवगुणों का परित्याग करने लगता है और उन के विरोध में भगवान् के सत्य आदि सद्गुणों को अपने भीतर धारण करने लगता है। कुछ काल अभ्यास करते-करते वह भगवान् के गुणों के विरोधी अपने सभी ऐबों को छोड़ देता है। जैसे सांप अपनी पुरानी कैंचली को परे फेंक कर साफ औ स्वच्छ निकल आता है वैसे ओी उपासक अपने दुर्गुणों का परित्याग कर के औ उन के स्थान में प्रभु के सद्गुणों को अपना कर स्वच्छ और निर्मल हो जाता है। भगवान् पाक और पवित्र हैं। उपासक भी भगवान् के गुणों को धारण कर के पाक और पवित्र बन जाता है। भगवान अपने विराट रूप में पाक और पवित्र हैं। उपासक अपने छोटे क्षेत्र में पाक और पवित्र बन जाता है। भगवान् के प्रति

अपने सच्चे प्रेम की वृत्ति के कारण भगवान् के गुणों का अनुकरण कर के उपासक भी अपने क्षेत्र में भगवान् जैसा ही बन जाता है।

५.
प्रभु-भक्ति उपासक को प्रभु जैसा पवित्र बना देती है

इस प्रकार सत्पुरुषों की संगति का जो लाभ होता है वही लाभ प्रभु की उपासना का होता है। जैसा ऊपर दिखाया गया है, संसार में तो हमें प्रायः अपने जैसे अच्छाई और बुराइयों के मिश्रण—जिन में आम तौर पर अच्छाई कम और बुराई बहुत अधिक रहती है—लोगों की संगति ही मिलती है। अच्छी संगति के इस अभाव को हम भगवान् की उपासना द्वारा पूरा कर लेते हैं। दोनों काल उपासना के समय हम अपने विचार द्वारा प्रति दिन परम-पुरुष भगवान् की संगति में जा बैठते हैं। उनकी संगति में बैठ कर उन के गुणों का प्रेम-पूर्वक चिन्तन करने से हमारे मन में उन जैसा बनने की लालसा जाग उठती है। इस लालसा के कारण हम भगवान् के गुणों का अनुकरण करने लगते हैं और अपने अवगुणों को छोड़ने लगते हैं। निरन्तर इस संगति में बैठते रह कर कुछ काल के अभ्यास के पश्चात् हमारे सारे अवगुण जाते रहते हैं और उन के स्थान पर भगवान् के पवित्र गुण हमारे अन्दर आ कर बस जाते हैं। और हम प्रभु की भांति ही सर्वथा सद्गुणी बन जाते हैं। हम प्रभु जैसे पवित्र बन जाते हैं।

पवित्र जीवन का परिणाम सुख ही सुख

जैसा ऊपर कहा गया है हमें जीवन में जो दुःख प्राप्त होते हैं वे हमारे बुरे कर्मों का फल होते हैं और जो सुख प्राप्त होते हैं वे हमारे शुभ कर्मों का फल होते हैं। उपासना के समय भगवान् की संगति में बैठ कर उन के सद्गुणों को धारण कर के हम ने अपनी सब बुराइयें छोड़ दीं। अब हम में कोई अवगुण और दोष रहा ही नहीं । हम में तो अच्छाइयें और सद्गुण आ गये। हमारे आचरण और कर्म शुभ होने लग पड़े। जब हमारे आचरण अशुभ नहीं रहे तो हमें दुःख कहां से मिलेगा ? हमारे कर्म तो अब शुभ हो गये हैं। अब तो हमें सुख ही सुख मिलेगा।

सच्ची उपासना में सौदेबाजी नहीं है

इस उपासना में कोई सौदे और व्यापार वाली बात नहीं है, इस में भगवान् की प्रशंसा और खुशामद कर के उन्हें रिश्वत देने वाली कोई बात नहीं है। इस उपासना में तो भगवान् की

संगति में बैठ कर उन के गुणों का चिन्तन कर के अपने आप को भगवान् जैसा सद्गुणी बनाना होता है। इस में अपने कष्टों को काटने और सुख देने की याचना भगवान् से नहीं करनी होती। इस में तो भगवान् की संगति में बैठ कर उन जैसा पवित्र बनना होता है। हमारी इस पवित्रता का और उस से पैदा होने वाले हमारे शुभ कर्मों का परिणाम यह होता है कि भगवान् को बिना मांगे हमें सुख देना पड़ता है। हमारे शुभ कर्मो का फल सुख भगवान् को हमें देना ही है।

उपासना से उपासक के कष्ट किस प्रकार कटते हैं

उपासना से हमारे दुःख कटते हैं और सुख बढ़ते हैं यह तो ठीक है। पर अपने आचरणों को बिना सुधारे और बुराइयों में पड़े रहते हुए, भगवान् को उन की प्रशंसा और तारीफ़ की रिश्वत चढ़ाने वाली मनोवृत्ति से सौदे और व्यापार की दृष्टि से की गई उपासना से हमारे कष्ट नहीं कटते। इस प्रकार की उपासना असल में उपासना है ही नहीं। उपासना तो भगवान् की संगति में बैठ कर प्रेमपूर्वक उन के गुणों का स्मरण करने और उन गुणों को अपने जीवन में धारण करने का नाम है। इस सच्ची उपासना से हमारे कष्ट अवश्य कटते हैं। और वह इस प्रकार की उपासना से हमारे दुर्गुण छूट कर हम सद्गुणी और शुभ कर्म करने वाले बन जाते हैं। शुभ कर्मों का फल सुख भगवान् हमें देंगे ही। अशुभ कर्म हम ने छोड़ दिये। जब हम अशुभ करेंगे ही नहीं तो हमें दुःख कहां से मिलेगा ? दुःख तो अशुभ कर्मों का फल होता है उपासना से हम ने अशुभ कर्म छोड़ दिये तो हमें दुःख कहा से प्राप्त होगा इस प्रकार सही रीति से की हुई उपासना हमारे दुःखों को काट देती है। और सुखों की वृद्धि कर देती है।

असल में उपासना पाप को काटती है

यहां एक बात स्पष्ट रूप में समझ लेनी चाहिये। उपासना से असमय में हमारे बुरे कर्म कटते हैं। बुरे कर्मों के कारण मिलने वाला कष्ट नहीं कटता जो बुरे कर्म हम कर चुके हैं। उनके फल के रूप में मिलने वाला कष्ट तो परमात्मा की न्याय-व्यवस्था के अनुसार मिल कर ही रहेगा। किये हुए का फल भोगना ही पड़ता है। इसी लिये हम देखते हैं कि बड़े-बड़े सच्चरित्र और शुभ आचरणों वाले महात्माओं के जीवन में भी कष्ट आते रहते हैं। कष्ट उन के पिछले अशुभ कर्मों का फल होते हैं। इस समय के उन के सच्चरित्र और शुभ कर्मों का फल उन्हें आगामी जीवन में सुख के रूप में अथवा मोक्षावस्था के ब्रह्म-साक्षात्कार के आनन्द

के रूप में मिलेगा। और इस से भी उन के जीवन में जो आनन्द है वह उनके पिछले अथवा इस जन्म के शुभकर्मों का ही फल है। उपासना तो हमारे द्वारा भविष्य में होने वाले बुरे कर्मों को काटती है। उपासना से पवित्र बन कर अब भविष्य में हम बुरे कर्म नहीं करेंगे। और इसी लिये भविष्य में हमें कष्ट भी नहीं मिलेंगे। बुरे कर्म छूट जाने के कारण उनका फल दुःख अपने आप छूट गया। जो बुरे कर्म हम पहले कर चुके हैं और उन में से जिन का फल अभी तक नहीं भोगा गया है उन के फल के रूप में मिलने वाला कष्ट तो हमें भोगना ही पड़ेगा। वह कष्ट उपासना से नहीं कटता। उपासना पाप को काटती है। हम आगे पाप नहीं करेंगे। उपासना पहले किये जा चुके पाप के फल कष्ट को नहीं काटती । वह तो भोगना ही होगा।

प्रभु के गुणों को धारण नहीं किया गया तो उपासना का कोई लाभ नहीं

उपासना तो परमात्मा की संगति में बैठ कर उन के गुण अपने भीतर धारण करने का नाम है। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता उसे उपासना से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। एक दृष्टान्त से यह बात बहुत स्पष्ट हो जायेगी।

सूर्य का दृष्टान्त

सूर्य प्रकाश और गरमी के पुञ्ज हैं। अब एक व्यक्ति ऐसा करे कि अपने कमरे के सब दरवाजे और खिड़कियें बन्द कर दे और उन पर मोटे काले परदे लटका दे। इस प्रकार अपने कमरे में घुप्प अन्धेरा कर ले। कमरे के बीच में बड़ी-बड़ी बर्फ की शिलायें रख ले। अपने कपड़े उतार कर इन शिलाओं पर लेट जाये। अब उसके कमरे में घोर अन्धकार हैं और वह शीत से बुरी तरह ठिठुर रहा है। अपने कमरे के अन्धकार और अपनी ठण्डक को दूर करने के लिये वह सूर्य की स्तुति करने लगता है। वह सूर्य से कहने लगता है—"हे सूर्य भगवान्! आप में कितना प्रकाश है ! जब आप अपने प्रखर प्रकाश की किरणों के साथ पूर्व दिशा के आकाश में उदय होते हो तो अमावस्या के घनघोर अन्धकार का भी कहीं नाम-निशान नहीं रहता—पर्वतों की गुफ़ाओं और जंगलों में भी उसे सिर छिपाने को जगह नहीं मिलती। आप के प्रकाश की क्या महिमा गाई जाये ? हे भगवान् ! कृपा कर के मेरे इस कमरे के अन्धकार को तो दूर कर दीजिये। मैं आप का भक्त हूं। मैं आप से सिर झुका कर और हाथ जोड़ कर यह विनति कर रहा हूं। आप मेरी विनति स्वीकार कीजिये। मेरे कमरे के इस अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर दीजिये। और हे भगवान् सूर्य! देखिये मैं ठण्ड से भी कितनी बुरी तरह

ठिठुर रहा हूं। आप तो गरमी के पुञ्ज हैं। जब आप की गरमी की उग्र किरणें उत्तरीय ध्रुव के समीप के समुद्रों में तैरने वाले 'आइस बर्ग' नामक पर्वत जैसे विशाल हिम-खण्डों पर पड़ती हैं तो वे बात-की-बात में पिघल कर पानी और भाप बन जाते हैं। हिम से आच्छादित पर्वतों की चोटियों पर जब आप की गरमी की किरणें गिरती हैं तो वहां की बर्फ पिघल कर झरनों और नदियों के रूप में प्रवाहित हो पड़ती है। आप की वे किरणें जब महासागरों की छाती पर पड़ती हैं तो वे उत्तप्त हो कर भाप और बादलों का रूप धारण कर लेते हैं। आप की असीम गरमी का कौन पार पा सकता है। हे गरमी के परम निधान भगवान् सूर्य ! आप मेरी भी इस ठण्डक को काट दीजिये। मैं नम्र हो कर, सिर झुका कर, आप को नमस्कार करता हूं। मेरी विनति सुनिये और दया कर के मुझे इस ठण्ड से बचाइये।" तो क्या सूर्य उस व्यक्ति के मुख से अपनी इस प्रकार की स्तुति और प्रार्थना सुन कर उसके कमरे के अन्धकार को दूर कर देंगे और उस की ठण्ड को भगा देंगे ? कदापि नहीं। प्रलय-काल तक भी यदि वह सूर्य की इस प्रकार की स्तुति और उस से ऐसी प्रार्थना करता रहे तो भी उस का कुछ फल नहीं होगा। सूर्य में अन्धकार और शीत को दूर करने की शक्ति तो है। उस के इन गुणों की स्तुति भी सच्ची है। पर इस स्तुति से प्रसन्न हो कर सूर्य उस व्यक्ति के कमरे के अन्धकार और उसके शीत को दूर नहीं करेंगे। उस व्यक्ति के लिये अपने कमरे के अन्धकार और अपने शीत को दूर करने का एक ही उपाय है, और, वह यह कि वह अपने कमरे के खिड़की-दरवाज़ों को खोल दे तथा उन पर के काले परदे उतार कर फेंक दे और इस प्रकार सूर्य के प्रकाश और गरमी की किरणों को कमरे में आने दे उसे सही अर्थों में सूर्य की उपासना करनी होगी—सूर्य की संगति में बैठना होगा, उसे दरवाज़े-खिड़की खोल कर कमरे को सूर्य के प्रकाश से भरना होगा और सूर्य की गरमी की किरणें अपने शरीर पर लगने दे कर उसे गरम बनाने होगा। सूर्य का प्रकाश-गुण उसे अपने कमरे में प्रविष्ट करना होगा, उसका उष्णता-गुण उसे अपने शरीर में प्रविष्ट करना होगा। तभी उसका अन्धकार और उसका शीत कट सकेगा।

सूर्य का प्रकाश और गरमी भौतिक वस्तुयें हैं। अन्धकार और शीत भी भौतिक वस्तुयें हैं। जब सूर्य का प्रकाश और गरमी भौतिक रूप से कम और शरीर में प्रवेश करेंगे तभी भौतिक अन्धकार और शीत का विनाश हो सकेगा। परमात्मा के सत्य, न्याय और दया आदि गुण आध्यात्मिक वस्तु हैं। जब परमात्मा के ये आध्यात्मिक गुण हमारे आत्मा में प्रविष्ट हो जायेंगे तभी हमारे आत्मा की असत्य, अन्याय आदि आध्यात्मिक बुराइयें दूर हो सकेंगी।

परमात्मा के गुणों को अपने आत्मा में धारण कर के अपनी बुराइयों को छोड़े बिना परमात्मा की स्तुति और उससे प्रार्थना का कोई फल नहीं होगा।

६.
प्रभु उपासक को शक्ति प्रदान करते हैं

तो क्या परमात्मा हमें केवल हमारे अच्छे-बुरे कर्मो का फल-मात्र देते हैं, हमारी और किसी प्रकार की सहायता वे नहीं करते ? जैसा ऊपर प्रतिपादन किया गया है, यह तो नहीं होता कि हम अपने आचरण तो खोटे रखें और परमात्मा हमारी स्तुति से प्रसन्न हो कर हमारे खोटे कर्मों का फल दुःख न दे कर हमें सुख दे दें। इस प्रकार की सहायता परमात्मा हमारी कभी नहीं करते। परन्तु एक दूसरे प्रकार की सहायता परमात्मा हमारी करते हैं। जब हम भगवान् की उपासना में बैठ कर उन के गुणों को धारण कर के अच्छा बनने का प्रयत्न करने लग जाते हैं और उस में अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं तो हमारे इस पूर्ण शक्ति से किये गये प्रयत्न से प्रसन्न हो कर भगवान् हमारे आत्मा में अपनी शक्ति और बल का संचार कर देते हैं। हमारा ज्ञान बढ़ा देते हैं और हमारी बुद्धि को तीक्ष्ण कर देते हैं। भगवान् से उन की यह शक्ति और बल पाकर हम बलिष्ठ बन जाते हैं। इस बल की बदौलत हम अपनी बुराइयों को जीत कर सद्गुणी बनने में अपेक्षया शीघ्र समर्थ हो जाते हैं। भगवान् से मिलने वाले इस बल और बुद्धि की सूक्ष्मता के कारण हम अपने सभी कार्यों को अधिक अच्छी तरह सम्पन्न करने के योग्य हो जाते हैं।

अथर्ववेद के ५.११.११ मन्त्र में उपासक ने भगवान् से जो प्रार्थना की है उस से यही परिणाम निकलता है। उपासक उस मन्त्र में जो कुछ कह रहा है उस का भाव इस प्रकार है :—"हे वरणीय भगवान् ! मैं देव हूं—मैंने अपने भीतर पवित्र दिव्य गुणों को धारण करने का प्रयत्न किया है। आप देव हैं—दिव्य गुणों वाले हैं। मेरे देव बनने के प्रयत्न से प्रसन्न हो कर आपने मेरा जीवन दिव्य बना दिया है। मैं विप्र हूं—भांति-भांति के ज्ञानों का संग्रह कर के अपने को ज्ञानवान् बनाने का प्रयत्न मैंने किया है। आप विप्र हैं—आप में अनन्त ज्ञान है। आप सुमेधा हैं—आपकी बुद्धि बड़ी उत्तम है और आप उत्तम बुद्धि देने वाले हैं। ज्ञानवान् बनने के मेरे प्रयत्न से प्रसन्न हो कर आपने मेरी बुद्धि उत्तम कर दी है और मुझे और भी अधिक विप्र बना दिया है—और भी अधिक ज्ञानवान् बना दिया है[1]।" मन्त्र का स्पष्ट तात्पर्य है कि जो उपासक

१. देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः।

अपने को देव बनाने का—दिव्य गुणों वाला बनाने का—प्रयत्न करता है और ज्ञानवान् विप्र तथा मेधावी बनने की कोशिश करता है। भगवान् उस की देव, विप्र और मेधावी बनने में सहायता करते हैं। उस की यह सहायता भगवान् उसे देव और विप्र बनने योग्य सामर्थ्य दे कर करते हैं। फलतः जो व्यक्ति अपने को श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न नहीं करता है भगवान् उस की सहायता नहीं करते।

७.

उपासना के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द का मन्तव्य

ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना के सम्बन्ध में विचार करते हुए ऋषि दयानन्द ने वेद के कर्मफल-विषयक और उपासना-विषयक सिद्धान्तों के मर्म को ध्यान में रख कर सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में ये शब्द लिखे हैं—"(प्रश्न) परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये वा नहीं ? (उत्तर) करनी चाहिये। (प्रश्न) क्या स्तुति आदि करने से ईश्वर अपना नियम छोड़ स्तुति-प्रार्थना करने वाले का पाप (पाप का फल) छुड़ा देगा ? (उत्तर) नहीं। (प्रश्न) तो फिर स्तुति-प्रार्थना क्यों करनी चाहिये ? (उत्तर) उन के करने का फल अन्य ही है। (प्रश्न) क्या है ? (उत्तर) स्तुति से ईश्वर में प्रीति, उस के गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव का सुधारना, प्रार्थना से निरभिमानता, उत्साह और सहाय का मिलना, उपासना से परब्रह्म से मेल और उस का साक्षात्कार होना।"

ऋषि दयानन्द ने वेद के उपासना-विषयक सिद्धान्त को इस उद्धरण में सूत्र-रूप में रख दिया है। उसी की विस्तृत व्याख्या हम इन पृष्ठों में कर रहे हैं।

उपासना और योगदर्शन

योग दर्शन में महर्षि पतञ्जलि के मन को एकाग्र करने के उपायों का वर्णन करते हुए परमात्मा के वाचक 'प्रणव' अर्थात् 'ओङ्कार' का जप करने का विधान किया है। योगदर्शन के समाधिपाद के २८ और २९ सूत्रों[1] में इस जप के प्रकार और उस से होने वाले लाभों की

अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम्।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः। अथर्व. ५.११.११।

इस मन्त्र की तथा जिस सूक्त का यह मन्त्र है उस की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वरुण की नौका' में देखिये।

१. तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगदर्शन, समाधिपाद, २८ सूत्र।
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। योगदर्शन, समाधिपाद, २९ सूत्र।

और महर्षि पतञ्जलि ने निर्देश किया है। समाधिपाद जप के प्रकार और उस से होने वाले लाभों की ओर महर्षि पतञ्जलि ने निर्देश किया है। समाधिपाद के इस २९ वें सूत्र पर भाष्य करते हुए महर्षि व्यास ने लिखा है कि "ईश्वर का चिन्तन करने से उपासक को अपने स्वरूप का दर्शन हो जाता है। वह अपने असली स्वरूप को पहचान लेता है। चिन्तन द्वारा वह यह समझ लेता है कि जिस प्रकार परम पुरुष ईश्वर शुद्ध है, प्रसन्न है, केवल है अर्थात् धर्माधर्म से पृथक् है और अनुपसर्ग है अर्थात् धर्माधर्म से मिलने वाले फलभोग से रहित है, उसी प्रकार बुद्धितत्त्व का प्रतिसंवेदी यह अपना आत्मारूप पुरुष भी वस्तुतः तो शुद्ध है, प्रसन्न है, केवल है, और अनुपसर्ग है[1]।" महर्षि पतञ्जलि और व्यास कहते हैं कि हमारा आत्मा वास्तव में तो परमात्मा की भांति शुद्ध है, परन्तु वह बुद्धि अर्थात् प्रकृति के सम्पर्क में उस के प्रलोभनों में पड़ कर अपने आप को अशुद्ध बना लेता है। परमात्मा के गुणों का चिन्तन कर के वह अपना ध्यान प्रकृति के प्रलोभनों से हटा लेता है और शुद्ध हो जाता है। परमात्मा के इस चिन्तन से आत्मा भी वैसा ही शुद्ध और निर्मल बन जाता है। जैसे कि शुद्ध और निर्मल परमात्मा हैं। इस प्रकार योगदर्शन की सम्मति में भी परमात्मा की उपासना का यही लाभ होता है कि उपासक भगवान् के गुणों का चिन्तन कर के उन जैसा पवित्र बन जाता है।

उपासना और महात्मा गान्धी

इस युग के भारत के महान् नेता महात्मा गान्धी जी परमात्मा में गहरा विश्वास रखते थे। गान्धी जी ने जिस सत्याग्रह के सिद्धान्त का आविष्कार किया था। उस में सत्याग्रही व्यक्ति के लिये परमात्मा से अटूट और अटल विश्वास का होना परम आवश्यक है। परमात्मा में अपने विश्वास को अडिग रखने के लिये और परमात्म-विश्वास से लाभ उठाने के लिये गान्धी जी परमात्मा की भक्ति और उपासना पर बड़ा बल दिया करते थे। गान्धी जी नियमित रूप से दोनों समय परमात्मा की भक्ति और उपासना में बैठा करते थे। गान्धी जी अकेले ही उपासना में नहीं बैठा करते थे। प्रत्युत वे सार्वजनिक रूप में उपासना किया करते थे जिस में सैकड़ों और हज़ारों लोग सम्मिलित हुआ करते थे। परमात्मा की उपासना से क्या लाभ होता है और किस प्रकार होता है इस सम्बन्ध में गान्धी जी के विचार भी लगभग वैसे ही थे जैसे कि ऋषि दयानन्द और योगदर्शनकार के विचार हैं जिनका स्पष्टीकरण इस लेख में हम कर रहे हैं। गान्धी

१. स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति। यथैवेश्वरः पुरुषः शुद्धः प्रसन्नः केवलोऽनुपसर्गस्तथाऽयमपि बुद्धेः प्रतिसंवेदी यः पुरुषस्तमधिगच्छति। योग, समाधि, २९।

जी के निजी मन्त्री (प्राइवेट सेक्रेटरी=Private Secretary) श्री प्यारेलाल जी ने महात्मा गान्धी जी का एक बड़ा सुन्दर जीवन-चरित्र अंग्रेज़ी में "महात्मा गान्धी के जीवन का अन्तिम पहलू" (महात्मा गांधी : दी लास्ट फेज़=Mahatma Gandhi : The Last phase) नाम से लिखा है। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के एक अध्याय में गान्धी जी के उपासना-सम्बन्धी विचारों का बड़ा विशद और मार्मिक संकलन किया गया है। वहां से गांधी जी के उपासना-विषयक विचारों को अति संक्षिप्त रूप में हम नीचे उद्धृत करते हैं[1]—

---

1. Gandhi ji was a man of faith and prayer. They were his instruments of action, tools in his search for truth. Life is a very complex thing, he once observed, and truth and non-violence present problems, which often defy analysis and judgement. One discovers truth and the method of applying it, i. e. Satyagraha or soŭl-force, by patient endeavour and silent prayer, The highest state is above the imperfect offices of prayer & praise. In it all feeling of duality or separate existence is abolished. A person who has attained that state becomes a vehicle of the moral. .law that governs the universe-incapable of an evil thought or wishing harm to anyone. Whatever is not in consonance with that law will not come to him Love will be an unerring light, and joy its won security, Prayer is a means for the attainment of that state. The highest prayer consists in passive contemplation of the immanent, timeless, formless essence. But all the ancients and even moderns have borne testimony that psychologically, it is all but impossible for the human being to practise contemplation without preparing for it by some kind of adoration and without feeling the need to revert at more or less frequent intervals to intercession and some form at least of petition. Petitioning in this context can only be for purity and the strength to persevere so that one may have no desire left except to will what God wills of us and intercession the means to, and the expression of, the of, the love of one's neighvour in the same way as adoration is 'the means to, and expression of, the love of God—a love that finds its consummation in the unitive knowledge of the Godhead which is the fruit of contemplation.' 'The Divine mind is unchangeable, but since that Divinity is also in every one & every thing, the meaning of prayer is to strive 'to evoke that Divinity' within us. 'You may, therefore, said Gandhi Ji, describe it (the prayer) as a continual longing to lose oneself in the Divinity witch comprises all.' 'Even atheists who deny the existence of God not deny truth, Gandhi Ji, therefore came to the conclusion

"मनुष्य सत्य को और जीवन में उस के व्यावहारिक प्रयोग को धैर्य पूर्वक प्रयत्न और शान्त भाव से उपासना द्वारा ही जान सकता है। मनुष्य की सर्वोच्च स्थिति में परमात्मा की प्रार्थना और स्तुति की आवश्यकता नहीं रहती। उस स्थिति में व्यक्ति का द्वैतभाव नष्ट हो जाता है और वह सदाचार का मूर्तरूप बन जाता है, उस समय उस के मन में कोई बुरा विचार

---

that 'rather than say God is truth I should say truth is God.' It matters little whether one professes to be an atheist or conceives God in one form rather than another.' If you will not parade God, I have no doubt you will parade soemthing else which in the end will prove to be God, for, fortunately there is no-one and nothing else but God in this universe,' It, therefore, all depends upon one's temperament, tradition or intellectual conditioning, said Gandhi ji. One man may worship God as Person another as Force, and still another as Truth or the Law; it makes no difference, 'One need only remember that God is the Forece among all the forces All other forces are material. But God is the vital force or spirit which is all-pervading. all-embracing and, therfore, beyoned humam-ken.' 'But why pray at all' the sceptic may ask 'Does God stand in need of prayer to enable Him to do his duty? 'No.' replies Gandhi ji, God needs no reminder but man does. prayer means 'an earnest desire to be filled with the spirit of Truth. This desire should be present all the twenty-four hours. But our souls are too dull to have this awareness day and night. Therefore we offer prayer for a short time in the hope that a time will come when all our conduct will be one continously sustained prayer.' Prayer is 'a heart search .. a call to humility...a call to self-purification.' 'If you would swim on the vosom of the ecean of Truth, you must reduce yourself to zero'. God certainly is irrespective of our belief. 'But realisation of God is infinitely more than mere belief,...Man often repeats the name of God parrot-wise...The true seeker must have that living faith which will not only dispel the untruth of parrot-wise repetition from with him but also from the hearts of others.' This can only come by constant practice. 'This is true of all science; how much more true then of the science of all the sciences?' Hence the need of prayer and meditation. Meditation consists in 'closing the eyes and ears of the mind to all else, except the object of one's devotion.' Therefore, Said Gandhi ji, man in praying may be said to worship 'his own glorified self,' the divine essence, the truth that is within ourselves, within the soul of every being. 'At prayer-time, our speech is addressed to

उठ ही नहीं सकता और न ही वह किसी को हानि पहुंचाने की बात सोच सकता है। परमात्मा की प्रार्थना-उपासना इस ऊंची स्थिति को प्राप्त करने का साधन है। उपासना की सर्वोच्च स्थिति तो वह है जिस में उपासक शान्त भाव से अन्तर्यामी, अनादि-अनन्त और निराकार प्रभु का चिन्तन करता है। परन्तु पुराने और नये साधकों को कहना है कि प्रभु से प्रेम और भक्ति किये बिना तथा बार-बार प्रभु से प्रार्थना किये बिना मन उपासना की इस सर्वोच्च स्थिति तक नहीं पहुंच सकता। प्रार्थना आत्म-शुद्धि और शक्ति प्राप्त करने के लिये होती है और उपासक को उस स्थिति में पहुंचने का यत्न करना होता है जिस में भगवान् की इच्छा ही उपासक की इच्छा हो जाती है। उपासक की प्रार्थना अपने पड़ोसियों के प्रति और अपने उपासक के प्रति प्रेम में प्रकट होती है। प्रार्थना के द्वारा उपासक अपने आप को भगवान् के साथ मिला लेता है और प्रभु से मिल जाना ही भगवद्भजन का फल है। परमात्मा के मन में हमारी प्रार्थना से कोई परिवर्तन नहीं आ सकता, परन्तु हम सभी में परमात्मा का निवास है, अतः प्रार्थना का अभिप्राय अपने भीतर परमात्मा को ज्योति को जगाना होता है। इस प्रकार प्रार्थना निरन्तर

ourselves and is intended to shake of our torpor Some off us are intellectually aware of God None has seen Him face to face We desire to .realise Him, to become one within Him . through prayer' Prayer thus admits of a naturalistic interpretation., It achieves its results not through any extramundane intervention but by natural psychological processes It is not asking in the ordinary sense of the term but an intense longing to become merely a lump of clay in the Potter's divine hands,' to surrender one's will, intellect and physical being to the Power of Truth or Godhead within 'A man is but the product of his thoughts, what he thinks that he becomes' The fruit of prayer, taught Gandhi ji, should be looked for not in any 'extraneous evidence but in the transformed conduct and character of those who have felt the real presence of God within' 'God never appears to you in person but in action.' 'Go to be God must rule the heart and transform it. He must express Himself in every smallest act of his votary.' 'I have not seen Him. neither have I known Him. I have made the words's faith in God my own and as my faith is ineffaceable. I regard that faith as amounting to experience'

(Mahatma Gandhi : The last Phase, Volume I, by Pyarelal, Pages 418-420. Navajivan Press, Ahmedabad, 1956.)

चल रही उस उत्कट उत्कण्ठा को कहा जा सकता है जिस के द्वारा व्यक्ति अपने को सर्वव्यापक भगवान् में मिला देता है। अपनी रुचि और मन की बनावट के अनुसार कोई व्यक्ति परमात्मा को किसी रूप में देख सकता है और कोई किसी रूप में। कोई उसे एक विराट् व्यक्ति के रूप में, कोई शक्ति के रूप में और कोई सत्य अथवा नियम के रूप में देख सकता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि परमात्मा शक्तियों की भी शक्ति हैं। और सब शक्तियें भौतिक हैं। परमात्मा आत्मिक शक्ति हैं। जो कि सर्वव्यापक हैं और इसी लिये मनुष्यों से ऊपर हैं। कोई संशयवादी पूछ सकता है कि "परमात्मा की प्रार्थना करनी ही क्यों चाहिये ? क्या अपना काम करने के लिये परमात्मा को हमारी प्रार्थना की आवश्यकता रहती है ?" नहीं, परमात्मा को हमारी प्रार्थना की आवश्यकता नहीं है। परमात्मा को स्मरण कराये जाने की ज़रूरत नहीं है। परन्तु मनुष्य को इस की आवश्यकता है। प्रार्थना का अर्थ है 'सत्य' की भावना से भरे रहने की उत्कट इच्छा। यह इच्छा हम में चौबीसों घण्टे विद्यमान रहनी चाहिये। पर हमारे आत्मा इतने कुण्ठित रहते हैं कि हम में यह भावना दिन और रात निरन्तर नहीं रहती। इस लिये हम प्रति दिन कुछ समय के लिये प्रार्थना में बैठते हैं, इस आशा से कि एक समय आयेगा जब कि हमारा सारा जीवन ही प्रार्थनामय बन जायेगा। प्रार्थना-उपासना तो आत्म-निरीक्षण का नाम है, विनयशीलता का नाम है, आत्म-शुद्धि का नाम है। मनुष्य प्रायः तोते की तरह परमात्मा के नाम को रटते रहते हैं। परन्तु सच्चे उपासक में परमात्मा के प्रति वह जीवित श्रद्धा और विश्वास विद्यमान रहना चाहिये जो इस के अपने तथा दूसरों के हृदय से भगवान् के नाम की इस तोता-वृत्ति की मिथ्या प्रवृत्ति को निकाल कर परे कर देगा। यह बात निरन्तर अभ्यास से ही आ सकती है। सभी विद्या-विज्ञानों में अभ्यास की आवश्यकता है। विज्ञानों के विज्ञान आध्यात्म-विज्ञान में तो अभ्यास की और भी अधिक आवश्यकता है। इसी लिये प्रति दिन प्रार्थना और भगवच्चिन्तन की आवश्यकता है। चिन्तन में अपनी भक्ति के विषय के अतिरिक्त अन्य सब विषयों की ओर से अपने मन की आंखों और कानों को बन्द कर लेना होता है। प्रार्थना-उपासना के समय हम अपने आप को सम्बोधन कर रहे होते हैं, और अपनी तन्द्रा को दूर कर रहे होते हैं। हमें बौद्धिक तौर पर तो परमात्मा में विश्वास होता है। पर हम ने उसे देखा नहीं है। प्रार्थना-उपासना के द्वारा हम उस का साक्षात्कार करना चाहते हैं, उस के साथ मिल जाना चाहते हैं। प्रार्थना केवल एक सामान्य याचना-मात्र नहीं है, वह तो परमात्मा के प्रति आत्म-समर्पण का नाम है, अपनी इच्छा, बुद्धि और शरीर को परमात्मा के प्रति समर्पण

कर देने का नाम है। प्रार्थना का फल किसी बाहरी लाभ में नहीं दिखाई देगा, वह तो जिन लोगों ने परमात्मा की सत्ता को अपने भीतर अनुभव किया है उनके बदले हुए व्यवहार और चरित्र में दिखाई देगा। परमात्मा तुम्हारे सामने कोई यक्ति बन कर, आ कर खड़ा नहीं होता, वह तो तुम्हारे कामों में दिखाई देता है। परमात्मा का हमारे हृदय पर राज्य होना चाहिये—परमात्मा के साक्षात्कार से हमारा हृदय बदल जाना चाहिये। भक्त के छोटे-से-छोटे आचरण में परमात्मा की अभिव्यक्ति होनी चाहिये।''

८.
उपासना से लाभ लेने की विधि

यदि हम ईश्वरोपासना से वास्तव में लाभ उठाना चाहते हैं तो हमें निम्न उपाय का अवलम्बन करना चाहिये।

हमें प्रति दिन प्रातः और सायं नियमित रूप से सन्ध्या या उपासना करनी चाहिये। इस उपासना में प्रभु की महिमा और गुणों का बखान करने वाले तथा चरित्र को ऊंचा बनाने की शिक्षा देने वाले वेद-मन्त्रों का श्रद्धा के साथ पाठ करना चाहिये और उन के अर्थो का चिन्तन करना चाहिये। साथ में इसी प्रकार के भाव वाले अच्छे भजनों का भी पाठ किया जा सकता है। परमात्मा के किसी गुण को बताने वाले वेद के किसी पद या वाक्य का जप भी अपनी रुचि के अनुसार किया जा सकता है। जप का अर्थ बार-बार दोहराना होता है। यह जप इस लिये किया जाता है कि जपे गये पद या वाक्य का जो अर्थ है वह हमारे हृदय में अच्छी तरह अंकित हो जाये। उपासना के लिये दोनों काल यथा-संभव अधिक-से-अधिक समय देना चाहिये। ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि इस कार्य के लिये कम-से-कम दो घण्टे का समय प्रति दिन देना चाहिये[१]। वेद मन्त्रादि के इस पाठ और अर्थ चिन्तन से हमारा मानसिक वातावरण शान्त और स्वच्छ हो जाता है तथा आध्यात्मिक गुणों को ग्रहण करने के योग्य बन जाता है। अपने मानसिक वातावरण की इस स्थिति में हमें प्रभु के गुणों का विशेष चिन्तन करना चाहिये और उन गुणों को अपने अन्दर धारण करने का निश्चय करना चाहिये। और फिर अपने दैनिक व्यवहार में उसी के अनुसार आचरण करना चाहिये। प्रभु के एक-एक गुण को लेते जाना चाहिये और कुछ काल तक उस को धारण करने और उस के अनुसार चलने का प्रयत्न करते रहना चाहिये। जब एक का अभ्यास हो जाये तब दूसरा कोई गुण पकड़ लेना चाहिये।

१. सत्यार्थप्रकाश, नवम समुल्लास।

एक समय में आवश्यक नहीं कि एक ही गुण का अभ्यास किया जाये। एकाधिक गुणों का अभ्यास भी एक साथ किया जा सकता है। यह तो उपासक की अपनी-अपनी शक्ति और उत्साह पर निर्भर करता है। कई गुण तो अन्योन्याश्रित हैं। एक का अभ्यास करने में दूसरे का अभ्यास करना ही पड़ता है। जैसे, सत्य के पालन में न्याय आदि कई बातों का पालन करना पड़ेगा।

प्रभु के गुणों को अपने भीतर धारण करने और तदनुसार अपना आचरण बनाने के लिए निम्न ढंग बरतना चाहिये। उदाहरण के लिये प्रभु के सत्य-गुण को ले लीजिये। प्रातःकाल की उपासना के समय निश्चय कर लीजिये कि मैं प्रभु के इस गुण को धारण करूंगा और दिन-भर कोई काम असत्य का नहीं करूंगा। प्रभु से शक्ति की प्रार्थना कीजिये कि हे प्रभो ! मुझे सामर्थ्य दीजिये और मेरी सहायता कीजिये कि मैं आज दिन भर अपने व्यवहार में सत्य पर चलता रह सकूं। ऐसा निश्चय कर के अपने दैनिक व्यवहार में जुट जाइये। फिर सायं-काल की उपासना के समय अपने दिन-भर के आचरण की पड़ताल कीजिये कि कहीं अपने व्यवहार में आप सत्य से डिगे तो नहीं। यदि आप अपने व्यवहार में दिन-भर सत्य से कहीं नहीं डिगे तो इस के लिये प्रभु का धन्यवाद कीजिये और अगले दिन भी इसी प्रकार सत्य पर दृढ़ रहने का निश्चय कीजिये तथा उस के लिये भगवान् से सहायता मांगिये। यदि आप दिन-भर के अपने व्यवहार में कहीं सत्य से डिग गये हैं तो उस के लिये पश्चात्ताप कीजिये और अगले दिन सत्य पर डटे रहने का और अधिक दृढ़ निश्चय कीजिये और उस के लिये भगवान् से बल मांगिये। इस प्रकार अभ्यास करते-करते एक समय के पश्चात् आप देखेंगे कि आप में सत्य का गुण जम गया है और वह आप के जीवन का—आप के श्वास-प्रश्वास का—अङ्ग बन गया है।

बच्चा जिस निष्ठा से चलने का अभ्यास करता है उसी निष्ठा से धर्म पर चलने का अभ्यास कीजिये

बार-बार होने वाली असफलताओं से घबराइये नहीं। जैसे छोटा बच्चा चलने का अभ्यास करता है वैसे ही धर्म के मार्ग पर चलने का अभ्यास किया जाता है। जब बच्चा पहले-पहले चलना सीखने लगता है तो वह चल नहीं पाता। गिर पड़ता है। उसे चोट भी लग जाती है। कई बार उस के ओठ भी गिरने से कट जाते हैं और रुधिर बह निकलता है। वह गिर कर धूल से अपना शरीर और कपड़े भी लथ-पथ कर लेता है। अब यदि वह बच्चा सोचने लगे कि मैं तो चलना सीखने का अभ्यास करते समय गिर पड़ता हूं। मुझे तो चोट लग जाती है।

मेरे तो ओठ कट जाते हैं। मेरे तो शरीर और कपड़े धूल से भर जाते हैं। मैं तो अब चला ही नहीं करूंगा। मैं तो अब मां की गोद में या पालने में ही रहा करूंगा। अथवा बच्चे की मां ही सोचने लगे कि मेरा लाल तो चलना सीखने के समय गिर पड़ता है, उसे चोट लग जाती है, उस का शरीर और कपड़े मैले हो जाते हैं, मैं तो अपने लाल को अपनी गोद ही में रखूंगी, उसे पालने पर ही झुलाऊंगी, तो वह बच्चा कभी भी चलना नहीं सीख सकेगा। बच्चा गिर-पड़ कर भी चलने का अभ्यास करता रहता है और उस की मां भी उसे चलने का अभ्यास करने से रोकती नहीं, प्रत्युत उसका उत्साह बढ़ाती रहती है। अभ्यास करते-करते बच्चे को चलना आ जाता है। अब वह बिना गिरे चलने लगता है। चलने ही नहीं लगता, बिना गिरे दौड़ने लगता है। और नट का बच्चा तो पैरों में सींग बांध कर, ऊंचे बांसों पर बंधी हुई पतली रस्सी पर उन सींगों की नोक से, बिना गिरे, चलने और दौड़ने का अभ्यास भी कर लेता है। यह है अभ्यास की महिमा।

धर्म के मार्ग पर चलने की शक्ति भी इसी प्रकार अभ्यास करते-करते पैदा होती है। दुर्बलता के कारण धर्म के मार्ग से विचलित होते रहने से घबराइये नहीं। धर्म-मार्ग पर चलने का अपना निश्चय दृढ़ रखिये। उस निश्चय में ढील मत आने दीजिये। धर्म पर चलते रहने का अभ्यास निरन्तर करते रहिये। आप देखेंगे कि कुछ काल के पश्चात् आपके जीवन में धर्म के सत्य आदि अंग दृढ़ता के साथ जमते जा रहे हैं। साल-छः महीने के इस प्रकार के दृढ़ अभ्यास के पश्चात् जब आप अपने उस समय के जीवन का अपने साल छः महीने पूर्व के जीवन के साथ मिलान कर के देखेंगे तो आपको स्वयं आश्चर्य होगा कि आप धर्म के मार्ग पर कितना आगे बढ़ गये हैं! कहां थे और कहां आ गये हैं!

चरित्र की दैनिक पड़ताल

चरित्र को उन्नत करने के सम्बन्ध में हमारे ऋषियों ने हिदायत दी है कि "मनुष्य को प्रति दिन अपने चरित्र की पड़ताल करनी चाहिये। उसे प्रति दिन देखना चाहिये कि उस में पशुओं जैसी बुरी बातें कौन सी हैं और सत्पुरुषों जैसी अच्छी बातें कौन सी हैं। पशुओं की सी बुरी बातों का उसे परित्याग करते रहना चाहिये। और सत्पुरुषों की सी अच्छी बातों को उसे अपने चरित्र में ढालते रहना चाहिये[1]।" ईश्वरोपासना में हम प्रति दिन दोनों

१. प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः। किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिति।।

समय अपने चरित्र की यही जांच-पड़ताल करते हैं। परमात्मा को भी शास्त्रों में पुरुष कहा गया है। वे परम पुरुष हैं। परमात्मा में सब सद्‌गुणों का निवास है। इसलिये वे परम सत्पुरुष हैं। उपासना में हम इन्हीं परम सत्पुरुष की संगति में बैठते हैं। और अपने चत्रि का इन परम सत्पुरुष के गुणों के साथ मिलान कर के उन के गुणों को अपने भीतर धारण करने का प्रयत्न करते हैं तथा इन सद्‌गुणों के विरोधी पशुओं के से अपने अवगुणों का परित्याग करते हैं। इस प्रकार उपासना द्वारा निरन्तर उस परम सत्पुरुष की संगति में बैठते-बैठते हम भी उस जैसे ही सत्पुरुष बन जाते हैं। प्रभु में सत्य है। हम भी सत्य के धनी बन जाते हैं। प्रभु में न्याय है। हम भी न्याय पर चलने वाले बन जाते हैं। प्रभु में दया है। हम भी सब प्राणियों पर दया करने वाले—सब का भला करने वाले बन जाते हैं। प्रभु में ज्ञान है। हम भी सब प्रकार के अज्ञान और अन्ध-विश्वासों को त्याग कर भांति-भांति के ज्ञान-विज्ञानों का संग्रह करने वाले बन जाते हैं। प्रभु में बल है। हम भी अपनी सब प्रकार की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दुर्बलता को छोड़ कर अपने शरीर, मन और आत्मा को बलवान् बना लेते हैं। प्रभु में संयम है। हम भी अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखने वाले संयमी बन जाते हैं। प्रभु नियन्ता हैं—स्वयं नियमों में बंधे हैं और संसार को नियमों में चलाते हैं। हम भी नियमों में बंध कर चलने वाले बन जाते हैं। हम जिस क्षेत्र में रह कर कार्य करते हैं वहां के सब नियमों का पालन करने वाले बन जाते हैं। ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य के नियमों और कर्तव्यों का पालन करने लगता है, गृहस्थ गृहस्थाश्रम के, वानप्रस्थ वानप्रस्थाश्रम के और संन्यासी संन्यासाश्रम के नियमों और कर्तव्यों का भली-भांति पालन करने लगता है। शिष्य शिष्य के और गुरु गुरु के नियमों और कर्तव्यों का पालन करने लगता है। पत्नी-पत्नी के और पति-पति के नियमों और कर्तव्यों का पालन करने लगता है। प्रजा-जन प्रजा-जनों के और राज्याधिकारी राज्याधिकारियों के नियमों और कर्तव्यों का ठीक-ठीक पालन करने लगते हैं। इसी प्रकार प्रभु के अन्य गुण भी हमारे अन्दर आ जाते हैं।

केवल उपासना के मार्ग पर, प्रभु की संगति में बैठने के मार्ग पर, दृढ़ता के साथ चलते रहने की आवश्यकता है। अपने को ऊंचा और धार्मिक बनाने के इस प्रयत्न में प्राप्त होने वाली सफलता की गति के धीमेपन से हमें घबराना नहीं चाहिए। धर्म के मार्ग में हमारी थोड़ी-सी भी सफलता हमारा भला ही करती है। गीता में भगवान् कृष्णचन्द्र जी महाराज ने कहा

है—"थोड़ा-सा धर्म भी बड़े भारी भय से रक्षा करता है[1]।"

६.
उपासना के पांच लाभ

जैसा हम ऊपर कह आए हैं ईश्वर में विश्वास रखना धर्म का आवश्यक अंग है। ईश्वर में विश्वास रखना हमारे जीवन में परिवर्तन ला देता है। ईश्वर-विश्वास हमें सच्चे अर्थों में धार्मिक बना देता है और उससे हमें जीवन में अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। ईश्वर-विश्वास से मिलने वाले ये लाभ हमें ईश्वरोपासना द्वारा प्राप्त होते हैं। परन्तु वह उपासना, जैसा ऊपर भली-भांति स्पष्ट कर दिया गया है, परमात्मा को रिश्वत चढ़ाने की नीयत से—सौदे और व्यापार की मनोवृत्ति से—नहीं की जानी चाहिए। ऐसी उपासना निरा ढोंग और पाखण्ड है। उससे कुछ भी लाभ नहीं मिलता। परमात्मा के दरबार में ऐसी उपासना-प्रार्थना स्वीकार नहीं होती। उपासना तो जैसा ऊपर बताया गया है, प्रभु की संगति में बैठ कर प्रेम में भर कर उस के गुणों का चिन्तन करने द्वारा अपने चरित्र को ऊंचा उठाने की नीयत से की जानी चाहिये इस मनोवृत्ति से की जाने वाली ईश्वरोपासना किस प्रकार लाभ पहुंचाती है इसे ऊपर के पृष्ठों में अच्छी तरह खोल दिया गया है। इस प्रकार ईश्वर की भक्ति करने से हमें निम्न पांच लाभ प्राप्त होंगे—

१. प्रति दिन प्रातः-सायं दोनों समय घंटा-आधा घंटा, जितनी देर तक हम चाहें, इस प्रकार प्रेम में भर कर प्रभु की भक्ति करने से हमारे में पैदा हुई यह प्रभु के प्रति प्रेम की वृत्ति उतने समय के लिए हमें संसार की चिंताओं और कष्ट-क्लेशों से दूर कर के आनन्द की हालत में डाल देती है। उतनी देर के लिए हम आनन्दमय मस्ती और प्रसन्नता की अवस्था में रहते हैं। उतनी देर के लिए हम सुख ही सुख में रहते हैं और दुःख हमारे पास नहीं फटकते। भक्ति द्वारा हम दोनों समय अपनी इच्छा से जितने समय के लिए चाहें उतने समय के लिए अपने लिए आनन्द की अवस्था पैदा कर लेते हैं। यह भक्ति का भारी लाभ है। जब हम भक्ति से उठते हैं तो हमारे मन और शरीर में निराला उत्साह, फुर्तीलापन और चैतन्य होता है। जिस के फल-स्वरूप अपने दैनिक कार्यों में हमारा चित्त खूब लगता है । यह सब उपासकों का अनुभव है।

२. भक्ति के समय प्रेम में भर कर प्रभु के गुणों का चिंतन करने से हमारे अन्दर प्रभु जैसा बनने की इच्छा जाग उठती है। हम प्रभु के सत्य, न्याय, ज्ञान, बल,

१. स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। गीता २.४०

नियमपरायणता और दया आदि गुणों को अपने भीतर धारण करने लगते हैं। इनके विरोधी अपने असत्य, अन्याय आदि दुर्गणों को छोड़ने लगते हैं। इस प्रकार धीरे-धीरे हम प्रभु जैसे पुण्य-पवित्र बन जाते हैं। इस पवित्रता का फल यह होता है कि भविष्य में हमसे बुरे कर्म होने बन्द हो जाते हैं। इसीलिए हमें भविष्य में पाप-कर्मों का फल दुःख भी नहीं मिलेगा। यह स्मरण रहे कि भक्ति से पाप कटते हैं अर्थात् भविष्य में हम पवित्र रहेंगे, पाप नहीं करेंगे। परन्तु पहले किये जा चुके पाप-कर्मो का फल दुःख भक्ति से नहीं कटता है। वह तो भोगना ही पड़ता है।

हम भक्ति के समय अपने मन-द्वारा प्रभु के गुणों का चिन्तन कर के मानसिक रूप में उनके पास जा बैठते हैं। हम एक ऐसी सत्ता को अनुभव करने लगते हैं जो हमारे बाहर-भीतर सब ओर है और जिस में सत्य, न्याय, ज्ञान, बल, संयम, नियमपरायणता और दयालुता आदि गुण इतनी पूर्ण मात्रा में हैं कि उन की पराकाष्ठा हो गई है, हद हो गई है। इस परम पवित्र प्रभु की प्रेम-पूर्वक की हुई संगति हमें भी पवित्र बना देती है। संसार में और कोई संगति इतनी पवित्र नहीं है। इसलिये हमें प्रभु की उपासना करनी चाहिये। इस उपासना का फल यह होता है कि हम प्रभु के गुण धारण करके पवित्र बन जाते हैं और इसलिए भविष्य के लिये हमारे पाप से पैदा होने वाले दुःख भी कट जाते हैं।

३. भक्ति का तीसरा लाभ यह होता है कि हमारा संसार अधिक अच्छी तरह चलता है। जो लोग प्रभु की भक्ति में बैठ कर प्रभु के सत्य, न्याय, दया, ज्ञान, बल और नियमपरायणता आदि गुणों को अपने भीतर धारण कर लेंगे उनके सभी प्रकार के सांसारिक व्यवहार बहुत सुन्दर रीति से चलेंगे। उनके राज्य-प्रबन्ध अधिक बढ़िया हो जायेंगे। उनके व्यापार अधिक अच्छी तरह चलेंगे। उनके विद्यालय और विश्वविद्यालय अधिक उन्नति करेंगे। एक शब्द में, उनके सभी व्यवहार उत्तम रीति से चलेंगे। क्योंकि सब व्यवहारों का उत्तम रीति से चलना सत्य, न्याय आदि गुणों पर ही आश्रित है।

४. चौथा लाभ भक्ति का यह होता है कि जो लोग इस प्रकार प्रभु की संगति में बैठकर उनके गुणों को धारण करके अपने आप को पवित्र बना लेते हैं उनके निर्मल आत्माओं में प्रभु ज्ञान, बल और आनन्द आदि गुण संक्रान्त कर देते हैं। उनकी बुद्धि पैनी हो जाती है। वे मानसिक और शारीरिक रूप में पूर्वापेक्षया बहुत

अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं। और हरेक अवस्था में आनन्द-प्रसन्न रहते हैं। जैसे चुम्बक के पास पड़े हुए कच्चे लोहे में चुम्बक के गुण संक्रान्त हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रभु-भक्ति द्वारा पवित्र बन गये व्यक्ति में प्रभु के ज्ञान, बल और आनन्द आदि गुण संक्रान्त हो जाते हैं। और ये गुण प्राप्त कर के ऐसे लोगों का अपना जीवन भी दूसरे लोगों के लिये चुम्बकीय बन जाता है।

५. भक्ति का पाँचवाँ लाभ यह होता है कि इस प्रकार प्रभु-भक्ति द्वारा पूर्ण पवित्र बना हुआ व्यक्ति जब इस शरीर को छोड़ता है। तो वह इस पवित्रता के फलस्वरूप सीधा मुक्तावस्था में चला जाता है। उस अवस्था में यह प्रकृति के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो कर प्रभु का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। भगवान् आनन्दमय हैं, वेद के शब्दों में 'रस से तृप्त हैं'[१]। मुक्तावस्था के साक्षात्कार में भगवान् का यह आनन्द—यह अमृत—मुक्तात्मा में बहुत अधिक मात्रा में संकान्त हो जाता है। मुक्तात्मा एक बहुत लम्बे समय के लिये इस आनन्द का—इस अमृत का—उपभोग करता रहता है।

प्रभु-साक्षात्कार से जो आनन्द प्राप्त होता है वह इतना अधिक होता है कि उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। उपनिषदों के ऋषियों ने कहा है कि "वह आनन्द तो अन्तःकरण से अनुभव करने की वस्तु है, उसका वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता।"[२] सभी अनुभूतियों के साथ यह बात लगती है। नमक और खाण्ड का स्वाद कैसा होता है यह उन्हें चख कर अनुभव से ही जाना जा सकता है। जिसने नमक और खाण्ड कभी चखे नहीं हैं उसे शब्दों द्वारा इनका स्वाद कैसा होता है यह नहीं समझाया जा सकता। उसे नमक और खाण्ड खिला कर ही उनका स्वाद अनुभव कराया जा सकता है। यही बात भगवान् के साक्षात्कार से मिलने वाले आनन्द के सम्बन्ध में है। फिर भी उस आनन्द का हल्का सा अनुमान कराने के लिए उपनिषदों के ऋषियों ने कहा है—"एक पुरुष पूर्ण युवा हो, पूर्ण स्वस्थ हो, पूर्ण विद्यावान् हो, सुन्दर हो, उसकी पत्नी भी ऐसी ही हो, और वह सारी धरती का चक्रवर्ती सम्राट् हो जिसका कोई भी शत्रु न हो, ऐसे पुरुष के मन में जो प्रसन्नता और सुख होगा उसे एक पुरुष-सुख समझना चाहिए। ऐसे-ऐसे सौ पुरुष-सुखों को एक पितृ-सुख समझना चाहिये। ऐसे सौ पितृ-सुखों

---

१. रसेन तृप्तः। अथर्व. १०.८.४४।

२. समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।। मैत्रायण्युपनिषद् ४.६

को एक देव-सुख समझना चाहिये। और ऐसे सौ देव-सुखों को एक प्रजापति-सुख समझना चाहिये। ऐसे सौ प्रजापति-सुखों से भी अधिक सुख ब्रह्म-साक्षात्कार की अवस्था में पहुंचे हुए ब्रह्मज्ञानी को होता है[१]।'' ईश्वरोपासना से हम इस अद्‌भुत आनन्द को प्राप्त करने के अधिकारी हो जाते हैं। ईश्वर के साक्षात्कार का अद्‌भुत आनन्द होता है यह सभी साधकों का अनुभव है। ऋषि दयानन्द जब अठारह-अठारह घण्टे की समाधि लगा कर बैठा करते थे तो उस् समय के ईश्वर-साक्षात्कार के कारण वे आनन्द-विभोर हो जाते थे। आनन्द से उनका सारा शरीर रोमांचित हो जाया करता था और उनकी आंखों से आनन्द के आंसू झरने लगते थे। सभी पहुंचे हुए ईश्वर-भक्तों का ऐसा अनुभव है। ईश्वरोपासना हमें इस आनन्द की ओर ले जाती है।

भक्ति से ये पांच लाभ प्राप्त होते हैं। इसलिए हम सबको भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। पर भक्ति से ये पांच लाभ तभी प्राप्त होंगे जब हम उसके द्वारा भगवान् के सत्य, न्याय आदि गुणों को धारण करके पवित्र बन जायेंगे। क्लेश घटाने की नीयत से सौदे के रूप में की हुई भगवान् की खुशामद-रूप भक्ति से कोई लाभ प्राप्त नहीं होता है। भक्ति की वास्तविक मनोवृत्ति हमारे भीतर पैदा होनी चाहिये। तभी उससे लाभ होता है।

१. बृहदारण्यक-उपनिषद् ४.३.३३.

वैदिक धर्म और मांस-भक्षण

१.

वैदिक धर्म में मांस-भक्षण निषिद्ध है

मनुष्य को मांस खाना चाहिये या नही ? इस विषय में वैदिकधर्म का क्या मन्तव्य है यह मैंने आप के सम्मुख प्रस्तुत करना है। वैदिक धर्म में मांस का भक्षण सर्वथा निषिद्ध है। मांस न खाने के पक्ष में वैदिकधर्मियों के जो हेतु हैं उन्हें संक्षेप से नीचे उपस्थित किया जाता है—

वैदिक धर्म अहिंसा का धर्म है

वैदिक धर्म या आर्य-धर्म में, जिस का आज कल प्रचलित नाम हिन्दू-धर्म है, अहिंसा को सबसे बड़ा धर्म माना गया है। वेद में स्थान-स्थान पर उपदेश दिया गया है कि मनुष्यों को आपस में द्वेष नहीं करना चाहिये, परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिए। एक स्थान पर वेद में मनुष्यों को उपदेश देते हुए भगवान् कहते हैं—"हे मनुष्यों ! मैं परमेश्वर तुम्हारे लिये हृदय की समानता और मन की समानता तथा इनसे पैदा होने वाली परस्पर द्वेषहीनता की अवस्था करता हूं—अर्थात् मैं चाहता हूं कि तुम परस्पर मिल कर प्रेम-प्रीति-पूर्वक रहो। तुम एक-दूसरे को प्रेम-पूर्वक चाहो जैसे कि नये पैदा हुए अपने बछड़े को गौ चाहा करती है[1]।" केवल मनुष्यों के ही साथ नहीं, हमें प्राणिमात्र के साथ द्वेष-रहित प्रेम की वृत्ति रखनी चाहिए। इस सम्बन्ध में वेद का उपासक अपने भगवान् से हार्दिक प्रार्थना करता है कि "विघ्न और बाधाओं का विदारण करने वाले हे परमात्मन् ! मुझे दृढ़ बनाइये। सब प्राणी मुझे मित्र की आंख से देखा करें। मैं सब प्राणियों को मित्र की आंख से देखा करूं। हम सब एक-दूसरे को मित्र की आंख से देखा करें।"[2] प्रत्येक वैदिक धर्मी प्रति दिन प्रातः और सायं दोनों समय अपनी संध्योपासना में अपने भगवान् को सम्बोधन करके कहता है—"हे प्रभो ! जो कोई हम से द्वेष

१. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या। अथर्व. ३.३०.१।

इस मन्त्र और जिस सूक्त (अथर्व. ३.३०) का यह मन्त्र है उसकी विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' में देखिये।

२. दृते दृंह मा। मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजुः ३६.१८

इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक "वेदोद्यान के चुने हुए फूल" में देखिये।

करता है उसे हम आप की न्याय-व्यवस्था के शिकञ्जे के अर्पण कर देते हैं[1]।" इस वाक्य को उपासक सन्ध्या में छः बार दोहराता है। अपनी इस मनोभावना को भगवान् के सम्मुख व्यक्त करते हुए उपासक पूर्ण रूप से अहिंसामयी वृत्ति का परिचय देता है। वह अपने साथ द्वेष करने वाले को स्वयं दण्ड देना नहीं चाहता है। वह उसे परमात्मा के सिपुर्द कर देता है कि वे जैसा चाहें उसके साथ करें। मैं स्वयं तो अपने से द्वेष करने वाले को भी दण्डित नहीं करना चाहूंगा। वेद में स्थान-स्थान पर पशुओं और पक्षियों की रक्षा करने और उन्हें न मारने के उपदेश दिये गये हैं। वेद के इस प्रकार के उपदेशों का स्पष्ट और सीधा अभिप्राय यही है कि हमारा जीवन पूर्ण रूप से अहिंसाशील होना चाहिए—हमें अपने स्वार्थ के लिये किसी को कष्ट नहीं पहुंचाना चाहिये, हमें प्राणिमात्र के साथ स्नेह, दया और मित्रता का बरताव करना चाहिये और जहां तक हो सके सब प्राणियों का उपकार करना चाहिये।

वेद के इस प्रकार के उपदेशों को ध्यान में रखते हुए हमारे शास्त्रकारों ने भी जीवन में अहिंसा पर बड़ा भारी बल दिया है। आर्यों के सबसे बड़े शास्त्रकार महाराज मनु ने अपने धर्मशास्त्र में चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लोगों के लिये अत्यावश्यक धर्म के दस लक्षणों[2] में एक 'क्षमा' को भी गिनाया है। अपने अपराधी को दण्ड न दे कर छोड़ देना क्षमा कहलाती है। जब तक हमारे अन्दर अहिंसा की वृत्ति न हो तब तक हम क्षमाशील नहीं बन सकते। क्षमा करने वाले के लिये अहिंसा-शील होना आवश्यक है। उसे अपने क्रोध को जीतना आवश्यक है। इसीलिये मनु महाराज ने धर्म के इन दस लक्षणों में 'क्रोध न करना' भी धर्म का एक अंग गिनाया है। दूसी जगह महाराज मनु कहते हैं—"जो व्यक्ति धर्म का जीवन बिताना चाहता है उसे अहिंसाशील हो कर सब प्राणियों का कल्याण करना चाहिये और सबके साथ मीठी और चिकनी वाणी का प्रयोग करना चाहिये[3]।" "जो व्यक्ति अपने कर्तव्यों का दृढ़ता के साथ पालन करता है, कोमल स्वभाव का रहता है, इन्द्रियों को वश में करके रखता है, क्रूर आचरणों और क्रूर आचरण वाले लोगों से दूर रहता है, अहिंसक होता है और मन को वश में रखने वाला होता है तथा अपने विद्या, धन आदि का दान करता रहता है वह इन सब व्रतों का

१. योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः। अथर्व. ३.२७.१–६।
२. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्। मनु. ६.९२।
३. अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता। मनु. २.१५९।

पालन करके अपने लिये स्वर्ग को जीत लेता है[1]।" "इन्द्रियों को वश में कर के, राग और द्वेष का क्षय कर के, प्राणियों के प्रति अहिंसा का व्यवहार कर के, व्यक्ति अमृतपद प्राप्त करने के योग्य हो जाता है[2]।" "अहिंसा के द्वारा, इन्द्रियों को विषयों में आसक्त न होने देने के द्वारा, वैदिक कर्मों के अनुष्ठान द्वारा और उग्र तपश्चरणों द्वारा लोग उस परम पद को सिद्ध कर लेते हैं[3]।" "जो मनुष्य अधार्मिक होता है, जो झूठ का सहारा ले कर धन कमाता है और जो सदा हिंसा में रत रहता है वह सुखी नहीं होता[4]।" इतना ही नहीं। राज-धर्म का उपदेश देते हुए मनु महाराज ने दस काम[5] से उत्पन्न होने वाले दोष और आठ क्रोध[6] से उत्पन्न होने वाले दोष गिनाए हैं, जिन से राजा को और राज-कर्मचारियों को सदा बच कर रहना चाहिये। वहां काम से पैदा होने वाले दस दोषों में एक दोष मृगया अर्थात् पशु-पक्षियों का शिकार खेलना भी गिनाया गया है। और मृगया को कामज दस दोषों में से प्रधान चार[7] दोषों में सम्मिलित किया गया है। इस प्रकार मनु महाराज ने अन्य वर्णो के लिये तो अहिंसा का विधान किया ही है, राजा और क्षत्रियों तक के लिये भी पशु-पक्षियों का शिकार खेलना मना किया है और शिकार खेलने को बड़ा भारी दोष माना है। इतना बल अहिंसा पर मनु देते हैं। महाभारत आदि इतिहास-ग्रन्थों में भी हिंसा की निन्दा की गई है और क्षमा तथा अहिंसा को श्रेष्ठ बताया गया है। धृतराष्ट्र को दिये गये

---

१. दृढ़कारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन्।
अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत, स्वर्गं तथाव्रतः। मनु. ४.२४६।

२. इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते। मनु. ६.६०।

३. अहिंसयेन्द्रियाऽसङ्गैर्वैदिकैश्चैव कर्म्मभिः।
तपश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम्। मनु. ६.७५।

४. अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते। मनु. ४.१७०।

५. मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः। मनु.७.४७।

६. पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयाऽर्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोपि गणोऽष्टकः। मनु. ७.४८।

७. पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम्।
तत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे। मनु. ७.५०।
दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा। मनु. ७.५१।

उपदेशों में विदुर जी ने यह भी कहा है कि "असाधु लोग हिंसा में बल समझते हैं परन्तु गुणी लोग क्षमा में बल समझते हैं[1]।" इस प्रसंग में धर्मशास्त्रों, इतिहासों और पुराणों से और भी जितने चाहें प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। पर उसकी आवश्यकता नहीं है। भारतीय आर्यो की विचार-परम्परा में अहिंसा को सबसे बड़ा धर्म माना गया है इसे आर्य-साहित्य का अध्ययन करने वाला प्रत्येक व्यक्ति भली-भांति जानता है। इसी विचार का सूचक बड़ा प्रसिद्ध वाक्य **'अहिंसा परमो धर्मः'** आर्यों में खूब प्रचलित है।

इस सम्बन्ध में हम अपने सुप्रसिद्ध दर्शन योगदर्शन की सम्मति का उल्लेख और कर देना चाहते हैं। योगदर्शन में जीवन को पवित्र बनाने के साधनों का वर्णन किया गया है, जिन साधनों के अनुष्ठान द्वारा अपने जीवनों को सर्वथा निष्पाप, निष्कलङ्क, निर्मल और पवित्र बना कर एक दिन हम परमात्मा के दर्शन करने में समर्थ बन जायेंगे। उन साधनों में शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन पांच नियमों[2] और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों यमों[3] का भी वर्णन किया गया है। और इन यम-नियमों का पालन अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। महर्षि पतञ्जलि के यम और नियमों विषयक सूत्रों की व्याख्या करते हुए महर्षि व्यास अपने भाष्य में लिखते हैं—"किसी भी प्राणी के साथ कभी भी किसी भी प्रकार से द्वेष न करने को अहिंसा कहते हैं। शेष यम और नियमों का मूल अहिंसा ही है और अहिंसा की सिद्धि के लिए ही, अहिंसा का भली-भांति प्रतिपादन (पालन) करने के लिए ही, उनका प्रतिपादन (पालन) किया जाता है। अहिंसा को ही शुद्ध रूप में पालन करने के लिए शेष-यम नियमों का उपादान (ग्रहण-पालन) किया जाता है[4]।" इस प्रकार योगदर्शन की सम्मति में यम-नियमों में अहिंसा सर्व-प्रधान है। अहिंसादि पांचों यमों के निरपवाद और पूर्णरूप से पालन को योगदर्शन में 'महाव्रत'[5] कहा गया है। योगदर्शनकार की सम्मति में 'अहिंसा'

---

१. हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् महा. उद्योगपर्व ३९.६९।

२. शौच-सन्तोष-तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमः। योग. २.३२।

३. अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः योग, २.३०।

४. तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः। उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते। तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते। योग. भाष्य २.३०।

५. जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। योग. २.३१।

सब से बड़ा महाव्रत है। इस अहिंसा रूप महाव्रत के पालन के लिये ही शेष सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन 'महाव्रतों' और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान इन 'व्रतों' का पालन किया जाता है। जिस में सत्य आदि यम और नियम नहीं हैं वह अहिंसा-रूप यम का पालन नहीं कर सकता। इसी लिये सत्य आदि के पालन की आवश्यकता पड़ती है। साध्य तो अहिंसा है। सत्य आदि का पालन तो अहिंसा के साधन के रूप में करना पड़ता है। यह है अहिंसा के सम्बन्ध में आर्यों के सुप्रसिद्ध और अपने प्रकार के अद्वितीय दर्शन योगदर्शन की सम्मति। उस की सम्मति में भी अहिंसा सब से बड़ा धर्म है—सब से बड़ा 'महाव्रत' है।

अहिंसा सभी वर्णों और सभी आश्रमों का धर्म है

कोई कह सकता है कि योगदर्शन तो योगी-महात्माओं के लिये है। उन लोगों के लिये है जो परमात्मा की तलाश में लगना चाहते हों। सांसारिक लोगों के लिये योगदर्शन नहीं है। योगी-महात्मा लोग इस प्रकार की अहिंसा का पालन करते रहें। जिन्हें अपना संसार चलाना है उन्हें ऐसी अहिंसा नहीं चाहिये। ऐसा कहने वाले लोगों का यह विचार भ्रान्त है। आर्य-शास्त्रों में यम और नियमों का विधान केवल योगी-महात्माओं के लिये ही नहीं है। आर्य-शास्त्रों में यम-नियमों का पालन सभी वर्णों और सभी आश्रमों के लिये आवश्यक बताया गया है। मनु आदि धर्म-शास्त्रों में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, राजा और प्रजा, सभी के लिये यम-नियमों के पालन का आदेश दिया गया है। वैदिक-धर्म के इस युग के सबसे बड़े प्रचारक महर्षि दयानन्द ने भी अपने सत्यार्थप्रकाश और संस्कार-विधि आदि ग्रन्थों में मनु आदि धर्म-शास्त्रों के प्रमाण देते हुए यम-नियमों के पालन को सभी आश्रमों और सभी वर्णों के लोगों के लिए आवश्यक बताया है।

फिर एक बात और इस सम्बन्ध में स्मरण रखने की है। योगाभ्यास भी केवल वानप्रस्थियों और संन्यासियों के लिये ही नहीं है। आर्य-शास्त्रों में योगाभ्यास को शिक्षा का आवश्यक अङ्ग माना गया है। विद्यार्थी-काल में ही अन्यान्य विषयों की शिक्षा के साथ-साथ योगाभ्यास की शिक्षा भी आरम्भ हो जायेगी। प्राचीन शास्त्रों के आदेशों को ध्यान में रख कर ऋषि दयानन्द ने भी अपनी शिक्षा-विधि में ब्रह्मचारी के लिए योगाभ्यास को आवश्यक रखा है। ऋषि दयानन्द ने ब्रह्मचारी और गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी सभी के लिए योग का अभ्यास करने का आदेश दिया है। इस प्रकार यम और नियमों का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। अहिंसा

यम-नियमों में सर्वप्रधान है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति के लिए अहिंसा का प्रधान रूप से पालन करना आवश्यक है।

अहिंसा के दो रूप

अहिंसा के दो रूप होते हैं। एक निषेधात्मक और दूसरा विध्यात्मक। अपने सुख-आराम के लिये—अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये—किसी भी प्राणी को किसी भी अवस्था में पीड़ित न करना, कष्ट न पहुंचाना, यह अहिंसा का निषेधात्मक (Negative) रूप है। मेरे पास-पड़ोस में जो प्राणी पीड़ित हैं, जो प्राणी कष्ट में पड़े हैं. उनके पास जा कर उनके कष्ट को दूर करना—चाहे यह कष्ट भूख-प्यास का हो, नंगेपन का हो, निर्धनता का हो, रोगों का हो, अविद्या का हो, और चाहे किसी अन्य प्रकार का हो—अहिंसा का विध्यात्मक (Positive) रूप है।

पूर्ण अहिंसा

जब कोई व्यक्ति अहिंसा के इन दोनों रूपों का पूर्ण रूप से पालन करने लग जाता है। तो उसमें अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है। और जब किसी समाज या राष्ट्र की यह अवस्था हो जाती है कि उसमें कोई किसी को सताता नहीं, कोई किसी को पीड़ित नहीं करता, कोई किसी पर अत्याचार नहीं करता, कोई किसी के अधिकारों को नहीं हड़पता, कोई किसी को अपना गुलाम नहीं बनाता, कोई बलवान किसी निर्बल को डराता और दबाता नहीं, सब के साथ पूर्ण न्याय का बर्ताव होता है, और जहां सब एक-दूसरे की सहायता करते हैं, एक-दूसरे के कष्टों को निवारण करने में तत्पर रहते हैं तथा एक-दूसरे के सुख-आराम को बढ़ाने का पूरा प्रयत्न करते हैं। और इस प्रकार जिसके घर-घर में सुख और आनन्द की गंगा बहती रहती है, तो उस समाज या राष्ट्र में अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है। वहां अहिंसा अपने पूर्ण रूप में विराज रही होती है।

अहिंसा का सिद्धान्त वैदिक-धर्म का अपना सिद्धान्त है

आज कल के हिन्दुओं की कुछ निर्बलताओं को देख कर और उन्हें दूर करने की भावना से प्रेरित हो कर कुछ हिन्दू लोग, जो कि पूर्ण विचार से काम नहीं लेते, यह कह देते हैं कि अहिंसा को परम-धर्म मानने का—अहिंसा को सबसे बड़ा धर्म मानने का—सिद्धान्त हिन्दू-धर्म या आर्य-धर्म का सिद्धान्त नहीं है। उनकी सम्मति में यह सिद्धान्त बौद्ध और जैन लोगों का सिद्धान्त है। उन लोगों की ऐसी धारणा ठीक नहीं है। जैसा ऊपर की पंक्तियों में दिखाया

गया है अहिंसा को सब से बड़ा धर्म मानने का सिद्धान्त आर्य-शास्त्रों का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त बौद्ध और जैनों का नहीं है। बौद्ध और जैन लोगों ने यह सिद्धान्त वैदिक धर्मियों से लिया है। यह सिद्धान्त ऐसा है कि प्रत्येक विचारशील मनुष्य इसे व्यक्ति और समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक मानेगा। संसार की समाज-संघटन सम्बन्धी पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद और वर्णाश्रम-व्यवस्था आदि जितनी भी पद्धतियें हैं, एकतन्त्रीय और प्रजातन्त्रीय जितनी भी शासन व्यवस्थायें हैं, संसार के जितने भी राजनैतिक विचारक हैं, और जितने भी समाज के संघटन पर विचार करने वाले लोग हैं, सभी सिद्धान्त-रूप में समाज की ऐसी व्यवस्था करना चाहते हैं जिसमें कोई किसी को पीड़ित नहीं कर सकेगा, कोई किसी पर अत्याचार नहीं कर सकेगा, कोई किसी के अधिकारों को नहीं हड़प सकेगा, सब परस्पर का सहयोग करेंगे और इस प्रकार सब के घरों में सुख और आनन्द की गंगा बहेगी। सभी विचारक और सभी पद्धतियें अहिंसा के सिद्धान्त पर ही समाज की रचना और व्यवस्था करना चाहते हैं। इस प्रकार अहिंसा का सिद्धान्त तो सार्वभौम सिद्धान्त है। संसार के सभी विचारक इसे सबसे बड़ा कर्तव्य—सबसे बड़ा धर्म—मानते हैं। अन्य देशों के विचारकों ने चाहे अहिंसा शब्द का प्रयोग न किया हो पर बात वे वही कहते हैं जो आर्य-शास्त्रों में अहिंसा शब्द द्वारा कही गई है। यदि हिन्दू-धर्म अहिंसा के सिद्धान्त को छोड़ देता है तो वह अपनी सब से कीमती चीज को खो बैठता है। हिन्दू-धर्म संसार के पीड़ित लोगों को जो सब से बड़ा सन्देश दे सकता है वह अहिंसा का धर्म ही है। अहिंसा का सिद्धान्त वैदिक धर्म का—हिन्दू-धर्म का—सिद्धान्त है और उसे इस बात का अभिमान है कि संसार में सब से पहले इस सिद्धान्त का आविष्कार और प्रचार उसी ने किया है। यह सिद्धान्त बौद्ध और जैन लोगों का अपना नहीं है। यह उन्होंने वैदिक धर्म से उधार लिया है। और इस अंश में बौद्ध और जैन लोग वैदिक धर्म की ही बात कहते हैं और उस के ऋणी हैं[1]।

१. जैसा अभी ऊपर के पृष्ठों में हम ने देखा है आर्यों (हिन्दुओं) के धर्म-शास्त्रों में अहिंसा के सिद्धान्त को धर्म का सब से प्रधान अङ्ग माना गया है। और उस के पालन पर अत्यधिक बल दिया गया है। आर्य-शास्त्रों में अहिंसा को परम धर्म-सब से बड़ा धर्म-माना गया है। 'अहिंसा परमो धर्मः' यह प्रसिद्ध वाक्य भी हिन्दुओं के ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर पाया जाता है। उदाहरण के लिये पद्मपुराण में कहा गया है-"अहिंसा परमो धर्मो ह्यहिंसैव परं तपः, अहिंसा परमं दानमित्याहुर्मनीषिणः।"

पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड ३१.२७

अहिंसा डरपोक नहीं बनाती

कुछ लोगों की यह भी भ्रान्त धारणा है कि अहिंसा का सिद्धान्त लोगों को डरपोक और दब्बू बना देता है। अपने जीवन में अहिंसा का पूर्ण पालन करने वाले संसार के बड़े-बड़े लोग दब्बू और डरपोक् नहीं होते रहे हैं। वे पूर्ण निर्भय होते रहे हैं। और निर्भय हो कर बड़े-से-बड़े विरोध के सामने भी अपनी बातें लोगों को सुनाते रहे हैं। अपने जीवनों में अहिंसा का पूर्ण पालन करने वाले महात्मा बुद्ध, हज़रत ईसा, महर्षि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा गांधी जैसे महानुभाव दब्बू और डरपोक नहीं थे। वे सब कष्ट सह कर भी निडर हो कर, बड़े-से-बड़े विरोध के सामने भी अपनी बातें संसार को सुनाने की शक्ति रखते थे। ऐसे लोगों के पास भय फटकता भी नहीं। महात्मा गान्धी को तो सारे ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति भी डरा सकने का सामर्थ्य नहीं रखती थी। महात्मा गान्धी के उपदेशों और जीवन के उदाहरण ने तो भारत भर की जनता को निडर बना दिया था जिसका परिणाम-स्वरूप लोग छाती खोल कर ब्रिटिश संगीनों का मुकाबला करते थे और जेलों में जाने को उद्यत रहते थे। लोगों ने ऋषि दयानन्द को बार-बार ज़हर पिलाया और तलवार से गरदन उड़ा देने की धमकियें दीं, फिर भी ऋषि निर्भय हो कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। ऋषि दयानन्द के परम भक्त और शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द ने दिल्ली के चांदनी-चौक में गोरखों की संगीनों के आगे निर्भीक भाव से अपनी छाती खोल दी थी। अहिंसा-धर्म का पालन किसी को डरपोक नहीं बनाता है। व्यक्ति को डरपोक बनाने वाले कारण तो कोई और ही होते हैं।

अहिंसा और क्षात्र-धर्म

यहां एक बात ध्यान में रखने की है। वैदिक धर्म अहिंसा को सब से बड़ा धर्म मानते हुए भी क्षात्र-धर्म या राज-धर्म का उपदेश भी साथ ही देता है। वैदिक धर्म की वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति में क्षत्रिय वर्ण का भी स्थान है। क्षत्रिय-धर्म या राज-धर्म में पुलिस और सेनाओं का भी स्थान है, जेलखानों और शस्त्रास्त्रों का भी स्थान है। और क्षत्रिय-धर्म में युद्धों का भी स्थान है। क्षत्रिय-धर्म या राज-धम्र का पालन में आवश्यकता होने पर किसी व्यक्ति को जेल में भी डाला जा सकता है, गोली से भी उड़ाया जा सकता है और फांसी पर भी लटकाया जा सकता है। तथा आवश्यकता पड़ने पर युद्ध कर के रुधिर की नदियें भी बहाई जा सकती हैं। इस भांति एक प्रकार की हिंसा का विधान भी वैदिक धर्म में है। तब इस हिंसा और

अहिंसा के परम धर्म होने के सिद्धान्त का आपस में समन्वय कैसे होगा—दोनों की संगति कैसे बैठेगी ?

इन दोनों बातों की संगति हो जाती है। हमारा अहिंसा का व्रत है। हम अपनी ओर से सब के साथ अहिंसा का ही बरताव करेंगे। अपने सुख-आराम और अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये हम कभी किसी के साथ हिंसा का व्यवहार नहीं करेंगे। परन्तु यदि हमारे साथ कोई हिंसा का बरताव करेगा तो हम अपनी आत्म-रक्षा के लिये हिंसा का प्रयोग कर सकते हैं। जो व्यक्ति हमारे साथ हिंसा का व्यवहार करता है उसे रोकने के लिये हमें कितना दण्ड उसे देना चाहिए इसका निश्चय करना अकेले व्यक्ति के लिए आसान नहीं होता। जब हमारे साथ अन्याय और अत्याचार हो रहा हो तो हम आवेश में आ कर अन्याय करने वाले व्यक्ति को उसके अपराध के अनुपात से बहुत अधिक दण्ड भी दे सकते हैं। इससे बचने के लिये राज-धर्म में यह व्यवस्था कर दी जाती है कि कोई व्यक्ति किसी अपराधी को स्वयं दण्ड नहीं देगा। अपराधी की शिकायत पुलिस और न्यायालय में की जायेगी। न्यायाधिकारी जितना उचित समझेंगे उतना दण्ड अपराधी को देंगे। और यदि ऐसी अवस्थायें हों कि हमारे जीवन का ही खतरा हो और उस समय पुलिस आदि तक जाने का अवकाश ही न हो तो आत्म-रक्षा के लिये कोई व्यक्ति स्वयं भी यथोचित हिंसा का प्रयोग कर सकता है।

इसी प्रकार हमारा राष्ट्र भी अहिंसा का व्रती रहेगा। वह अपनी ओर से कभी दूसरे राष्ट्र के साथ अन्याय नहीं करेगा और उसके अधिकारों पर छापा नहीं मारेगा। हमारा राष्ट्र अपनी ओर से कभी किसी दूसरे राष्ट्र को पीड़ित नहीं करेगा। हमारा राष्ट्र अपनी ओर से पहल करके कभी किसी दूसरे राष्ट्र के प्रति हिंसा का बरताव नहीं करेगा। किन्तु यदि कोई दूसरा राष्ट्र हमारे राष्ट्र के साथ अन्याय करता है, हमारे राष्ट्र के अधिकारों पर छापा मारता है, हमारे राष्ट्र को पीड़ित करता है और इस प्रकार हमारे राष्ट्र के साथ हिंसा का व्यवहार करता है तो अपनी रक्षा के लिये हमारा राष्ट्र इस दूसरे राष्ट्र से युद्ध भी कर सकता है। राज-धर्म में ऐसी अवस्थाओं में युद्ध करने की व्यवस्था रहती है। परन्तु किसी राष्ट्र के साथ युद्ध करने का अन्तिम निश्चय करने से पहले शान्ति के सारे उपायों का अवलम्बन कर लेना होगा, हलकी मनोवृत्ति से युद्ध नहीं छेड़ देना होगा। युद्ध की घोषणा करने से पहले अपनी राष्ट्र-सभा में उस के सम्बन्ध में पूर्ण विचार कर लेना होगा। राज-सभा की स्वीकृति के अनन्तर ही युद्ध छेड़ा जा सकेगा। यह आत्म-रक्षा का युद्ध हमारा अहिंसा-व्रती राष्ट्र कर सकेगा।

व्यक्ति और राष्ट्र दोनों ही आत्म-रक्षा के लिये हिंसा का अवलम्बन कर सकते हैं। वेद में इस प्रकार की हिंसा करने की आज्ञा है। पौराणिक-धर्मावलम्बी याज्ञिक लोगों में एक कहावत प्रसिद्ध है कि **"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"**, अर्थात् "वेद में जिस हिंसा का विधान है वह हिंसा हिंसा नहीं हुआ करती।" याज्ञिक लोग तो यज्ञों में की जाने वाली पशु-हिंसा के सम्बन्ध में ऐसा कहते हैं। यज्ञों के सम्बन्ध में तो उनका ऐसा कहना गलत है। वेद में यज्ञों में पशु-हिंसा करने का विधान बिलकुल भी नहीं है[1]। इस विषय में अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं। स्थानाभाव से यहां वैसा कर सकना संभव नहीं है।

अन्यायी और अत्याचारी दस्यु कोटि के लोगों से आत्म-रक्षा करने के लिये हिंसा के प्रयोग की आज्ञा वेद में है। आत्म-रक्षा के लिये व्यक्ति भी हिंसा का अवलम्बन कर सकता है और राष्ट्र भी। वेद में विहित ऐसी हिंसा हिंसा नहीं होती। क्योंकि वह हिंसा हिंसा करने की नीयत से नहीं की जाती, वह तो हिंसा को रोकने की नीयत से की जाती है। उस हिंसा के द्वारा तो हम अपने ऊपर हो रही हिंसा से अपना बचाव करते हैं और हिंसक को दण्ड दे कर भविष्य में उसे हिंसा से रोकने की कोशिश करते हैं। रूपान्तर से वह हिंसा अहिंसा बन जाती है। एक शल्य-चिकित्सक (Surgeon) रोगी के अङ्गों को अपने शस्त्रों से काटता है। प्रकट में तो वह उस समय हिंसा कर रहा है—रोगी को पीड़ा दे रहा है। परन्तु शल्य चिकित्सक की यह हिंसा रोगी को भविष्य में सुखी बनाने की नीयत से है। उस की वह हिंसा अहिंसा का ही अङ्ग है। रूपान्तर से वह हिंसा अहिंसा ही है। इसी दृष्टि से वेद-शास्त्रों ने व्यक्ति और राष्ट्र को विशेष अवस्थाओं में अपनी रक्षा के लिये हिंसा के प्रयोग की आज्ञा दी है।

अनेक लोग ऐसी मनोवृत्ति के होते हैं जो उनके प्रति किये जा रहे हमारे अहिंसा के बरताव को हमारी कमजोरी का प्रमाण समझते हैं। और हमें कमज़ोर समझ कर हमारे साथ मनमाना बरताव करते हैं। ऐसे लोगों से अपनी रक्षा करने के लिए व्यक्ति और राष्ट्र को हिंसा के प्रयोग की भी आवश्यकता पड़ जाती है। वैदिक धर्म में क्षात्र-धर्म और राज-धर्म का उपदेश इसी अभिप्राय से किया जाता है।

हमारा मुख्य धर्म अहिंसा ही है। कभी-कभी अपवाद रूप में, अहिंसा की स्थापना के

१. इस सम्बन्ध में इसी ग्रन्थ के 'वेद और गोपालन' प्रकरण में 'गौवों की हतया नहीं की जा सकती' (पृष्ठ ४२-४५) और 'यज्ञों में गो-हिंसा वेद-विरुद्ध है' (पृष्ठ ४९-५०) नामक खण्डों को देखिये।

लिये, हिंसा का अवलम्बन भी करना पड़ जाता है। परन्तु हमें हिंसा का प्रयोग यों ही हलकेपन से नहीं करने लग जाना चाहिये। हमारी स्वयं की मनोवृत्ति पूर्ण अहिंसा की रहनी चाहिये। हमें अहिंसा-व्रती होना चाहिये। हमें स्वयं तो कभी पहल कर के हिंसा करनी ही नहीं चाहिये। हमारे साथ कोई दूसरा हिंसा का प्रयोग करे–हमें कष्ट पहुंचाना चाहे–तो भी हमें बदले में झट हिंसा का प्रयोग नहीं करने लग जाना चाहिये। हमें यथासंभव उसे क्षमा करने और समझाने का प्रयत्न करना चाहिये। जब लाचारी ही हो जाये तभी हमें अपने बचाव की दृष्टि से हिंसा का प्रयोग करना चाहिये और वह भी यथासंभव कम-से-कम मात्रा में। हमें अपने महापुरुषों का चरित्र स्मरण रखना चाहिये। महाराज रामचन्द्र जी ने अन्तिम समय तक युद्ध को रोकने की कोशिश की थी। लङ्का में अपनी सेनायें उतार देने के पश्चात् भी उन्होंने अङ्गद को भेज कर रावण से संधि करने का प्रस्ताव किया था। महाराज कृष्णचन्द्र जी ने शिशुपाल के १०० अपराध क्षमा किये थे। महाभारत का युद्ध न हो इसके लिये वे इस बात पर भी संधि करने के लिये उद्यत हो गये थे कि सारा या आधा राज्य न सही, पाण्डवों को केवल पांच गाँव ही दे दिये जायें। ऋषि दयानन्द जैसे महापुरुष अपने को विष देने वाले लोगों को भी क्षमा करते रहे हैं। हमारा धर्म तो अहिंसा ही है। हिंसा तो केवल आपद्धर्म है। वैदिक-धर्म अहिंसा और हिंसा का इस प्रकार समन्वय–संगति–करता है।

मांस-भक्षण के लिए की जाने वाली हिंसा सब से बड़ा पाप है

जब वैदिक-धर्म–हिन्दू-धर्म–की दृष्टि में अहिंसा सब से बड़ा धर्म है तो वह हिंसा जी अत्याचारी से अपनी रक्षा करने के लिये न की गई हो स्वयं ही सबसे बड़ा पाप हो जाती है। और मांस का भोजन इसी प्रकार की हिंसा के द्वारा प्राप्त होता है। इस लिये मांस-भक्षण वैदिकधर्म की दृष्टि में सब से बड़ा पाप है। अतः मांस-भक्षण करने का यह सब से बड़ा पाप-कर्म हमें नहीं करना चाहिये।

हिंसा सब से बड़ा पाप क्यों है ?

मांस-भक्षण के लिये की जाने वाली हिंसा क्यों सब से बड़ा पाप है। इसे ज़रा समझ लेना चाहिये। अपने सुख-आराम के लिये, अपनी स्वार्थपूर्ति और खुदगर्ज़ी के लिये, दूसरे प्राणी को कष्ट देना पाप कहलाता है। चोरी करना, झूठ बोलना आदि हमारे अन्य जितने भी पाप

हैं उन्हें कर के जब हम किसी व्यक्ति को हानि पहुंचाते हैं तो हम उसकी परिपूर्ण हानि (Complete Damage) नहीं करते। हम उस की चाहे कितनी ही बड़ी हानि क्यों न करें फिर भी वह आंशिक हानि (Partial Damage) ही रहती है। और फिर यदि हम चाहें तो इस हानि का प्रतीकार भी कर सकते हैं। मान लीजिए हमने किसी के दो लाख रुपये चुरा लिये। हम ने उसे बड़ी भारी हानि पहुंचाई। फिर भी यह हानि आंशिक है। हम ने उस का सब कुछ नहीं छीन लिया। उस के पास फिर भी कुछ-न-कुछ बचा रहता है। मान लीजिये हम ने किसी का घर-बार ही फूंक दिया—किसी की सारी सम्पत्ति ही नष्ट कर दी। हमने उसे बहुत बड़ी हानि पहुंचाई। फिर भी यह हानि आंशिक है। हमने उसका सब कुछ नहीं नष्ट कर दिया है। उस के पास फिर भी कुछ-न-कुछ बचा रहता है। और नहीं तो उसका जीवन तो बचा ही रहता है। काम करने के लिये उस का मस्तिष्क और दो हाथ और दो पैर तो बचे ही रहते हैं। वह उन के सहारे फिर भी सब कुछ पैदा कर लेगा। हम चाहें तो इस हानि का प्रतीकार भी कर सकते हैं। हम उस के दो लाख रुपये वापिस कर सकते हैं, उस का घर फिर बनवा दे सकते हैं, फिर उस को उस की सारी सम्पत्ति दे सकते हैं। हम उस से क्षमा भी मांग सकते हैं। और नहीं तो राज्य द्वारा हमें दण्ड मिल कर उस का आत्म-सन्तोष हो सकता है। परन्तु जब हम मांस-भक्षण के लिये किसी प्राणी को मारते हैं तो हम उसे जो हानि पहुंचाते हैं वह परिपूर्ण हानि (Complete Damage) होती है। हम उस प्राणी का सब कुछ छीन लेते हैं। हम उसका जीवन ही ले लेते हैं। उसे अपने जीवन में जो सुख और आनन्द प्राप्त होने थे हम उस के उन सब सुख और आनन्दों को उस से छीन लेते हैं।

एक गाय जब अपने बछड़े को और एक बकरी जब अपने मेमने को चाट रही होती है, तथा बछड़ा और मेमना उन्हें चाट रहे होते हैं और पूंछ उठाकर प्रसन्नता से सिर मार-मार कर उनका दूध पी रहे होते हैं, तो उन्हें उस से कम आनन्द नहीं आ रहा होता। जितना आनन्द हमारी माता को अपने बच्चे को चूमते समय और बच्चे को हूं-हूं कर के अपनी मां का दूध पीते समय आ रहा होता है। एक गाय और बकरी को हरी घास चरते समय उस से कम आनन्द नहीं आ रहा होता जितना हमें अपने बढ़िया-बढ़िया भोजन करते समय आ रहा होता है। गाय और बकरियों को मैदानों में दौड़ते और कूदते हुए उस से कम आनन्द नहीं आ रहा होता है जितना हमें खेलते और कूदते हुए आता है। गाय और बकरी जब प्रातःकाल की मीठी धूप में खड़ी हो कर आंखें मींच कर जुगाली कर रही होती हैं तो उन्हें उस से कम आनन्द

नहीं आ रहा होता है जितना हमें प्रातःकाल की धूप सेंकने में आता है। गाय-बकरी के और मनुष्य के सब शारीरिक आनन्द एक जैसे है। हमारे शारीरिक आनन्द जितना हमें प्रसन्न करते हैं, गाय-बकरी के शारीरिक आनन्द भी उन्हें उतना ही प्रसन्न करते हैं। यही बात अन्य पशु-पक्षियों की है। उनके भी अपने-अपने आनन्द हैं। वे भी अपने आनन्दों को प्राप्त कर के अपने में उतना ही प्रसन्न होते हैं जितना हम होते हैं। जब हम किसी पशु और किसी पक्षी को मार कर खा जाते हैं तो हम उस का सभी कुछ छीन लेते हैं उसे जीवन में मिलने वाले उस के सारे आनन्दों से वंचित कर देते हैं। उस की हम वह चीज़ छीन लेते हैं जो हम उसे वापिस नहीं दे सकते, जिसका हम कोई प्रतीकार नहीं कर सकते। अतः मांस-भक्षण के लिये की जाने वाली हिंसा सब से बड़ा पाप है। क्योंकि अपने सुख-आराम के लिये, अपनी स्वार्थपूर्ति और खुदगर्ज़ी के लिये, यह हिंसा करके हम ऐसा पाप करते हैं जिसमें हम प्राणी को परिपूर्ण हानि (Complete damage) पहुंचाते हैं, जिस हानि का बदला नहीं चुकाया जा सकता है और प्रतीकार नहीं किया जा सकता है। हमें अपने स्वार्थ के लिये किसी प्राणी के साथ इतना बड़ा पाप करने का क्या अधिकार है ? हमें तो अपने स्वार्थ के लिये किसी के प्रति छोटा-सा पाप भी नहीं करना चाहिये। ऐसे सब से बड़े पाप की तो बात ही क्या है। महात्मा बुद्ध ने हिंसा-अहिंसा की विवेचना करते हुए तभी तो अपने शिष्य आनन्द से कहा था कि "जो चीज तुम किसी को दे नहीं सकते वह तुम्हें उससे छीनने का अधिकार नहीं है।" हम किसी के प्राण लेकर फिर उसे वापिस नहीं दे सकते। अतः हमें मांस खाने के लिये किसी प्राणी के प्राण नहीं लेने चाहिये। क्योंकि मांस खाने के लिये किसी प्राणी की हिंसा करना सबसे बड़ा पाप है।

मनुष्य को पशु-पक्षियों को मारने का अधिकार नहीं है

कई लोग कह देते हैं कि मनुष्य परमात्मा की सृष्टि में सब प्राणियों से श्रेष्ठ और ऊंचा प्राणी है, इस लिये मनुष्य को अधिकार है कि वह दूसरे प्राणियों से जैसा चाहे वैसा उपयोग ले ले और आवश्यक प्रतीत होने पर चाहे तो उन का मांस भी खा ले। इस लिये पशु-पक्षियों का मांस खाने में कोई दोष नहीं है। हम पूछते हैं कि मनुष्य की दूसरे प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठता और उच्चता किस बात पर अवलम्बित है ? उस की यह श्रेष्ठता और उच्चता इसी बात पर अवलम्बित है न कि उस में बहुत से प्राणियों की अपेक्षा बल अधिक है और सभी प्राणियों की अपेक्षा बुद्धि की शक्ति अधिक है। क्योंकि मनुष्य में दूसरे प्राणियों की अपेक्षा

शारीरिक शक्ति और बुद्धि की शक्ति अधिक है। इस लिये उसे यह अधिकार कैसे प्राप्त हो गया कि वह चाहे तो दूसरे प्राणियों को मार कर भी खा जाये ? जिस के पास शारीरिक और दिमागी शक्ति अधिक हो वह दूसरे प्राणियों पर जैसे चाहे अत्याचार कर सकता है तो इस सिद्धान्त को मनुष्यों पर क्यों नहीं लागू किया जाता ? शक्तिशाली मनुष्य को कमज़ोर लोगों के साथ मनमाना व्यवहार करने का अधिकार क्यों नहीं है ? अंग्रेज़ लोग हम भारतवासियों पर दो सौ साल तक राज्य करते रहे और हमारे देश के लोगों के साथ मनमाना अन्याय और अत्याचार करते रहे तो वे क्या बुरा करते रहे ? हम उन्हें बुरा क्यों कहते थे ? वे तो हम से शक्तिशाली थे। शक्तिशाली निःशक्त के साथ जैसा चाहे बरताव कर ही सकता है। क्योंकि वह शक्तिशाली होने के कारण निःशक्त की अपेक्षा श्रेष्ठ और ऊंचा है। नहीं, कोई किसी से शक्तिशाली होने के कारण श्रेष्ठ और ऊंचा नहीं होता। शक्ति के कारण दूसरों के साथ मनमाना व्यवहार करने वाला व्यक्ति चोर, डाकू, हत्यारा, दस्यु और राक्षस आदि नामों से कहा जाता है। उसे श्रेष्ठ और ऊंचा नहीं समझा जाता है। उसे नीच और पतित समझा जाता है। श्रेष्ठ उसे समझा जाता है जो कमज़ोरों की सहायता और रक्षा करता है, जो रोगियों की सेवा और शुश्रूषा करता है। हम अपने बूढ़े और निःशक्त, रोगी और दुर्बल माता-पिता और दूसरे सम्बन्धियों को मार नहीं डालते। यदि कोई ऐसा करेगा तो वह घोर राक्षस और नीच माना जायेगा। हम शक्ति-हीन बूढ़ों की और रोगियों की, सब तरह के कष्ट सह कर भी, सेवा करते हैं। ऐसा करने वालों की सब जगह प्रशंसा होती है और उन्हें श्रेष्ठ समझा जाता है। श्रेष्ठ वह है जो अपने से दुर्बलों के साथ न्याय और दया का बरताव करता है, उनकी सहायता और रक्षा करता है। पशु और पक्षी मनुष्य से कमज़ोर हैं। मनुष्य को उन पर दया करनी चाहिये—उनकी सहायता और रक्षा करनी चाहिये। अपने से निर्बल होने के कारण जो व्यक्ति पशु-पक्षियों पर अत्याचार करता है वह पापी है। और जो उन्हें मार कर उनका मांस खा जाता है वह तो घोर हिंसक और अत-एव घोर पापी है। मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा क्योंकि अधिक शक्तिशाली है इस लिये वह उन से श्रेष्ठ और ऊंचा है यह सिद्धान्त मनुष्य ने स्वयं बना रखा है। कोई पशु-पक्षियों से उन के मन की बात पूछ कर देखे। किसी पर अत्याचार करने वाला और उसके प्राण लेने वाला व्यक्ति अपने अत्याचार के पात्र प्राणी से कभी श्रेष्ठ और ऊंचा नहीं हो सकता।

इस प्रकार वैदिक धर्म की दृष्टि में मांस का भोजन क्योंकि हिंसा के द्वारा प्राप्त होता

है इस लिये मांस खाना सब से बड़ा पाप है—घोर पाप है। और इसी लिये मांस-भक्षण सर्वथा निषिद्ध है।

२.
वेद-शास्त्र मांस-भक्षण का निषेध करते हैं

वैदिक धर्म के अहिंसा के सिद्धान्त के परिणाम-स्वरूप तो वैदिक धर्म में मांस-भक्षण का निषेध है ही, वेदादि शास्त्रों में मांस-भक्षण का यों भी स्पष्ट शब्दों में निषेध किया गया है। उदाहरण के लिये अथर्ववेद १९.३१ सूक्त में इस विषय का वर्णन है कि मनुष्य को अपने आप को पुष्ट बनाने के लिये भांति-भांति की ओषधियों और अनाजों का सेवन करना चाहिये तथा पशुओं से भी सहायता लेनी चाहिये। सूक्त के एक मन्त्र में पुष्टि का अभिलाषी व्यक्ति कह रहा है—"मैं चौपाये और दो-पाये पशुओं से पुष्टि प्राप्त करता हूं और जो अनाज है उस से भी पुष्टि प्राप्त करता हूं, मैं पशुओं से तो दूध (पयः) लेता हूं और ओषधियों (अनाजों) को चबा कर उन का रस लेता हूं। सब के स्वामी और सब के पैदा करने वाले परमात्मा ने मेरे लिये यही नियम बनाया है[1]।" यहां पुष्टि प्राप्त करने के लिये अनाज-ओषधि खाने के अतिरिक्त पशुओं का दूध पीने का ही वर्णन है। यदि पुष्टि प्राप्त करने के लिये मांस खाना भी वेद को अभीष्ट होता तो मन्त्र में **"पयः पशूनां"** अर्थात् "पशुओं का दूध" ऐसा न कह कर **"पशूनां पयो मांस च"** अर्थात् "पशुओं का दूध और मांस" ऐसा कह दिया जाता। परन्तु वेद तो केवल पशुओं के दूध का ही सेवन करने की बात कहता है। और कहता है कि परमात्मा ने यही नियम बनाया है कि मनुष्य अपने को पुष्ट बनाने के लिये पशुओं के दूध और अन्न-ओषधियों का सेवन करे। सूक्त के १४ मन्त्रों में मांस खाने का कहीं भी ज़िक्र नहीं है। उद्धृत मन्त्र में पशुओं का दूध पीने के प्रसङ्ग में दोपाये पशु का अभिप्राय मनुष्य-माता से समझना चाहिये। वेद में पशु-शब्द का प्रयोग अपने व्यापक अर्थ में मनुष्य के लिये भी हो जाया करता है। मनुष्य-बालक की पुष्टि के लिये माता का दूध पीना अत्यन्त आवश्यक है ही। इसी प्रकार अथर्व. ४.२७ सूक्त में भी प्रसङ्ग से भोजन के सम्बन्ध में निर्देश आया है। इस सूक्त में मरुतों का वर्णन चल रहा है। यहां मरुतों का वर्णन सैनिकों के रूप में है। प्रसंग से इन सैनिकों

---

१. पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदी यच्च धान्यम्।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्।। अथर्व. १९.३१.५।

के भोजन का वर्णन किया गया है। उन के भोजन के सम्बन्ध में कहा है—"जो ज्ञानी (कवि) मरुत् (सैनिक) गौवों के दूध और भांति-भांति के अन्न तथा ओषधियों के रस का सेवन करते हैं और इस प्रकार अपने भीतर घोड़ों जैसी तेज़ दौड़ने की शक्ति उत्पन्न करते हैं[१]।" यहां भी वेद ने सैनिकों—क्षत्रियों—के अन्दर शक्ति का संचार करने के लिये गौ के दूध का और अनाज तथा ओषधियों का ही भोजन के रूप में विधान किया गया है। गौ के या अन्य किसी पशु के मांस का नहीं।

इसी प्रकार महाराज मनु ने भी अपने धर्म-शास्त्र में मांस-भक्षण का घोर विरोध किया है। मनु जी कहते हैं—"जो मनुष्य अहिंसक प्राणियों को अपने सुख की इच्छा से मारता है वह जीवित रहता हुआ और मरा हुआ कहीं भी सुख को नहीं पाता[२]।" "और इस के विपरीत जो मनुष्य प्राणियों को बलात्कार कर के बांधने, और मारने का क्लेश नहीं देता, सब प्राणियों का हितचिन्तक वह व्यक्ति अत्यन्त सुख को भोगता है[३]।" "जो किसी भी निरपराध प्राणी की हिंसा नहीं करता वह जो सोचता है, जो करता है और जिस में नीयत बांधता है उस को सहज ही प्राप्त कर लेता है[४]।" "प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस नहीं मिलता और प्राणियों की हिंसा स्वर्ग में ले जाने वाला काम नहीं है, इसलिये मांस नहीं खाना चाहिये[५]।" "मांस की उत्पत्ति और प्राणियों के बन्ध और वध-रूप पाप को देख कर मनुष्य सभी प्रकार के मांस के भक्षण से बचा रहे[६]।" "जो पिशाचों की विधि का परित्याग कर के मांस को नहीं खाता वह लोक में सब का प्यारा बनता है और रोगों से पीड़ित नहीं होता[७]।" "मारने की सलाह

१. पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ। अथर्व. ४.२७.३।

२. योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्, सुखमेधते।। मनु ५.४५।

३. यो बन्धनवधक्लेशान् प्राणिनां न चिकीर्षति।
स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते।। मनु. ५.४६।

४. यद् ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन।। मनु. ५.४७।

५. नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्।। मनु ५.४८।

६. समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्।। मनु. ५.४९।

७. न भक्षयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्।
स लोके प्रियतां याति व्याधिभिश्च न पीड्यते।। मनु. ५.५०।

देने वाला, मांस काटने वाला, पशु को मारने वाला, मारने के लिये पशु को खरीदने-बेचने वाला, मांस पकाने वाला, परोसने वाला, और खाने वाला, ये आठों मनुष्य घातक (कसाई) हैं[1]।" "जो पुरुष सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेध-यज्ञ करता रहे और जो पुरुष जीवन-भर कभी मांस न खाये उन दोनों का पुण्य-फल एक समान होता है[2]।" "जिस प्राणी का मांस मैं इस जन्म में खाता हूं वह प्राणी पर जन्म में मुझे खायेगा, ज्ञानी लोग मांस शब्द का यह अर्थ बताते हैं—इस लिये मांस नहीं खाना चाहिये[3]।" इस से अधिक स्पष्ट शब्दों में मांस-भक्षण का निषेध नहीं हो सकता। अन्य धर्म-शास्त्रों से भी मांस-भक्षण-निषेध सम्बन्धी आदेश बड़ी संख्या में उद्धृत किये जा सकते हैं। पर स्थानाभाव से वैसा करना संभव नहीं है। निदर्शन के लिये वेद और मनुस्मृति के ये उद्धृत प्रमाण ही पर्याप्त हैं।

इस प्रकार वेद-शास्त्रों द्वारा निषिद्ध होने के कारण मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये।

३.
मांस-भक्षण के विरोध में युक्तियें

कोई कह सकता है कि हम आर्यो के वेद और शास्त्रों को नहीं मानते। हम उन शास्त्रों के अहिंसा के सिद्धान्त को भी नहीं मानते और उन द्वारा मांस-भक्षण के निषेध की बात को भी स्वीकार नहीं करते। हम तो वैज्ञानिक युक्तियों से परखना चाहते हैं कि मांस खाना चाहिये या नहीं। वेद शास्त्र की बात वैदिक धर्मियों के लिये मान्य हो सकती है, दूसरों के लिये नहीं। हमें तो कोई युक्ति दो। युक्ति की मांग करने वालों के लिये युक्तियों से भी सिद्ध किया जा सकता है कि मांस मनुष्य का भोजन नहीं है और उसे मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये। इस सम्बन्ध में कुछ बातें नीचे उपस्थित की जाती हैं।

---

१. अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः।। मनु. ५.५१।

२. वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम्।। मनु. ५.५३।

३. मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः।। मनु. ५.५५।
(मां+सः=मांसः। मां=मुझ को, सः=वह, जिस का मैंने मांस खाया है, खायेगा। मांस शब्द की यह निरुक्ति है)।

मनुष्य वनस्पति खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी है

मनुष्य और शेर, चीता, भेड़िया आदि मांस-भक्षी पशुओं के शरीरों की बनावट में कुछ ऐसे भेद पाये जाते हैं जिन से यह प्रतीत होता है कि मनुष्य मांस-भक्षी पशुओं की श्रेणी का प्राणी नहीं है। प्रत्युत घास और वनस्पति खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी है। उदाहरण के लिये जितने मांस खाने वाले पशु हैं उन के शरीर में पसीना नहीं आता। गरमी में उन की जीभ से लार टपकती है। दूसरी ओर जितने घास और वनस्पति खाने वाले गौ, भैंस, घोड़ा और बकरी आदि प्राणी हैं, गरमी में उन के शरीर से पसीना आता है। मनुष्य के शरीर में भी पसीना आता है। इस से प्रतीत होता है कि मनुष्य मांस खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी नहीं है, वह घास खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी है। मांस उसका भोजन नहीं है। अतः उसे मांस नहीं खाना चाहिये।

फिर, जितने मांस खाने वाले पशु हैं वे घूंट भर कर पानी नहीं पीते। वे जीभ से लप-लप कर के पानी को चाट कर पीते हैं। दूसरी ओर जितने घास और वनस्पति खाने वाले पशु हैं वे सब घूंट भर कर पानी पीते हैं। मनुष्य भी घूंट भर कर पानी पीता है। इस से प्रतीत होता है कि मनुष्य मांस खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी नहीं है। वह घास खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी है। मांस उस का भोजन नहीं है। उसे मांस नहीं खाना चाहिये।

मांस खाने वाले पशुओं के दांत कीलों की भांति नोकीले होते हैं जिन से वे अपने शिकार के जानवर के मांस को फाड़-फाड़ कर खाते हैं। उन्हें मांस को चबा कर खाने की आवश्यकता नहीं होती। वे मांस के टुकड़े ही निकल जाते हैं। इसलिये मांस को चबाने के लिये उन के मुख में दाढ़ें प्रायः नहीं होतीं। और इसी लिये उन के जबड़े, दाढ़ों के बीच में किसी चीज़ को रख कर चबाने के लिये आवश्यक चक्की की सी घुमाव वाली गति नहीं कर सकते। दूसरी ओर जितने घास और वनस्पति खाने वाले पशु हैं उन के दांत कीलों की भांति नोकीले नहीं होते। उन के मुख में दाढ़ें बहुत होती हैं। क्योंकि वे अपने भोजन को चबाते हैं और इसी लिये उन के जबड़े, दाढ़ों के बीच में किसी चीज़ को रख कर चबाने के लिये आवश्यक चक्की की सी घुमाव वाली गति कर सकते हैं। मनुष्य के मुख में भी दाढ़ें बहुत होती हैं। वह भी अपने भोजन को चबा कर खाता है। उस के जबड़े भी भोजन चबाने के लिये आवश्यक चक्की की सी घुमाव वाली गति कर सकते हैं। मनुष्य के मुख में जो दो ऊपर और दो नीचे कीले होते हैं, एक तो वे मांस-भक्षी पशुओं के कीलों की तुलना में, संख्या में

अत्यल्प होते हैं, दूसरे वे इतने लम्बे और इतने नोकीले नहीं होते जितने मांस-भक्षी पशुओं के होते हैं। मनुष्य के ये कीले उसे गन्ना छीलकर चूसने, फलों को काटने तथा रस्सियों की गांठें खोलने में सहायता देने के लिये उस के मुख में रखे गये हैं। इन से शिकार के शरीर में से मांस फाड़ने का काम नहीं लिया जा सकता। दांतों की इस बनावट से भी प्रतीत होता है कि मनुष्य मांस-भक्षी पशुओं की श्रेणी का प्राणी नहीं है। वह घास खाने वाले पशुओं की श्रेणी का प्राणी है। मांस उस का भोजन नहीं है। उसे मांस नहीं खाना चाहिये।

हमारे खाये हुए भोजन को पचाने के लिये हमारे पेट में से जो पाचक रस निकलता है उस में हाइड्रो-क्लोरिक ऐसिड (Hydro-chloric Acid) नामक तेजाब रहा करता है। मनुष्य के पाचक रस में इस तेजाब का जो अनुपात होता है उस की अपेक्षा मांस-भक्षी पशुओं के पाचक रस में इस तेज़ाब का अनुपात बहुत अधिक होता है। इन पशुओं को बिना चबे हुए मांस और उस के साथ पेट में चली जाने वाली हड्डियों को गलाने और पचाने के लिये इस तेज़ाब की बहुत अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है। इस प्रकार पेट के पाचक रस की बनावट में भेद से भी यह प्रतीत होता है कि मनुष्य मांस-भक्षी पशुओं की श्रेणी का प्राणी नहीं है। मांस उस का भोजन नहीं है। उसे मांस नहीं खाना चाहिये।

मांसाहारी पशुओं की अन्तड़ियें उन के शरीर की लम्बाई के अनुपात में बहुत छोटी होती हैं। क्योंकि खाये हुए मांस को पच कर शरीर का अंग बनने के लिये अन्तड़ियों में पाचन की अधिक लम्बी और अधिक देर तक रहने वाली प्रक्रिया (process) की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि खाया हुआ मांस पहले ही मांस है। वह पाचन की अपेक्षाकृत थोड़ी प्रक्रिया से ही पशु के शरीर का अंग बन जाता है। एक बात और भी है। मांस बहुत जल्दी सड़ने लगता है। यदि मांसाहारी पशुओं की अंतड़ियें अधिक लम्बी हुआ करतीं तो मांस को उन में देर तक रहना पड़ता और तब मांस के अन्तड़ियों में सड़ने से उन पशुओं के स्वास्थ्य को हानि पहुंचा करती। उधर घास और वनस्पति खाने वाले पशुओं की अंतड़ियें उन के शरीर की लम्बाई के अनुपात में बहुत लम्बी होती हैं। क्योंकि उन के खाए हुए भोजन को पचा कर शरीर का अंग बनाने के लिये अन्तड़ियों में अधिक लम्बी और अधिक देर तक रहने वाली पाचन की प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। खाया हुआ घास और वनस्पति पशु के शरीर से बहुत भिन्न प्रकार के होते हैं। अतः उन्हें शरीर का अंग बनाने के लिये अन्तड़ियों में लम्बी प्रक्रिया में

से गुज़रने की आवश्यकता होती है। मनुष्य की अन्तड़ियें भी उस के शरीर की लम्बाई के अनुपात में बहुत लम्बी[1] होती हैं। अन्तड़ियों की यह लम्बाई सूचित करती है कि प्रकृति और परमात्मा को तो यह अभीष्ट है कि मनुष्य अन्न और फल आदि वनस्पति की चीजें खाया करे। मांस बहुत शीघ्र सड़ने लगता है। मनुष्य की अंतड़ियें अधिक लम्बी होने के कारण मांस को उन में अधिक देर तक रहना पड़ता है। इस से वहां मांस सड़ने लगता है जिस से मनुष्य के स्वास्थ्य की हानि होती है। और उसे कई प्रकार के रोग हो जाते हैं। मांस-भक्षी पशु और मनुष्य की अन्तड़ियों की लम्बाई के इस भेद से भी प्रतीत होता है कि मनुष्य मांस-भक्षी पशुओं की श्रेणी का प्राणी नहीं है। वह घास-भोजी पशुओं की श्रेणी का प्राणी है। मांस उस का भोजन नहीं है। उसे मांस नहीं खाना चाहिये।

मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन नहीं है

मांस यदि हमारा स्वाभाविक भोजन होता तो हमें, भूखा होने की अवस्था में भेड़, बकरी आदि पशुओं और मुर्गा, कबूतर, आदि पक्षियों पर, उन्हें खाने के लिये उस प्रकार झपटना चाहिये था जिस प्रकार शेर, चीता और भेड़िया आदि मांस-भक्षी पशु भूखा होने पर हरिण, खरगोश, भेड़ और बकरी आदि पर झपटते हैं। मांस-भक्षी पशुओं का मांस स्वाभाविक भोजन है। इस लिये वे वैसा करते हैं। मनुष्य का मांस स्वाभाविक भोजन नहीं है। इस लिये वह वैसा नहीं करता। फल, अनाज, और दूध आदि मनुष्यों के स्वाभाविक भोजन हैं। वह भूखा होने पर उन्हें लेने के लिये झपटता है। भूखा होने की अवस्था में बाग में फलों से लदा पेड़ देखते ही हमारे मुख में पानी आ जाता है। भूखा होने पर भी भेड़, बकरी आदि को देख कर हमारे मुंह में पानी नहीं आता। कच्चा मांस खाने को भी हमारा जी नहीं करता। कच्चा मांस हमें खाने में स्वाद भी नहीं लगता। हम तो मांस को नमक, मिर्च-मसाले और घी में तल कर उस में स्वाद पैदा करते हैं। मांस का अपना स्वाद हमारे अनुकूल नहीं है। नमक, मिर्च-मसाले और घी की सहायता से तो किसी भी चीज़ को खाने योग्य स्वाद भी बनाया जा सकता है।

१. मांसाहारी पशुओं की आंतें (Alimentary canal) उन के शरीर (Trunk=/kM+) की लम्बाई का लगभग तीन गुणा लम्बी होती हैं। घास खाने वाले पशुओं की आंतें उन के शरीर की लम्बाई का बारह गुणा लम्बी होती हैं। मनुष्य की आंतें भी उस के शरीर की लम्बाई का बारह गुणा लम्बी होती हैं।

(The Testimony of science in Favour of Natural and Human Diet by Sidney H. Beard, Page 18)

लोग इन की सहायता से करेले और नीम के पत्तों की सब्जी को भी खाने योग्य बना लेते हैं। शुद्ध मांस के लियें हमारे मन में स्वाभाविक रूप से कोई आकर्षण नहीं है। फलों आदि के लिये हमारे मन में स्वाभाविक आकर्षण है। मांस-भक्षी पशुओं में शुद्ध रूप में मांस के लिये स्वाभाविक आकर्षण है। इस से भी प्रतीत होता है कि मांस हमारा भोजन नहीं है। और हमें मांस नहीं खाना चाहिये।

जो जंगली लोग कच्चा मांस खा जाते हैं उस में तो यह बात है कि अनाज और फल आदि पर्याप्त मात्रा में न मिलने की अवस्था में उन्हें लाचार हो कर मांस खाना पड़ा खाते-खाते फिर उन की आदत पड़ गई। जैसे हमें मिर्चें, तमाखू और अफीम आदि खाने की आदत पड़ जाती है। मिर्चें और तमाखू आदि हमारा भोजन नहीं हैं। जब कोई व्यक्ति पहले-पहले मिर्चें और तमाखू का सेवन करने लगता है तो उस से ये चीजें बिलकुल नहीं सेवन की जातीं। उस का मुंह जल जाता है, नाक और आंखों से पानी बहने लगता है। बुरी हालत हो जाती है। पहले-पहले तमाखू पीना शुरू करने वाले लोगों को कई वार उलटी तक आ जाती देखी गई है। मिर्चें और तमाखू हमारा स्वाभाविक भोजन नहीं हैं। स्वभाव से तो हमारे मुख और हमारी जिह्वा को उन से द्वेष है। पर हम जबरदस्ती अभ्यास कर के इन बुरी चीजों के शौकीन बन जाते हैं। और फिर तमाखू पिये बिना हम से नहीं रहा जाता और मिर्चों के बिना हम से रोटी नहीं खाई जाती। यह तो अपनी आदत बिगाड़ लेने वाली बात है। कच्चा मांस खाने के सम्बन्ध में जंगली लोगों ने भी अपनी आदत बिगाड़ी हुई है। यदि मांस मनुष्य का स्वाभाविक भोजन होता तो मनुष्य-मात्र में कच्चा मांस खाने और भेड़-बकरियों पर झपटने की प्रवृत्ति होनी चाहिये थी। जैसे कि मांस-पक्षी पशुओं में हैं। इस से स्पष्ट है कि मांस मनुष्य का भोजन नहीं है।

पोषण की दृष्टि से मांस अच्छा भोजन नहीं है

शरीर के पोषण की दृष्टि से भी मांस का भोजन कोई बहुत अच्छा भोजन नहीं है। मांस में शरीर के पोषण के लिये आवश्यक जो प्रोटीन (Protein) आदि पदार्थ पाये जाते हैं वे सब दूध और वनस्पतियों से प्राप्त होने वाले भोजन में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। मांस में कोई कोई ऐसा पोषक तत्त्व नहीं है, जो दूध, फलों, सब्जियों और अनाजों में न पाया जाता हो। मांस में सब से अधिक पोषक-तत्त्व प्रोटीन नामक पदार्थ है। दूध में, दालों, मटरों और बादामों आदि में भी प्रोटीन बहुत अधिक मात्रा में पाया जाता है। मांस की अपेक्षा इन पदार्थों में प्रोटीन अधिक ही पाया जाता है। मांस में जो अन्य दोष हैं वे भी इन पदार्थों में नहीं होते। फिर, दूध, फलों, सब्जियों और अनाजों में शरीर के पोषण के लिये आवश्यक कई पदार्थ ऐसे

भी होते हैं जो मांस में नहीं होते। जब मांस में जो पोषक-तत्त्व हैं वे सब दूध, फलों, सब्जियों और अनाजों में पाये जाते हैं और मांस में न पाये जाने वाले पोषक तत्त्व भी दूध आदि में मिलते हैं तो स्वतः ही मांस भोजन की दृष्टि से शाकाहार की अपेक्षा घटिया भोजन हो जाता है। हमें दूध और शाकाहार को छोड़ कर मांस का घटिया और अस्वाभाविक भोजन करने की क्या आवश्यकता है ?

विटामिनों की दृष्टि से भी मांस उत्तम भोजन नहीं है

जब से विटामिन (Vitamins) का सिद्धान्त निकला है तब से भोजन की दृष्टि से मांस की कीमत बिलकुल ही जाती रही है। मांस से विटामिन बहुत कम होते हैं। फिर मांस कच्चा तो खाया नहीं जाता। उसे खाने योग्य बनाने के लिये बहुत अधिक तलना और भूनना पड़ता है। इस तलने और भूनने में जो थोड़े-से विटामिन मांस में होते भी हैं वे भी जल कर नष्ट हो जाते हैं। गाय के दूध, दही और मक्खन में तथा फलों, सब्जियों और अनाजों में सब विटामिन पाये जाते हैं। अकेले गाय के दूध, दही और मक्खन में ही प्रायः सब-के-सब विटामिन पाये जाते हैं। दूध, सब्जियों और अनाजों को उतना अधिक उबालने तलने और भूनने की आवश्यकता नहीं पड़ती जितना मांस को तलने और भूनने की आवश्यकता पड़ती है। इस लिये दूध, सब्जियों और अनाजों के विटामिन नष्ट नहीं होने पाते या बहुत कम नष्ट हो पाते हैं। दूध, सब्ज़ियों और अनाजों को बहुत कम उबाल, तल और भून कर भी खाया जा सकता है जिस से इन में के विटामिनों के नष्ट हो जाने की संभावना बहुत ही कम रह जाती है। इन चीजों को कच्चा भी खाया-पीया जा सकता है। उस अवस्था में तो विटामिन नष्ट होने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। फलों को खाने में तो उन्हें अग्नि का स्पर्श कराने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इस प्रकार विटामिन के सिद्धान्त की दृष्टि से तो मांस का भोजन बिलकुल ही सारहीन भोजन है। अतः हमें मांस को भोजन के रूप में खाने की कोई आवश्यकता नहीं है।

विटामिन का मूल स्रोत वनस्पतियाँ ही हैं

विटामिन के प्रसंग से मांस-भक्षण के सम्बन्ध में यहां एक बात और विचारने की है। मांसाहारी लोग मांस खाने वाले कुत्ता, बिल्ली, भेड़िया, चीता और शेर आदि जानवरों का मांस नहीं खाते हैं। वे घास और वनस्पति खाने वाले भेड़, बकरी और गाय आदि पशुओं का मांस खाते हैं।

इन पशुओं के मांस में जो विटामिन होते हैं वे घास और वनस्पतियों से आये होते

हैं। इस लिये विटामिनों का मूल स्रोत वनस्पतियें हैं। तब हमें विटामिनों को प्राप्त करने के लिये सीधा वनस्पतियों से प्राप्त होने वाला अनाज, सब्जी और फलों आदि का भोजन न कर के मांस का भोजन करने की क्या आवश्यकता है ? जहां से विटामिन बकरी आदि के मांस में आते हैं उन वनस्पतियों से ही हम सीधा क्यों न विटामिन प्राप्त करें ? एक बात और है, यदि मांस का भोजन बहुत बढ़िया भोजन होता है तो मांस खाने वाले कुत्ता, बिल्ली, चीता और शेर आदि जानवरों का मांस तो और भी अच्छा होना चाहिये। क्योंकि वह मांस तो वनस्पति से तैयार न होकर सीधा मांस से तैयार हुआ है। पर मांसाहारी जानवरों का मांस अच्छा भोजन नहीं समझा जाता और उसे मांसाहारी लोग नहीं खाते। इस से प्रतीत होता है कि वनस्पति खाने वाले प्राणी का शरीर अच्छा बनता है। तब हमें भी अपना शरीर अच्छा बनाने के लिये वनस्पतियों से प्राप्त होने वाला भोजन करना चाहिये। मांस नहीं खाना चाहिये।

मनुष्य का मांस क्यों नहीं खाते ?

जो लोग मांस के भोजन को श्रेष्ठ भोजन मानते हैं उन्हें पशुओं का मांस न खा कर मनुष्य का मांस खाना चाहिये। क्योंकि मनुष्य का मांस तो हमारे शरीर के साथ बिलकुल मिलता है। वह हमारे शरीर के लिये अधिक अनुकूल रहेगा। पर मांसाहारी लोग मनुष्य का मांस नहीं खाते। वे मनुष्य का मांस क्या इस लिये नहीं खाते कि मनुष्य बोल सकता है, प्रतिवाद कर सकता है और बदला ले सकता है ? और पशुओं का मांस इस लिये खाते हैं कि वे बेचारे बोल नहीं सकते, प्रतिवाद नहीं कर सकते और बदला नहीं ले सकते ?

मांस प्राणियों पर भीषण क्रूरता से प्राप्त होता है

उन की इस बेबसी के कारण ही क्या हम उन गरीब प्राणियों पर इतना भयंकर अत्याचार करते हैं ? जब किसी बेचारी मुर्गी को दबा कर उस की गर्दन काटी जा रही होती है उस समय वह जो कष्ट के मारे तड़फती है, उस समय वह जो दर्द भरी चीखें मारती है, उन्हें देख और सुन कर पत्थर का हृदय भी पिघल सकता है। वधशाला (Slaughter House) में बंधे हुए पशुओं में से जब एक-एक को लेकर गण्डासे के नीचे रखा जाता है और वह वेदना से विह्वल हो कर छटपटाता, बिलबिलाता और चीत्कार करता है, उसे कटता, छटपटाता, बिलबिलाता, चीत्कार करता और उस का रुधिर बहता देख कर दूसरे बंधे हुए पशुओं में भय के मारे जो कंपकंपी उठ खड़ी होती है और भय से उन का जो टट्टी, पेशाब निकलने लगता है और अपनी

भी मौत सिर पर खड़ी देख कर वे भी जो चीखने और चिंघाड़ने लगते हैं, उस सब बीभत्स, भयानक और करुणा-जनक दृश्य को देखकर पाषाण-दिल भी द्रवित हो सकता है। परन्तु मांसाहारियों का दिल गरीब, बेजबान और निरीह पशुओं की यह करुण दशा देख और सुन कर भी नहीं पिघलता। उन का हृदय पत्थर से भी कठोर बना रहता है। पशुओं पर ऐसी नृशंसता और क्रूरता कर के प्राप्त होने वाला मांस का भोजन पता नहीं उन के गले से नीचे कैसे उतर जाता है। मनुष्यता का तकाजा है कि जो मांस हमारा स्वाभाविक भोजन भी नहीं है, जो शरीर के पोषण की दृष्टि से भी कोई विशेष अच्छा भोजन नहीं है, और जो पशु और पक्षियों पर नृशंस क्रूरता कर के उन के प्राण ले कर प्राप्त होता है, उस मांस का हम सर्वथा बहिष्कार कर दें और पूर्ण रीति से शाकाहारी रहें। ऐसा करने से संसार-भर के गरीब पशु और पक्षी मन-मन में हमारा धन्यवाद करेंगे। और हमारे प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करेंगे। अस्तु। आगे चलिये।

मांस का भोजन विषैला और रोगजनक होता है

मांस का भोजन जहरीला भोजन होता है। प्राणियों के जीते रहने और काम करते रहने की प्रक्रिया में उन के शरीर का रक्त खर्च हो कर मैला, दूषित और काला होता रहता है। यह दूषित हो कर काला बन गया रक्त बिलकुल विषैला बन जाता है। इस के साथ ही प्राणियों के जीते रहने और काम करते रहने की प्रक्रिया में उन के अंग-प्रत्यंग की मांस-पेशियों में भी टूट-फूट (Wear and Tear) चलती रहती है। इस टूट-फूट के कारण शरीर के एक-एक अवयव और अंश में विषैला मादा (Poisonous Matter) एकत्र होता रहता है। शरीर के अंग-प्रत्यंग में बह रहा रुधिर उस विषैले मादे को धो कर अपने में मिला कर स्वयं विषैला हो कर शुद्ध होने के लिये हृदय और फेफड़ों में वापिस आता है। वहां सांस के द्वारा ली गई शुद्ध हवा (Oxygen) रुधिर की गन्दगी को जला कर उसे फिर से ताज़ा और लाल कर देती है। और वह गन्दगी सांस की गन्दी हवा (Carbon Dioxide gas) के रूप में बाहर निकल जाती है। हृदय और फेफड़ों में शुद्ध हुआ रक्त पुनः शरीर के अंग-प्रत्यंग को पोषण देने के लिये और वहां की गन्दगी को धोने के लिये भेज दिया जाता है। शरीर की नीली नसों में यह गन्दा और विषैला रक्त बह रहा होता है और लाल नाड़ियों में शुद्ध रक्त बह रहा होता है। शरीर के अंग-प्रत्यंग में प्रति क्षण यह विषैला मादा इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न हो रहा होता है कि

रक्त के हृदय और फेफड़ों में जाकर शुद्ध होते रहने की यह प्रक्रिया कुछ मिनटों के लिये भी रुक जाये तो प्राणी की मृत्यु हो जायेगी। प्रतिक्षण शरीर के अंग-अंग और अणु-अणु में यह विषैला मादा उत्पन्न हो कर एकत्र हो रहा होता है। जब किसी पशु को या पक्षी को मारा जाता है तो उस क्षण्श में उस के अंग-प्रत्यंग में जहां जो विषैला मादा था वह वहीं रह जाता है। मांस के भोजन में पशु के शरीर का वह विषैला अंश भी हमारे शरीर में जाता है।

इस विषैले अंश के हमारे शरीर में प्रवेश करने से हमें कई प्रकार के रोग हो जाने की आशंका रहती है। मुर्गियें लोगों के थूक और बलगम को भी खा जाती हैं। कई लोगों के थूक और बलगम में क्षय-रोक के कीटाणु भी होते हैं। उस के खाने से क्षय के कीटाणु मुर्गी के शरीर में भी चले जाते हैं। और वहां से मुर्गी के मांस को खाने के द्वारा वे क्षय के कीटाणु मनुष्य के शरीर में पहुंच जाते हैं। अनेक बार कई लोगों को इस प्रकार क्षय रोग होते देखा गया है। प्राणी के शरीर का विषैला अंश तो मांस के भक्षण से हमारे शरीर में जाता ही है। और उस से अनेक रोग[1] हो जाने की आंशका रहती है। जैसा ऊपर कहा गया है, मांस में विटामिन तो प्रायः रहते ही नहीं, पोषक तत्त्व भी उस में कम होते हैं, यदि कुछ पोषक तत्त्व होते भी हैं तो उन के साथ उपर्युक्त प्रकार से पशु के शरीर का जहरीला अंश भी मांस के साथ हमारे शरीर में जाता है। इस प्रकार भोजन की दृष्टि से मांस की कुछ भी कीमत नहीं रह जाती। प्रत्युत वह भोजन की दृष्टि से सर्वथा त्याज्य हो जाता है।

मांस का भोजन कोष्ठ-बद्धता या कब्ज (Constipation) पैदा करता है। इसी लिये मांस खाने वालों को सलाद और पालक आदि हरी सब्जियें खाना पड़ती हैं, जिस से कब्ज का कुछ

---

१. मांस खाने से जो अनेक प्रकार की बीमारियें हो जाया करती हैं उन में से कुछ के नाम ये हैं-(१) टेप वर्म (Tape Worm) या पेट में पड़ जाने वाले लम्बे-लम्बे कीड़े जो रस्सी की भांति होते हैं। (२) घातक ट्रिचिनाइ (Deadly Trichinae)। (३) क्षय रोग (Tuburculosis)। (४) टाइफाइड बुखार (Typhoid)। जो शैलफिश (Shelfish) नामक मछली के खाने से प्रायः हो जाता है। (५) हौग कालरा (हैजा) (Hog Cholera) जो कि सूअर की चर्बी के सेवन से प्रायः हो जाता है। (६) दांतों के पायोरिया आदि रोग। (७) गठिया। (८) किडनियों की बीमारियें (Kidney Disease)। (९) कैंसर नामक फोड़ा (Cancer)। (१०) मृगी (Epilepsy)।

The Living Temple by J.H Kellogg, page 172.

उपाय हो जाये। हम सभी जानते हैं कि मनुष्य की सारी बीमारियों की जड़ कोष्ठ की शुद्धि न होना अथवा कब्ज रहना होती है। मांस खाने से होने वाली कब्ज के कारण तथा मांस के विषैले मादे के कारण हमें कई प्रकार की बीमारियें लग जाने का डर रहता है। कैंसर (Cancer) नामक भयानक फोड़ा मांस खाने वालों को जितना निकलता है उतना शाकाहारियों को नहीं निकलता। कब्ज का कारण होने के कारण भी मांस का भोजन की दृष्टि से स्थान बहुत नीचा हो जाता है। वह हमारे लिये उपयोगी न हो कर हानिकारक हो जाता है। इस लिये मांस का भोजन सर्वथा त्याज्य हो जाता है।

४.
मांसाहार से बल नहीं आता

लोगों का विचार है कि मांस खाने से शरीर का बल बढ़ता है। यह विचार भी भ्रान्त है। अभी ऊपर की पंक्तियों में हम ने देखा है कि अनेक दृष्टियों से मांस शरीर के पोषण के लिये अच्छा भोजन नहीं है। बल्कि कई अंशों में हानिकारक है। ऐसी स्थिति में मांस शरीर के बल को बढ़ाने वाला कैसे हो सकता है ? निश्चय ही दूध और शाकाहार की तुलना में मांस अधिक बलकारक नहीं है। जब चाहें परीक्षण कर के यह देखा जा सकता है। एक उमर के और एक जैसी शारीरिक शक्ति वाले दो बालक ले लीजिये। एक को कुछ महीने निरन्तर केवल मांस ही खाने को दीजिये। मांस के अतिरिक्त उसे कोई चीज खाने को न दीजिये। और दूसरे बालक को दूध, मक्खन, मलाई, दही, फल, सब्जी, रोटी, दाल और गन्ने आदि का शाकाहार का भोजन खाने को दीजिये। कुछ मास तक दोनों बालकों को इस प्रकार का भोजन देते रहने के पश्चात् आप देखेंगे कि मांस का भोजन करने वाला बालक शाकाहारी बालक की तुलना में कही दुर्बल होगा, उस की बुद्धि भी कुण्ठित हो जायेगी और संभवतः उसे कई रोग भी लग जायेंगे। यदि मांस अपने आप में अकेला अन्य भोजनों की अपेक्षा अधिक बल देने वाला भोजन होता तो मांसाहारियों को मांस के सिवा और कुछ खाने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये थी। सब मांसाहारी लोग मांस के साथ शाकाहार की चीजें भी खाते हैं। बल वस्तुतः शाकाहार की चीजों से आता है। भ्रान्ति से समझा जाता है कि बल मांस से आता है। यदि मांस कुछ बल देता भी है तो भी उस में दूध, दही, मक्खन, फल, सब्जी और बादाम आदि शाकाहार की वस्तुओं की अपेक्षा अधिक बल देने का सामर्थ्य नहीं है। शाकाहार की

इन चीजों में बहुत अधिक बल देने का सामर्थ्य है। फिर, लोहा, चांदी और सोना आदि की भस्मों से बने हुए रसायनों में तो बल बढ़ाने की बेहद शक्ति है। जो बहुत ही बल चाहता है वह शाकाहार की इन चीजों के साथ-साथ इन रसायनों का भी सेवन कर सकता है। केवल बल प्राप्ति के विचार से भी हमें मांस के भोजन की आवश्यकता नहीं है।

पशुओं में भी हम देखते हैं कि घास खाने वाले बैल, घोड़ा, भैंसा, गैंडा और हाथी आदि जानवरों में जितना शारीरिक बल होता है उतना शारीरिक बल मांस खाने वाले भेड़िया, चीता और शेर आदि जानवरों में नहीं होता। मांसाहारी जानवरों के पंजे तेज होते हैं और उन के दांत तीखे होते हैं तथा उन में एक खूंखारपना और एक-दम झपट्टा मारने का गुण होता है। इस कारण उन के आक्रमण से घास खाने वाले जानवर घबरा जाते और भय-भीत हो जाते हैं। यों शरीर का बल मांसाहारी जानवरों में घास खाने वाले जानवरों से अधिक नहीं होता। घास खाने वाले जानवर जितना भार उठा सकते हैं और जितनी देर तक बिना थके हुए काम कर सकते हैं मांसाहारी जानवर उतना भार नहीं उठा सकते और इतनी देर तक काम नहीं कर सकते। घास खाने वाले जानवरों में गरमी-सरदी को सहने की जितनी शक्ति होती है मांसाहारी जानवरों में गरमी-सरदी सहने की उतनी शक्ति नहीं होती। बैल, घोड़ा और हाथी जितना भार खींच सकते हैं और जीतनी देर तक कड़कती धूप में काम कर सकते हैं उस की तुलना में शेर कुछ भी भार नहीं खींच सकता और कुछ भी देर धूप में काम नहीं कर सकता। शुद्ध बल की दृष्टि से घास खाने वाले पशुओं के शरीर में मांसाहारी पशुओं के शरीर की अपेक्षा अधिक बल होता है। मांस का भोजन शाकाहार की अपेक्षा अधिक बल पैदा करने वाला भोजन नहीं है।

मांसाहार से वीरता भी नहीं आती

कुछ लोगों का विचार है कि मांस-भक्षण मनुष्य को वीर और बहादुर बनाता है। यह विचार तो बिलकुल ही मिथ्या है। भोजन का वीरता और बहादुरी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। भोजन का शरीर के बल के साथ तो सम्बन्ध है। पर वीरता और बहादुरी के साथ भोजन का कोई सम्बन्ध नहीं है। न मांसाहार के भोजन से वीरता और बहादुरी आती है और न शाकाहार के भोजन से। वीरता और बहादुरी का सम्बन्ध तो मन से है—विचारों से है। जिसे घर-बार, धन-दौलत और स्त्री-पुत्रों का मोह नहीं है, जो अपने प्राणों की बाजी लगाने को तैयार रहता

है, जो अपनी गर्दन हथेली पर लिये फिरता है, जो मृत्यु का आलिङ्गन करने के लिये हर समय उद्यत रहता है, जो मरने से नहीं डरता है, वह वीर और बहादुर होता है। वीरता और बहादुरी मन की साधना और शिक्षा से आती हैं। भोजन से वीरता नहीं आती। शाकाहार करने वाले लोग भी वीर और बहादुर देखे जाते हैं और मांस खाने वाले लोग भी डरपोक और कायर देखे जाते हैं। मांसाहारी और शाकाहारी दोनों ही प्रकार के लोगों में वीर, बहादुर तथा डरपोक और कायर लोग मिलेंगे। स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा गान्धी से बढ़ कर वीर और बहादुर व्यक्ति संसार के इतिहास में कहाँ मिलेंगे ? दिल्ली के चाँदनी चौक में स्वामी श्रद्धानन्द ने गोरों और गोरखों की संगीनों और बन्दूकों के आगे निडर हो कर अपनी छाती खोल दी थी। महात्मा गान्धी शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से भी नहीं डरते थे। ऋषि दयानन्द से वीर और बहादुर पुरुष कौन होगा ? जो दुनिया के दो अरब लोगों के मुकाबले में अकेला खड़ा हो कर निर्भीक भाव से उन के अन्ध-विश्वासों का खण्डन करता रहा, जिससे दर्जन से अधिक बार जहर दिया गया और तलवारें दिखाई गईं, जो फिर भी नहीं डरा और सत्य-धर्म के प्रचार तथा अन्धविश्वासों के खण्डन से नहीं रुका ? ये सब लोग पक्के शाकाहारी थे—स्वप्न में भी मांस के पास नहीं फटकते थे। हरियाना प्रान्त के हिन्दू जाट कट्टर शाकाहारी होते हैं। पर वे भारत की सब से अधिक वीर और लड़ाकी जातियों में से हैं। किसी मांसाहारी जाति की तुलना में उन में वीरता और बहादुरी कम नहीं है। भोजन से वीरता का सम्बन्ध नहीं है। भोजन के द्वारा शरीर में पैदा होने वाले बल से भी वीरता का सम्बन्ध नहीं है। बड़े-बड़े बलवान् पहलवान डरपोक देखे गये हैं। और शारीरिक बल की दृष्टि से दुर्बल व्यक्ति भी बड़े वीर देखे जाते हैं। शारीरिक बल की दृष्टि से महात्मा गान्धी में कुछ भी शक्ति नहीं थी। पर उन की वीरता और बहादुरी की तुलना विश्व में कौन कर सकता था ? शारीरिक दृष्टि से बलवान् व्यक्ति वीर भी हो सकता है और कायर भी। इसी प्रकार शारीरिक दृष्टि से निर्बल व्यक्ति भी कायर भी हो सकता है। और वीर भी। वीरता शरीर और उस के बल से सम्बन्ध नहीं रखती। वह तो मन से सम्बन्ध रखती है। जिस का मन वीर है वह वीर होता है। शारीरिक बल का तो इतना ही लाभ है कि यदि वीर व्यक्ति बलवान् होगा तो काम अधिक कर सकेगा। इस प्रकार वीर और बहादुर बनने के लिये भी मांस खाने की आवश्यकता नहीं है। वीर बनने के लिये तो अपने विचारों को उन्नत कर के अपने मन को वीर बनाना चाहिये।

मांस का भोजन मनुष्य को क्रूर और निर्दय बनाता है

मांस का भोजन क्योंकि प्राणियों पर क्रूरता और निर्दयता कर के प्राप्त होता है इस लिये वह खाने वालों के मन में क्रूरता और निर्दयता के भाव तो पैदा कर सकता है—उन्हें जंगल के हिंस्र जानवरों की भांति खूंखार और नृशंस तो बना सकता है—परन्तु उन में वीरता के भाव नहीं पैदा कर सकता। संसार-भर के मनोवैज्ञानिक विचारकों ने वीरता के सम्बन्ध में जो विचार किया है वह बताता है कि वीरता के विचार में क्रूरता, नृशंसता और निर्दयता के विचार समाविष्ट नहीं रहते। वीतर के विचार में निर्भय होकर सत्य और न्याय पर डटे रहना, और अत्याचारी के आगे न झुकना, निर्बलों पर दया करना और उन की रक्षा करना, शान्त और क्रोध रहित रहना, मृत्यु से न डरना आदि विचार समाविष्ट रहते हैं। जिस व्यक्ति में ये गुण होते हैं वह वीर कहलाता है। क्रूरता, नृशंसता, निर्दयता और खूंखारपना जिस में होते हैं वह वीर नहीं होता वह तो जंगली हिंस्र जानवर होता है, दस्यु और राक्षस होता है। आर्य-शास्त्रों में क्षमा और दया वीर के भूषण[1] माने गये हैं।

मांस का भोजन तामसिक वृत्तियों को जगाता है

आर्य-शास्त्रों की विचार शैली के अनुसार मांस तामसिक भोजन है। मांस का भोजन उसे खाने वाले के मन में तामसिक वृत्तियें उत्पन्न करता है। विचार-शक्ति की कमी, विषयों में आसक्ति, लोभ, आलस्य और निद्रा, अधीरता और जल्दी घबरा जाना, क्रूरता, नास्तिकता, मन में एकाग्रता का अभाव, मांगने की आदत और प्रमाद आदि की वृत्तियें तामसिक[2] वृत्तियें हैं। मांस खानें वालों में प्रायः इस प्रकार की तामसिक वृत्तियें पैदा हो जाया करती हैं। यह प्रायः देखा गया है कि मांस खाने वालों को शराब पीने की आदत भी पड़ जाती है। मांस खाने और शराब पीने वालों में संयम की कमी और विषयासक्ति की अधिकता भी प्रायः देखी जाती है। अन्य तामसिक दुर्गुण भी उन में प्रायः आ जाते हैं। उन की वृत्ति सात्त्विक और आध्यात्मिक नहीं रहती। प्रभु के गुणचिन्तन और उपासना में उन का मन नहीं लगता। प्रभु

१. क्षमा वीरस्य भूषणम्।

२. यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्।। मनु. १२.२९।
लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।
याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम्।। मनु. १२.३३।

की उपासना में बैठने से भगवान् को प्राणिमात्र का पिता समझ कर और उस के श्रेष्ठ गुणों का चिन्तन कर के मनुष्य में जो प्राणिमात्र के प्रति प्रेम की भावना और श्रेष्ठ गुणों की उत्पत्ति होती है वह मांस खाने और शराब पीने वालों में नहीं हो पाती। वे आत्म-शुद्धि के पवित्र मार्ग पर चलने में असमर्थ रहते हैं। उन में आर्य (श्रेष्ठ) चरित्र के आवश्यक अंग शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान इन पांच नियमों तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच यमों[1] के पालन की प्रवृत्ति नहीं रहती। मांस का तामसिक भोजन करने से उनमें पशुओं के से काम, क्रोध, लोभ और तज्जन्य निर्दयता, क्रूरता और नृशंसता आदि के दुर्गुण पैदा हो जाते हैं। जिस में जितना अधिक मांस के सेवन करने की आदत होगी उस में उतना ही अधिक उपर्युक्त तामसिक प्रवृत्तियें जाग्रत होंगी। मांस का भोजन मनुष्य को सात्त्विक मनुष्यता से गिरा कर तामसिक पाशविकता की ओर ले जाता है इस लिये भी मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये।

५.
मांस-भक्षण विश्व-शान्ति की विरोधी भावनायें पैदा करता है

एक और दृष्टि से भी मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये। सभी धर्म, सभी शास्त्र और सभी विचारक यह उपदेश करते हैं कि मनुष्यों को परस्पर प्रेम और सहानुभूति से मिल कर रहना चाहिये। किसी को किसी के अधिकारों को हड़पना नहीं चाहिये। किसी को किसी पर अत्याचार नहीं करना चाहिये। किसी को किसी पर जबरदस्ती अपने विचार नहीं थोपने चाहिये। सब बातें शान्ति से बैठ कर प्रेम और सहानुभूति के साथ परस्पर विचार-विमर्श द्वारा सुलझानी चाहिये। बल का प्रयोग नहीं करना चाहिये। लड़ाई-झगड़े और खून-खराबी नहीं करनी चाहिये। ऐसा न करने से सब को दुःखी, क्लेशित, पीड़ित और अशान्त रहना पड़ता है।

जिस प्रकार व्यक्तियों को परस्पर प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिये उसी प्रकार धरती के सब राष्ट्रों को भी आपस में प्रेम और सहानुभूति से रहना चाहिये। किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के साथ अन्याय नहीं करना चाहिये। किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र पर दबाव नहीं डालना चाहिये। किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता को छीन कर उसे अपना गुलाम नहीं

---

१. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योग. २.३२।
तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। योग. २.३०।
यम-नियमों की संक्षिप्त व्याख्या इसी पुस्तक के 'वैदिक समाज-व्यवस्था' प्रकरण में पृष्ठ ६८-७२ पर देखिये।

बनाना चाहिये। किसी राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के हस्तक्षेप के भय से निर्मुक्त हो कर स्वतन्त्रता पूर्वक अपनी संस्कृति और अपनी परम्पराओं के अनुसार अपना विकास करे। राष्ट्रों को भी आपसी झगड़े सुलझाने के लिये युद्ध का सहारा नहीं लेना चाहिये। उन्हें भी अपने विवाद शान्ति से बैठ कर प्रेम और सहानुभूति के साथ विचार-विमर्श के द्वारा ही निपटाने चाहिये। युद्ध से जो कष्ट और क्लेश, जो मुसीबतें और यन्त्रणायें मनुष्य-समाज को भुगतनी पड़ती हैं वे इतनी भयावह हैं कि राष्ट्रों को कभी भी युद्ध की राह पर नहीं चलना चाहिये। युद्ध का मार्ग कभी भी उचित नहीं होता। पर आज के अणु-बम और उद्रजन-बम के जमाने में तो युद्ध का नाम भी नहीं लेना चाहिये। ये अस्त्र इतने भीषण हैं कि इन के द्वारा लड़े जाने वाला युद्ध धरती पर प्रलय मचा देगा—स्वयं मनुष्य-जाति का ही उच्छेद कर देगा। इस लिये आपसी कलह, विद्वेष, ईर्ष्या और लड़ाई-झगड़े की वृत्तियों को छेड़ कर सभी राष्ट्रों के लोगों को आपस में भाई-भाई की तरह प्रेम से रहना चाहिये।

यह जो शान्ति और प्रेम से रहने का उपदेश संसार-भर के धर्म और विचारक देते हैं उस के अनुसार व्यक्ति और राष्ट्र तब तक अपना जीवन नहीं बिता सकते जब तक लोगों में अहिंसा (Non-Violence) की वृत्ति घर न कर ले। मांस-भक्षण मनुष्य के अन्दर अहिंसा की वृत्ति को पैदा होने, बढ़ने और बद्धमूल होने में रुकावट डालता है। जो व्यक्ति गरीब और निरीह पशु-पक्षियों पर नृशंसता और क्रूरता कर के उन के प्राण ले कर उन के मांस का भोजन करता है उस हिंसक-वृत्ति वाले व्यक्ति में अहिंसा की वृत्ति भला कहां घर कर सकती है ? उस के लिये हिंसा की वृत्ति को दबा कर उस के स्थान में अहिंसा की वृत्ति जगा सकना आसान नहीं है। उस में तो हिंसा की वृत्ति रहेगी ही। यदि कभी धर्म-शास्त्रों के और दूसरे ऊंचे विचारकों के उपदेशों को सुन कर उस में अहिंसा की वृत्ति जागेगी भी तो वह क्षणिक होगी। चिरस्थायी नहीं होगी। पूर्ण मात्रा में प्रतिष्ठित, चिरस्थायी और जीवन-व्यापी अहिंसा की वृत्ति रहे बिना व्यक्ति सब अवस्थाओं में शान्ति, प्रेम और सहानुभूति का परिचय नहीं दे सकता। जो एक क्षेत्र में क्रूरता, नृशंसता, निर्दयता और हिंसा का कार्य कर सकता है वह दूसरे क्षेत्र में भी समय पड़ने पर वैसा ही कर सकता है। यदि हम मनुष्य-समाज का निर्माण शान्ति, प्रेम और सहानुभूति के तत्त्वों के आधार पर करना चाहते हैं तो हमें उन सब कारणों को दूर करना होगा जो हमारे अन्दर हिंसा की वृत्ति को पैदा करते हैं। हमारे अन्दर हिंसा की वृत्ति को पैदा करने वाले कारणों

में से मांस-भक्षण एक बहुत बड़ा कारण है। इस लिये मांस-भक्षण का, जो कि हिंसा-मूलक है, हमें सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

जो व्यक्ति पशु-पक्षियों के प्रति भी हिंसा नहीं करता--उन के प्रति भी करुणा और दया की वृत्ति रखता है--उस व्यक्ति से तो यह आशा की जा सकती है कि वह आपस में मनुष्यों के प्रति किये जाने वाले व्यवहार में हिंसा की वृत्ति का परिचय नहीं देगा--उन के प्रति भी करुणा, दया, प्रेम और सहानुभूति की अहिंसा की वृत्ति का परिचय देगा। पशु-हिंसक व्यक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती।

यदि हम धरती पर पूर्ण शान्ति, प्रेम और सहानुभूति का साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं तो हमें लोगों को अहिंसा के सार्वभौम महाव्रत का पालन करने वाला बनाना होगा। उस के लिये हमें मांस-भक्षण और तन्मूलक प्राणियों की हत्या को सर्वर्था बन्द करना होगा। और मनुष्यों को प्राणिमात्र पर दया करने का पाठ पढ़ाना होगा। इस दृष्टि से वैदिक धर्मियों का अहिंसा और तन्मूलक मांस-भक्षण के निषेध का सिद्धान्त बड़ा महत्त्वपूर्ण है।

मांस-भक्षण सभी धर्मों की भावना के विपरीत है

यहां यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि प्राणिमात्र पर दया करने का उपदेश सभी धर्मों में दिया जाता है। प्राणिमात्र के साथ दया का बरताव करने के इस उपदेश का यह सीधा और स्पष्ट परिणाम निकलता है कि हमें किसी भी प्राणी का मांस नहीं खाना चाहिये। क्योंकि मांस खाने से प्राणियों पर दया करने के सिद्धान्त की हानि होती है। किसी प्राणी का मांस उस पर दया कर के नहीं प्राप्त किया जाता प्रत्युत उस पर क्रूरता और निर्दयता कर के उस के प्राण ले कर प्राप्त किया जाता है। कई धर्मों में जो विशेष अवसरों पर, और विशेष प्रकार से मारे हुए पशुओं का, मांस खाने का विधान है वह भी उन के प्राणिमात्र पर दया करने के उपदेश से मेल नहीं खाता। किसी भी अवस्था में मांस खाने का विधान करना भूल की बात है। जब कोई व्यक्ति किसी प्राणी का मांस खाता है तो वह अपने धर्म के प्राणिमात्र पर दया करने के उपदेश का भंग करता है और दोष का भागी बनता है। अतः जो व्यक्ति किसी धर्म को मानता है उसे तो मांस-भक्षण कभी नहीं करना चाहिये। धर्म की वास्तविक भावना तो प्राणिमात्र को परमात्मा की संतान समझ कर उन्हें अपना भाई समझते हुए मनुष्य को प्राणिमात्र पर दया करने वाला और प्राणिमात्र की सहायता करने वाला बनाना है। मांस-भक्षण धर्म की इस वास्तविक भावना का विरोधी है। अतः मांस-भक्षण नहीं करना चाहिये।

मांस-भक्षण सभी दृष्टियों से त्याज्य है

इस प्रकार जो मांस हिंसा कर के प्राप्त होता है और इसी लिये वैदिकधर्म-शास्त्रों की दृष्टि में जो सब से बड़ा पाप है, जो भोजन की दृष्टि से भी अनावश्यक, हानिकारक और दूषित है, जो मन को तामसिक और निकृष्ट बना कर मनुष्य को सात्त्विक मानवता से गिरा कर तामस पशुता की ओर ले जाता है, और जो धर्म की वास्तविक भावना के विपरीत हैं, उस मांस का भक्षण मनुष्य को किसी अवस्था में नहीं करना चाहिये।

६

ओषध के रूप में भी मांस नहीं खाना चाहिये

इस सम्बन्ध में लोग कई प्रकार की शंकायें किया करते हैं। उन के निराकरण में भी कुछ शब्द यहां कह देना आवश्यक प्रतीत होता है।

कई लोग पूछा करते हैं कि माना कि साधारण तौर पर तो मांस नहीं खाना चाहिये, पर रोगी होने की अवस्था में जब कि वैद्य और डाक्टर लोग कहें कि मांस का सेवन किये बिना रोग अच्छा ही नहीं हो सकता तब भी क्या मांस नहीं खाना चाहिये ? हमारा निवेदन है कि तब भी हमें मांस नहीं खाना चाहिये। कोई रोग ऐसा नहीं है जो ऐसी ओषधियों से जिन में मांस नहीं पड़ता और ऐसे पथ्योपचार से जिस में मांस का भोजन नहीं रहता, अच्छा नहीं हो सकता। मांस के बिना भी सब रोगों का इलाज हो सकता है। जो वैद्य-डाक्टर कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता वे गलत कहते हैं।

फिर एक बात और सोचने की है। क्या जो लोग और जो जातियें मांस खाती हैं उन में कभी कोई रोग होता ही नहीं ? उन में भी तो सदा और सब तरह के रोग होते रहते हैं। तब मांस रोगों का इलाज तो न हुआ।

वैदिकधर्म की दृष्टि से तो, जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, मांस खाना सब से बड़ा पाप है। अतः हमें अपना रोग अच्छा करने की नीयत से भी मांस खाने का पाप नहीं करना चाहिये। हमें अपना रोग शान्त करने के लिये दूसरे प्राणी के प्राण लेने का क्या अधिकार है ? हमें अपने प्राण बचाने के लिये भी मांस खाने का पाप नहीं करना चाहिये। हमें अपने प्राण बचाने के लिए दूसरे प्राणी के प्राण लेने का कोई अधिकार नहीं है ? क्या हम कभी अपना रोग शान्त करने और अपने प्राण बचाने के लिये किसी दूसरे मनुष्य के प्राण ले कर उस का

मांस खाने की बात सोचेंगे ? हम ऐसा हरगिज नहीं करेंगे। जैसे मनुष्य को अपने प्राण प्यारे हैं वैसे ही पशु-पक्षियों को अपने प्राण प्यारे हैं। हमें अपने प्राणों की रक्षा के लिये उन के प्राण नहीं लेने चाहिये।

आर्यसमाज के आदिकाल के महान् नेता और सुप्रसिद्ध विद्वान् पण्डित गुरुदत्त एम. ए. को दिन-रात अत्यधिक काम करने के कारण क्षय-रोग हो गया था। नासमझ डक्टरों ने उन्हें भी सलाह दी कि मांस का सेवन कीजिये, आप का रोग अच्छा हो जायेगा। आप मांस नहीं खायेंगे तो बचेंगे नहीं। पण्डित जी ने डाक्टरों से पूछा कि मांस का सेवन कर के मैं अच्छा हो गया तो क्या फिर मैं कभी नहीं मरूंगा ? मैं क्या अमर हो जाऊंगा ? तुम लोग क्या यह गारंटी (विश्वास) दिलाते हो ? डाक्टरों ने कहा कि यह गारंटी तो नहीं दिलाई जा सकती। तब पण्डित जी ने पूछा कि अच्छा अमरता की बात रहने दो, क्या फिर दूसरी बार मुझे क्षय रोग नहीं हो सकेगा। यह गारंटी तुम मुझे देते हो ? क्या जिन जातियों में मांस खाया जाता है वहां क्षय-रोग नहीं होता ? डाक्टरों ने कहा कि यह गारंटी भी हम नहीं दे सकते कि आप को पुनः क्षय रोग नहीं होगा और यह भी ठीक है कि मांस खाने वाले लोग भी क्षय के रोगी होते रहते हैं। तब पण्डित जी ने कहा कि मेरे वैदिकधर्म में मांस खाना सब से बड़ा पाप माना गया है। मैं मांस खा कर अपने धर्म की दृष्टि में सब बड़ा बाप भी करूं और मुझे अमरता की अथवा पुनः क्षय का रोगी न होने की गारंटी भी न मिले तो मैं मांस खाने का पाप करने के लिये तैयार नहीं हूं। इस विश्व का यह नियम है कि यहां जो पैदा हुआ है उस ने अवश्य मर जाना है। इस सृष्टि के आदि से यह चक्र चला आ रहा है। पूर्व की सृष्टियों में भी यह चक्र चलता रहा है। इस अनादि और अन्नत सृष्टि-चक्र में जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरा है। इस समय भी आप और मैं जो जीवित हैं उन्हें भी एक दिन अवश्य मर जाना है। कोई दो-चार साल पहले चला जायेगा और कोई दो-चार साल पीछे। जाना सब ने अवश्य है। जब मरना सब ने अवश्य है तो इस विश्व के अनादि और अनन्त काल-चक्र में यह बात कौन-सा बड़ा महत्त्व रखती है कि कोई व्यक्ति दो-चार साल पहले मर जाता है या दो-चार साल पीछे मरता है[१]। मैं मांस नहीं खाऊंगा। मुझे मर जाना है तो भले ही मर जाने दो। पण्डित गुरुदत्त मर गये पर उन्होंने मांस नहीं खाया। उन्होंने अपने प्राण बचाने के लिये दूसरे प्राणी के

१. What does it Matter, Whether one dies a few years earlier or a few years later, When one is ultimately sure to die.

प्राणों को लेना स्वीकार नहीं किया। वैदिकधर्मियों का तो यह आदर्श है। रोग की अवस्था में डाक्टरों और वैद्यों के कहने पर भी मांस खाने का पाप नहीं करना चाहिये।

ध्रुव-प्रदेशों के लोगों को भी मांस खाने की आवश्यकता नहीं है

कुछ लोग यह शंका किया करते हैं कि जो लोग ध्रुव-देशों में रहते हैं वे क्या करें ? वहां तो बर्फ ही बर्फ होती है। वहां कोई खेती नहीं हो सकती। वहां रहने वालों को तो उन प्रदेशों में पाये जाने वाले एक प्रकार के जानवर जिन्हें वालस और रेनडीयर कहा जाता है तथा आस-पास के समुद्रों में पाई जाने वाली मछलियें ही खानी पड़ती हैं। वे लोग क्या करें ? उन्हें तो मांस खाना ही पड़ेगा ? ऐसा सोचने वाले लोग भी ठीक नहीं सोचते। पहले तो यह बात है कि मनुष्य कहीं भी रहने और न रहने में स्वतन्त्र है। ध्रुव-देशों में रहने वाले लोग वहां जा कर बसे ही क्यों ? वे अब भी उन स्थानों को छोड़ कर दूसरे स्थानों में जा कर बस सकते हैं फिर आज कल के वैज्ञानिक युग में तो यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिये। वैज्ञानिक साधनों से वहां भी खेती हो सकती है[1]। वहां का विशेष प्रकार का हरिण जिसे रेनडीयर कहते हैं घास खाने वाला प्राणी है। उसे बर्फ के नीचे दबी हुई छोटी-मोटी घास खाने को मिल ही जाती है। तब वहां भी वैज्ञानिक साधनों से खेती जैसे-तैसे हो ही सकती है। यह सब भी न सही। आज के वैज्ञानिक युग में जहाजों और वायुयानों द्वारा कहीं का अनाज कहीं भी पहुंचाया जा सकता है। ध्रुव-प्रदेश के लोगों तक भी सब प्रकार का अनाज पहुंच सकता है। वहां के लोग यदि मांस खाने को पाप समझ कर उस से बचना चाहें तो आज के वैज्ञानिक युग में उन के अनाज खाने की व्यवस्था हो सकती है।

भेड़-बकरी आदि को न खाने से उन से धरती नहीं भर जायेगी

एक शंका यह की जाती है कि यदि भेड़-बकरी आदि को खाया नहीं जायेगा तो वे इतने बढ़ जायेंगे कि उन से सारी धरती भर जायेगी और मनुष्यों को रहने की जगह ही नहीं मिलेगी। अतः इन पशुओं का खाया जाता रहना ही ठीक है। यह विचार भी ठीक नहीं है। कौवों को कोई नहीं खाता। उन से तो सारा आकाश आज तक नहीं भरा। कुत्ते और बिल्लियों

---

१. आज कल दक्षिणी ध्रुव के प्रदेशों की छान-बीन करने के लिये अमेरिका, रूस, ब्रिटेन और फ्रांस आदि अनेक देशों के वैज्ञानिक वहां जा रहे हैं। समाचार-पत्रों में आया था कि वे लोग गमलों और सन्दूकों में रेत भर कर उस में रासायनिक पदार्थों का घोल डाल कर बिजली की गरमी से अपने खाने के लिये फल और सब्जी पैदा करेंगे।

को कोई नहीं खाता। उन से तो सारी धरती आज तक नहीं भरी। और भी कितने ही पशु और पक्षी ऐसे हैं जिन्हें कोई नहीं खाता। उन से तो आकाश और धरती नहीं भरे। प्रकृति और परमात्मा के अपने नियम हैं, उन के अनुसार प्राणी पैदा भी होते रहते हैं और मरते भी रहते हैं। हम किसी पशु-पक्षी को नहीं खायेंगे तो भी परमात्मा की व्यवस्था के अनुसार वे मरते रहेंगे। आकाश और धरती के भरने का प्रश्न नहीं पैदा होगा। इस चिन्ता के मारे हमें मांस खाने का पाप नहीं करना चाहिये।

दूध पीने में हिंसा नहीं होती

कई लोग शंका किया करते हैं कि दूध भी तो पशुओं से प्राप्त होने वाला भोजन ही है, दूध भी पशुओं के खून से ही बनता है। दूध के पीने में भी हिंसा होगी। अतः वह भी नहीं पीना चाहिये। फिर वेद-शास्त्रों में, जो कि अहिंसा को धर्म मानते है, दूध पीने का विधान क्यों है ?

यह शंका भी ठीक नहीं है। दूध पीने में हिंसा नहीं होती। दूध लेने के लिए पशु को पीड़ित नहीं करना पड़ता, उसे कष्ट नहीं दिया जाता, और उस के प्राण नहीं लिये जाते। हम पशु की सेवा करते हैं। उसे अच्छी तरह खिलाते-पिलाते हैं। उस की रक्षा करते हैं। उस की सेवा और रक्षा के बदले में हम उस से दूध ले लेते हैं। हम उसे अच्छी तरह खिला-पिला कर उस का दूध बढ़ा देते हैं जो कि उस के बछड़े की आवश्यकता से अधिक होता है। इस अधिक दूध को हम पशु को प्यार-पुचकार कर उस से ले लेते हैं। कुछ बड़ा होने पर उस के बछड़े को भी हम खाना देने लगते हैं। दूध लेने में किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती।

यह विचार भी ठीक नहीं है कि पशु के खून से दूध बनता है। घास आदि खाने से पशु के पेट में जो रस बनता है उस रस से सीधा दूध बन जाता है। दूध के काम जितना रस आता है उसे खून बनने की आवश्यकता नहीं होती। वह रस तो सीधा पशु के शरीर में स्थित दूध बनाने वाले यन्त्रों में जा कर दूध बन जाता है। यह नहीं होता है कि एक बीस सेर दूध देने वाली गाय में पहले बीस सेर रक्त बने। और फिर उस से दूध बने। यदि ऐसा हुआ करे तो रोज बीस सेर खून बढ़ने के कारण पहले तो गाय खूब मोटी हो जाया करे और फिर उस का दूध बनने से वह पतली हो जाया करे। हम ऐसा होते नहीं देखते। एक बात और है। किसी भी शरीरधारी के शरीर में हर समय उस के शरीर के भार का लगभग २०वां हिस्सा रक्त रहा करता है। गाय में इतना रक्त तो हर समय रहता ही है। उस से अधिक

रक्त उस की नस-नाड़ियों में नहीं समा सकता। दूध बनने के लिये इस से अधिक रक्त की आवश्यकता होगी। वह उस की नस-नाड़ियों में नहीं समा सकेगा। वस्तुतः रक्त से दूध नहीं बनता। घास आदि के रस से सीधा दूध बन जाता है। यह इससे भी पता लगता है कि जब बरसात में पशु अधिक हरा घास चरते हैं तो कई बार उन के दूध में बहुत बे-मालूम-सी हल्की-सी हरी झलक दिखाई देती है। कई बार जैसी जड़ी-बूटियें पशु खाता है उन के स्वाद और गन्ध की भी अत्यन्त हलकी-सी झलक दूध में प्रतीत होती है। पशु का शरीर तो दूध बनाने का एक यन्त्र मात्र है। पशु के रक्त से दूध बनने का कोई प्रश्न नहीं है। इस प्रकार दूध पीने में हिंसा का कोई सवाल नहीं उठता।

यदि यह भी मान लिया जाये कि रुधिर से ही दूध बनता है तो भी हिंसा का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। जब रुधिर रासायनिक परिवर्तन (Chemical Change) हो कर दूध बन जाता है तो वह एक नई चीज हो जाता है। जैसे खेत में डाला हुआ गोबर, मूत्र और विष्ठा रासायनिक परिवर्तन हो कर जब गेहूं, चना, मकई, चावल, आम और अंगूर में बदल जाते हैं तो वे गोबर आदि नहीं रहते। बिलकुल नई चीज बन जाते हैं। इसी प्रकार रासायनिक परिवर्तन द्वारा दूध में बदल कर रक्त बिलकुल नई वस्तु बन जाता है। वह रक्त नहीं रहता। फिर जैसा ऊपर की पंक्तियों में कहा है हम दूध लेने में पशु की हिंसा भी नहीं करते। हां, जो लोग पशु की सेवा नहीं करते, उसे अच्छी तरह खिलाते-पिलाते नहीं और उस के साथ प्यार-पुचकार नहीं करते तथा 'फूका' आदि द्वारा कष्ट देकर उन का दूध निकालते हैं, वे अवश्य हिंसा करते हैं। क्योंकि वे पशु को अपने स्वार्थ के लिये कष्ट दे रहे हैं। ऐसी हिंसा करने वालों को अवश्य पाप लगेगा। नहीं तो वैसे दूध पीने में कोई हिंसा नहीं है। फिर, कोई चाहे तो बिना दूध पीये अनाज, सब्जी और फलों पर निर्भर रह कर भी अपने शरीर को पुष्ट रख सकता है।

अण्डे भी नहीं खाने चाहिये

कई लोग पूछा करते हैं कि अण्डे खा लेने चाहिये या नहीं ? अण्डे तो मांस नहीं होते, उन के खाने में क्या हर्ज है ? अण्डे भी नहीं खाने चाहिये। अण्डे में जीवात्मा निवास कर रहा होता है। थोड़े ही समय में अण्डे ने पक्षी का रूप धारण कर लेना होता है। हमें मालूम है कि अण्डा पक्षी बनने वाला है—एक जीवित प्राणी का रूप धारण करने वाला है। यह जानते हुए भी जब हम अण्डे को खा जाते हैं तो हम जान बूझ कर हिंसा कर रहे होते हैं। अण्डे को खा जाना वैसा ही है जैसा कि किसी स्त्री के गर्भ को निकाल कर खा जाना। स्त्री के

गर्भ में बालक तैयार हो रहा होता है और अण्डे में पक्षी का बच्चा। जब हम गर्भ-हत्या को पाप मानते हैं तो अण्डा खाना पाप क्यों नहीं है ? वह भी तो गर्भ-हत्या ही है ? जब हम मनुष्यों की गर्भ-हत्या करने के लिये उद्यत नहीं हैं तो हमें पक्षियों की गर्भ-हत्या करने का क्या अधिकार है ? गर्भ-हत्या करने वाले को कानून से दण्ड मिलता है। अण्डे खाने वाले को भी कानून से दण्ड मिलना चाहिये। फिर, अण्डा पक्षी के रज और वीर्य का मिश्रण होता है। उस का खा जाना एक घृणित कर्म है। यह ऐसा ही घृणित कर्म है जैसा कि स्त्री और पुरुष के रज और वीर्य को निकाल कर खा जाना घृणित कर्म होगा। दूसरी बात यह है कि अण्डा भी मांस की भांति ही तामसिक भोजन है। अण्डा खाने से भी खाने वाले के भीतर तामसिक वृत्ति पैदा होती है और उस में वे सभी दुर्गुण उत्पन्न होने लगते हैं जो ऊपर मांस से पैदा होने वाली तामसिक वृत्ति का वर्णन करते हुए गिनाये गये हैं। अण्डा मांस से मिलता-जुलता ही भोजन है। अण्डा खाने वाले में मांस खाने की आदत पड़ने का भी डर रहता है। अण्डा खाने में यह भी एक दोष है। जैसा ऊपर कहा गया है विश्व में पूर्ण शान्ति लाने के लिये लोगों का अहिंसा का सार्वभौम महाव्रत पालन करने वाला—पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन करने वाला—होना आवश्यक है। अण्डा खाने में भी हिंसा का समावेश रहने से वह अहिंसा के सार्वभौम महाव्रत के पालन में बाधक है। अण्डे में जो पौष्टिक तत्त्व बताये जाते हैं वे सब तत्त्व हमें दूध, दही, मक्खन, मलाई, अनाज, सब्जी, फल और मेवे खाने से अच्छी तरह मिल सकते हैं। इस लिये भी अण्डे खाने की आवश्यकता नहीं है। इन सब हेतुओं से हमें अण्डे नहीं खाने चाहिये।

कई लोग पूछा करते है कि सामान्य अण्डे खाने में तो हिंसा का दोष हो सकता है, पर ऐसे अण्डे खाने में, जिन से बच्चे नहीं पैदा हो सकते जिन्हें फेक्ड ऐग्ग (Faked Egg) या निर्बीज अण्डे कहते हैं, क्या हर्ज है ? उन के खाने में तो हिंसा नहीं होगी। उन्हें क्यों न खा लिया जाय ? यह बात ठीक है कि ऐसे फेक्ड या निर्बीज अण्डे खाने में हिंसा वाला दोष नहीं आयेगा। परन्तु ऊपर गिनाये गये तामसिक वृत्ति पैदा होने आदि के शेष सभी दोष निर्बीज अण्डों के खाने में भी आयेंगे। निर्बीज अण्डे खाने से सबीज अण्डे खाने की आदत पड़ने का डर भी रहेगा। फिर यह पता लगाना भी सर्व-साधारण लोगों के लिये आसान नहीं है कि निर्बीज अण्डा कौन-सा है और सबीज अण्डा कौन-सा। निर्बीज अण्डे के धोखे में सबीज अण्डे भी खाये जा सकते हैं। इन सब कारणों से फेक्ड या निर्बीज अण्डे खाना भी उचित नहीं है।

फल और सब्जी खाने में हिंसा नहीं होती

मांस-अण्डे खाने वाले लोग एक यह भी आक्षेप किया करते हैं कि तुम हिंसा-अहिंसा की बात करने वाले लोग मांस और अण्डे खाने में तो हिंसा मानते हो पर क्या फल और सब्जियें खाने में हिंसा नहीं होती ? वैदिक-धर्मी लोग वनस्पतियों में भी तो जीव मानते हैं। तब वनस्पतियों से प्राप्त होने वाले भोजन में भी तो हिंसा होगी ? क्या वनस्पतियों में जीव नहीं होता ? इस सम्बन्ध में यह कहना है कि यह तो ठीक है कि वनस्पतियों में भी जीव होता है। जहां जीव होता है वहां जीव रहित जड़-पदार्थों की तुलना में तीन प्रधान विशेषतायें देखी जाती हैं। (१) बाहर से भोजन को शरीर के अन्दर लेकर पचा कर शरीर का अंग बनाना और इस प्रकार भीतर से अपने शरीर की वृद्धि करना। (२) बीज से अपने जैसी सन्तान पैदा करना। पशु-पक्षी और मनुष्यों का वीर्य भी बीज ही है। और (३) चेतना—सींचना-विचारना। वनस्पतियों में चेतना नहीं होती। शेष दोनों बातें दूसरे जीवधारियों की भांति ही होती हैं। अतः वनस्पतियों में जीव तो है। पशुपक्षियों और मनुष्यों से उन में केवल इतना भेद है कि उन में जीव सुषुप्ति की अवस्था में होता है। वहां जीव की चेतना गाढ़ से भी गाढ़ निद्रा में सोई पड़ी होती है। वह मोच-विचार नहीं सकता, सुख-दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। वनस्पति को काटने और तोड़ने से उसे कोई दुःख नहीं होता। अतः वनस्पति को काटने आदि में कोई हिंसा भी नहीं होती।

इस पर कई लोग शंका करते हैं कि यदि किसी प्राणी को क्लोरोफार्म (Chloroform) आदि ओषधियें सुंघा कर बेहोश कर के मार दिया जाय तो उस में भी हिंसा नहीं होनी चाहिये। क्लोरोफार्म से बेहोश प्राणी को भी दुःख नहीं होता। इस के उत्तर में हमारा कहना है कि क्लोरोफार्म सुंघा कर किसी प्राणी को मार डालने में हिंसा है। हम ने जान-बूझ कर क्लोरोफार्म सुंघा कर प्राणी की चेतना नष्ट की है। हम ने अपने स्वार्थ के वश में हो कर, अपनी शक्ति के बल पर, एक गरीब और निर्बल प्राणी की चेतना नष्ट की है। एक तो यही बुराई की बात है। दूसरे थोड़े समय के बाद ही बेहोशी उतर जाने पर उस प्राणी की चेतना लौट आयेगी वह फिर पहले की भांति अपने जीवन के सुख-आनन्दों को अनुभव करने लगेगा। पशु को बेहोश कर के मारने की हालत में भी हम अपने स्वार्थ के लिये जबरदस्ती एक प्राणी के प्राणों को ले कर उस के जीवन की सब खुशियें और उस के सब आनन्दों को छीन लेते हैं। अतः बेहोश कर के मारने में भी हिंसा ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। वनस्पति की हालत में हम ने अपने

स्वार्थ के लिये उसे जबरदस्ती बेहोश नहीं किया है। हमें मालूम है कि उस ने सुषुप्ति से कभी भी नहीं जागना है—उस में चेतना और सुख-दुःख की अनुभूति कभी भी नहीं आनी है। हमें मालूम है कि उसे दुःख नहीं होता है। पशु-पक्षियों की अवस्था में हमें मालूम है कि उन्हें हमारी भांति ही सुख दुःख होता है। फिर भी हम अपने स्वार्थ के लिये उन्हें मार देते हैं और उन के जीवन के सब हर्ष और आनन्द छीन लेते हैं। वनस्पतियों की अवस्था में हम ऐसा नहीं करते। वहां तो हमें पता है कि उन्हें सुख-दुःख होता ही नहीं है। इस लिये उन्हें जान-बूझ कर दुःख देने और उन के जीवन के हर्ष और आनन्द छीन लेने का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। और इसी लिये वनस्पति के काटने और तोड़ने में हिंसा नहीं होती।

वनस्पतियों को सुख-दुख की अनुभूति नहीं होती

इस पर कुछ लोग आपत्ति करते हैं कि यह बात नहीं है कि वनस्पतियों को सुख-दुःख नहीं होता। श्री जगदीशचन्द्र बसु ने अपने वैज्ञानिक परीक्षणों से सिद्ध कर दिया है कि वनस्पतियों को भी सुख-दुःख की अनुभूति होती है। इस पर हमारा निवेदन है कि श्री जगदीशचन्द्र बसु के परीक्षणों से यह बात सिद्ध नहीं हो सकी है। उन के परीक्षणों से इतना ही पाया गया है कि वनस्पतियों पर विशेष प्रकार की क्रिया करने से उन के शरीर के अवयवों में विशेष प्रकार की स्पन्दना—विशेष प्रकार की हरकत या गति—होती है। उन्हें छेड़ने से ऐसी स्पन्दना तो जड़-पदार्थों के अवयवों में भी हो जाती है। लोहे की एक छड़ के एक सिरे को जोर से हथौड़े से पीटने पर उस छड़ के दूसरे सिरे के अवयव भी स्पन्दित हो उठेंगे। रासायनिक और भौतिक क्रियाओं से जिस प्रकार वनस्पति के शरीर के अवयव स्पन्दित हो जाते हैं उसी प्रकार इन क्रियाओं से जड़-पदार्थों के अवयव भी स्पन्दित हो जाते हैं। श्री जगदीशचन्द्र के परीक्षणों से वनस्पति में स्पन्दनामात्र देखी गई है। इतने से सुख-दुःख की अनुभूति सिद्ध नहीं होती। यही कारण है कि जब अपने परीक्षण दिखाने के लिये श्री जगदीशचन्द्र योरोप में गये थे तो वहां के अधिकांश वैज्ञानिक उन के परीक्षणों से प्रभावित नहीं हुए थे। अभी तक वैज्ञानिक जगत् में श्री जगदीशचन्द्र की बात स्वीकार नहीं हुई है। फिर, श्री जगदीशचन्द्र के परीक्षणों का बल वनस्पति में सुख-दुःख सिद्ध करने पर नहीं था, उन का बल वनस्पति में जीव की सत्ता सिद्ध करने पर था। उस प्रकार का सुख-दुःख वनस्पति में श्री जगदीशचन्द्र नहीं मानते जैसा कि पशु-पक्षियों और मनुष्यों को होता है। उन से पूछने पर श्री जगदीशचन्द्र ने कहा था कि वनस्पति में उस प्रकार की चेतना नहीं होती जिसे अंग्रेजी में इमैजिनेशन (Imgingtion=संस्कार और

स्मृतिमूलक कल्पना) कहा जाता है। सुख-दुःख की विशिष्ट अनुभूति इमेजिनेटिव चेतना के कारण हुआ करती है। अतः वनस्पति को काटने और तोड़ने में हिंसा नहीं होती।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी ध्यान में रखने की है। वह यह कि यदि वनस्पतियों को सुख-दुःख होता भी हो—जो कि सिद्ध नहीं है—तो भी वनस्पति मूलक भोजन करने में हम हिंसा से अधिक-से-अधिक बचे रहे सकते हैं। हम जितने भी गेहूं, चना, मकई, ज्वार, बाजरा और चावल आदि अनाज तथा उड़द, मूंग, मोठ और अरहर आदि दालें खाते हैं वे सब तो उन के पौदों के पक कर सूख जाने पर प्राप्त होते हैं। उन के खाने में हिंसा का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। हम वृक्षों के फल भी प्रायः पक जाने पर ही लेते हैं। इस विषय में और भी सावधानी बरती जा सकती है। पके फल तोड़ने में भी हिंसा का प्रश्न नहीं उठता। जैसे कि मनुष्य के नाखून काटने में हिंसा का प्रश्न नहीं उठता। हरी सब्जियें खाने में यह प्रश्न कुछ रह जायेगा। अहिंसा का व्रती हरी सब्जियों को खाना छोड़ देगा। हमारी प्रवृत्ति यह रहनी चाहिये कि हम कम-से-कम हिंसा करें—हमारा जीवन अधिक-से अधिक अहिंसा का होना चाहिये। वनस्पति-मूलक भोजन में यह बात अधिक-से-अधिक संभव है। यों जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है वनस्पतियों को सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती है। अतः वनस्पति-मूलक भोजन करने में हिंसा का दोष नहीं आता।

७.
परिशिष्ट

इस लेख में मांस की भोजन-सम्बन्धी उपयोगिता पर विचार करते हुए हम ने कहा है कि पोषक तत्त्वों की दृष्टि से मांस का भोजन अनाजों, सब्जियों, फलों, मेवों और दूध की तुलना में घटिया भोजन है। आगे कुछ प्रसिद्ध अनाजों, सब्जियों, फलों, मांसों और दूध के पोषक तत्त्वों की तालिका दी जाती है। पाठक देखेंगे कि अनाजों, सब्जियों, फलों, मेवों और दूध में मांस की अपेक्षा पोषक तत्त्वों की मात्रा कहीं अधिक है। यदि भोजन में अनाजों, सब्जियों, फलों, मेवों और दूध का उचित समन्वय रखा जाये तो कोई ऐसा पोषक तत्त्व नहीं है जो शाकाहार के भोजन द्वारा मांसाहार की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में प्राप्त न किया जा सके। दूध में पोषक तत्त्वों का अनुपात पाठकों को कुछ कम प्रतीत होगा। पर यह इस कारण है कि दूध में पानी की मात्रा बहुत अधिक होती है। दूध का सेवन अधिक परिमाण में किया जाता है। इस कारण दूध से मिलने वाले पोषक तत्त्व शरीर में पर्याप्त मात्रा में पहुंच जाते हैं। बच्चे का पहला भोजन माता का दूध ही होता है। माता के दूध में परमात्मा ने सब पोषक तत्त्व उचित अनुपात में

रखे हैं। अतः माता का दूध आदर्श भोजन है। गौ का दूध माता के दूध से बहुत अधिक मिलता है। इस लिये गौ का दूध आदर्श भोजन है। इसी लिये वेदादि शास्त्रों और आयुर्वेद के ग्रन्थों में गौ के दूध के को बहुत श्रेष्ठ भोजन बताया गया है। इस प्रकार कोई ऐसा पोषक तत्त्व नहीं है जिस के लिये हमें मांस के सेवन की आवश्यकता हो। फिर जैसा ऊपर लेख में दिखाया गया है मांस के भोजन में हिंसा का पाप तो रहता ही है, साथ ही उस में अन्य अनेक प्रकार के दोष और हानियें भी रहती हैं। ये सब दोष शाकाहार के भोजन में नहीं रहते और पोषक तत्त्व शाकाहार से अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि मांस में जो कुछ विटामिन आदि पोषक तत्त्व होते भी हैं वे मूलतः वनस्पतियों से ही उस में पहुंचते हैं। जिन पशुओं का मांस खाया जाता है वे शाकाहारी होते हैं, मांसाहारी नहीं। भोजन के पोषक तत्त्वों का मूल स्रोत शाकाहार है। अतः मनुष्य को शाकाहार का ही सेवन करना चाहिये जिस में किसी प्रकार का दोष नहीं है।

भोज्य-पदार्थों के पोषक तत्त्वों की तुलनात्मक तालिका

यह तालिका भारत सरकार की कुनूर प्रयोगशाला में डॉक्टर डब्ल्यू. आर. एकरॉयड तथा श्री बी. एन. पटवर्धन और श्री एस. रंगनाथन की अध्यक्षता में किये गये परीक्षणों के आधार पर तैयार की गई है और भारत सरकार के स्वास्थ्य बुलेटिन संख्या २३ में प्रकाशित हुई है[1]।

१. From 'Health Bulletin No. 23.—The Nutritive Value of Indian Foods and the Planning of Satisfactory Diets' by W.R. Aykroyd, Director (1935-1945), Nutrition Research Laboratories, Indian research Fund Association, Coonoor, Fourth Edition (Fully Revised), by V.N. Patwardhan, Director, and S. Ranganathan Chief Chemist, Nutrition Research Laboratories, Indian Research Fund Association, Coonoor. Published by the Manager of Publications, Delhi. Printed in India by the Manager, Government of India Press, simla, 1951.

	जल प्रतिशत	प्रोटीन प्रतिशत	वसा (चिकनाई) प्रतिशत	लवण आदि प्रतिशत	रेशा प्रतिशत	कार्बोहाइड्रेट प्रतिशत	कैलशियम प्रतिशत	फासफोरस प्रतिशत	लोहा प्रतिशत	ताप-मात्रा प्रति १०० ग्राम में	कैरोटिन (विटामिन ए) १०० ग्राम में	विटामिन बी, (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	निकोटीन अम्ल प्रति १०० ग्राम में	राईबोफ्लेविन (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	विटामिन सी प्रति १०० ग्राम में
बाजरा	१२.४	११.६	५.०	२.७	१.२	६७.१	०.०५	०.३५	८.८	३६०	२२०	३३०	३.२	—	—
मक्का का आटा	११.५	०.६	०.५	०.४	—	८७.०	०.०२	०.३२	५.३	३५५	—	—	—	—	
चावल	१३.३	६.४	०.४	०.८	—	७६.१	०.०१	०.१५	२.२	३४६	०	२१०	३.८	—	—
गेहूं (आटा)	१२.२	१२.१	१.७	१.८	—	७२.२	०.०४	०.३२	७.३	३५३	—	—	—	—	—
चना	६.८	१७.१	५.३	२.७	३.६	६१.२	०.१६	०.२४	६.८	३६१	३१६	३००	२.६	—	—
मूंग	१०.६	२४.०	१.४	३.४	—	६०.३	०.२६	०.२७	१०.८	३५०	६४	४२०	२.०	—	—
उर्द	१०.४	२४.०	१.३	३.६	४.१	५६.६	०.१४	०.२८	८.४	३३४	१५८	४६५	२.०	—	—
मसूर की दाल	१२.४	२५.१	०.७	२.१	—	५६.७	०.१३	०.२५	२.०	३४६	४००	४५०	१.५	—	—
मटर सूखी	१०.०	१०.७	१.१	२.१	४.५	५६.६	०.६७	०.३६	४.४	३१५	—	४५०	१.३	—	—
अरहर की दाल	१५.२	२२.३	१.७	३.६	—	५७.२	०.१४	०.२६	८.८	३३३	२२०	४५०	२.४	—	—
सोयाबीन	८.१	४३.२	१६.५	४.६	३.७	२०.६	०.२४	०.६६	११.५	४३२	७१०	६००	२.४	—	—
बथुआ	५७.६	४.७	०.४	३.२	—	३.७	०.१५	०.०८	४.२	३७	—	—	—	—	—
बन्द गोभी	६०.२	१.८	०.१	०.६	१.०	६.३	०.०३	०.०५	०.८	३३	२,०००	१५०	०.४	३०	१२४
मेथी	८१.८	४.६	०.६	१.६	१.०	६.८	०.४७	०.०५	१६.६	६७	३,६००	२१०	०.८	—	—
चने का साग	६०.०	८.२	०.५	३.५	—	२७.२	०.३१	०.२१	२८.३	१८७	६,७००	—	—	—	—
सलाद	६२.६	२.१	०.३	१.२	०.५	३.०	०.०३	२.४	२३	२२००	२७०	०.४	१२०	१५	

	जल प्रतिशत	प्रोटीन प्रतिशत	वसा (चिकनाई) प्रतिशत	लवण आदि प्रतिशत	रेशा प्रतिशत	कार्बोहाइड्रेट प्रतिशत	कैलशियम प्रतिशत	फासफोरस प्रतिशत	लोहा प्रतिशत	ताप-मात्रा प्रति १०० ग्राम में	कैरोटिन (विटामिन ए) १०० ग्राम में	विटामिन बी, (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	निकोटीन अम्ल प्रति १०० ग्राम में	राईबाफ्लेविन (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	विटामिन सी प्रति १०० ग्राम में
पालक	९१.७	१.६	०.६	१.५	—	४.०	०.०६	०.०१	५.०	३२	२६००से ३५००तक	२१०	०.५	६०	४८
गाजर	८६.०	०.६	०.२	१.१	१.२	१०.७	०.०८	०.५३	१.५	४७	२०००से ४३०तक	१८०	०.४	२०	३
प्याज	५६.८	१.२	०.१	०.४	—	११.७	०.१८	०.०५	०.७	५१	—	१२०	०.४	१०	११
आलू	७४.७	१.६	०.१	०.६	—	२२.६	०.०१	०.०३	०.७	६६	४०	६०	१.२	१०	१७
मूली	६०.८	०.६	०.३	०.६	—	७.४	०.०५	०.०२	०.५	३५	३	१८०	०.४	—	१७
करेला	६२.४	१.६	०.२	०.८	०.८	४.२	०.०२	०.०७	२.२	२५	२१०	७२	०.५	६०	८८
बैंगन	६१.५	१.३	०.३	०.५	—	६.४	०.०२	०.०७	१.३	३४	५	४५	०.८	६०	२३
फूल गोभी	८६.४	३.५	०.४	१.४	—	५.३	०.०३	०.०६	१.३	३६	३८	३३०	०.६	८०	६६
खीरा	६६.४	०.४	०.१	०.३	—	२.८	०.०१	०.०३	१.५	१४	—	६०	०.२	४	७
गांठ गोभी	६२.१	१.१	०.२	०.७	—	५.६	०.०२	०.०४	०.४	३०	३६	—	०.५	—	८५
भिण्डी	८८.०	२.२	०.२	०.७	१.२	७.७	०.०६	०.०८	१.५	४१	५८	६३	—	—	१६
शल्जम	६१.४	३.१	०.१	१.४	—	४.०	०.१	०.१	१.२	२१	—	—	—	—	—
कद्दू	६२.६	१.४	०.१	०.६	—	५.३	०.०१	०.०३	०.७	२८	८४	६०	०.५	४०	२
टिंडा	६२.३	१.७	०.१	०.६	—	५.३	०.०२	०.०३	०.६	२६	२८	—	—	—	—

	जल प्रतिशत	प्रोटीन प्रतिशत	वसा (चिकनाई) प्रतिशत	लवण आदि प्रतिशत	रेशा प्रतिशत	कार्बोहाइड्रेट प्रतिशत	कैलशियम प्रतिशत	फासफोरस प्रतिशत	लोहा प्रतिशत	ताप-मात्रा प्रति १०० ग्राम में	कैरोटिन (विटामिन ए) १०० ग्राम में	विटामिन बी, (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	निकोटीन अम्ल प्रति १०० ग्राम में	राईबाफ्लेविन (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	विटामिन सी प्रति १०० ग्राम में
टमाटर हरा	९२.८	१.९	०.१	०.७	—	४.५	०.०२	०.०४	२.४	२७	३२०	६६	०.४	०.०	३१
चप्पन कद्दू	९४.८	०.५	०.१	०.३	—	४.३	०.०१	०.०३	०.६	२०	०	—	—	—	१८
बादाम	५.२	२०.८	५९.९	२.९	१.७	१०.५	०.२३	८.४९	३.५	६५५	०	२४०	२.५	—	०
काजू	५.६	२१.२	४६.९	२.४	१.३	२२.३	०.०५	.४५	५.०	५९६	१००	—	२.१	१६०	०
नारियल	३६.३	४.५	४१.६	१.०	३.६	१३	०.०१	०.२४	१.७	४४४	०	४५	०.८	१००	१
मूंगफली	७.९	२६.७	४०.१	१.९	३.१	२०.३	०.०५	०.३९	१.६	५४९	६३	९००	१४.१	३००	०
सरसों (बीज)	८.५	२२	३९.७	४.२	१.८	२३.८	०.४९	०.७	१७.९	५४१	२७०	—	४	—	०
पिस्ता	५.६	१९.८	५३.५	२.८	२.१	१६.२	०.१४	०.४३	१३.७	६२६	२४०	—	१.४	—	०
अखरोट	४.५	१५.६	६४.५	१.८	२.६	११	०.१	०.३८	४.८	६८७	१०	४५०	१.६	—	०
लहसुन	६२.८	६.३	७.१	१.०	०.८	२९.०	०.०३	०.३१	१.३	१४२	०	—	०.४	—	१३
सेव	८५.९	०.३	०.१	०.३	—	१३.४	०.०१	०.०२	१.७	५६	०	१२०	०.२	३०	२
केला (बनाना)	६१.४	१.३	०.२	०.७	—	३६.४	०.०१	०.०५	०.४	१५३	०	१५०	०.३	३३	१
रामफल	७६.८	१.४	०.२	०.७	—	२०.९	०.०१	०.०१	.०६	९१	०	—	—	—	—
खजूर	२६.१	३.०	०.२	१.३	२.१	६७.३	०.०७	०.०८	१०.६	२८३	६००	६०	०.८	३०	०
अंजीर	८०.८	१.३	०.२	०.६	—	१७.१	०.०६	०.०३	१.२	७५	२७०	—	०.६	५०	२
अंगूर	८५.५	०.८	०.१	०.४	३.०	१.२	०.०३	०.०२	०.४	४५	१५	०	०.३	१०	३
अमरूद	७६.१	१.५	०.२	०.८	६.९	१४.५	०.०१	०.०४	१.०	६६	०	—	०.२	३०	२९९

	जल प्रतिशत	प्रोटीन प्रतिशत	वसा (चिकनाई) प्रतिशत	लवण आदि प्रतिशत	रेशा प्रतिशत	कार्बोहाइड्रेट प्रतिशत	कैलशियम प्रतिशत	फासफोरस प्रतिशत	लोहा प्रतिशत	ताप-मात्रा प्रति १०० ग्राम में	कैरोटिन (विटामिन ए) १०० ग्राम में	विटामिन बी, (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	निकोटीन अम्ल प्रति १०० ग्राम में	राईबाफ्लेविन (माईक्रोग्राम) प्रति १०० ग्राम में	विटामिन सी प्रति १०० ग्राम में
नींम्बू	८५.०	१.०	०.६	०.३	१.७	११.१	०.०७	०.०१	२.३	५७	०	—	०.१	४	३६
आम	८६.१	०.६	०.१	०.३	१.१	११.८	०.०१	०.०२	०.३	२०	४८००	—	०.३	५०	१३
संतरा	८७.८	०.६	०.३	०.४	—	१०.६	०.०५	०.०२	०.१	४६	३५०	१२०	—	६०	६८
नाशपाती	८६.६	०.२	०.१	०.३	१.०	११.५	०.०१	०.०१	०.७	४७	१४	—	०.२	३०	०
केला(प्लान्टेन)	७३.४	१.१	०.१	०.७	—	२४.७	०.०१	०.०३	०.५	१०४	१२४	—	०.३	१७०	६
अनार	६८.०	१.६	०.१	०.७	५.१	१४.६	०.०१	०.०७	०.३	६५	०	—	—	१०	१६
टमाटर पक्का	६४.५	१.०	०.१	०.५	—	३.६	०.०१	०.०२	०.१	२१	३२०	१२०	०.४	६०	३२
गो मांस	७४.३	२२.६	२.६	१.०	—	—	०.०१	०.१६	०.८	—	०	१५०	६.४	४०	२
अंडा मुर्गी का	७३.७	१३.३	१.०	—	—	०.०६	०.२२	२.१	१७३	१२००	१०००	—	०	—	—
मछली	७८.४	२२.६	०.६	०.८	—	—	०.०२	०.१६	०.६	२६	६.०	—	१०से	—	—
												३.६ तक			
भेड़ का मांस	७१.५	१८.५	१३.३	१.३	—	—	०.१५	०.१५	२.५	३१	०	१८०	६.८	२७०	—
सुअर का मांस	७७.४	१८.७	४.४	१.०	—	—	०.०३	०.२	२.३	०	०	५४०	२.८	६०	२
मुर्गे का मांस	७२.२	२५.६	०.६	१.३	—	—	०.०३	.२५	—	—	—	—	—	—	—
दूध (गाय का)	८७.६	३.३	३.६	०.७	—	४.८	०.१२	०.०६	०.२	१८०	०	५१	०.१	२००	२
दूध (भैंस का)	८१.०	४.३	८.८	०.८	—	५.१	०.२१	०.१३	०.२	१६२	०	+	०.१	—	—

वैदिक धर्म और ब्रह्मचर्य तथा पश्चिमी डाक्टर

१.

आर्य संस्कृति में ब्रह्मचर्य का महत्त्व

ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त उन थोड़े से महत्त्वपूर्ण आधारभूत सिद्धान्तों में से है जिन पर भारतीय आर्य संस्कृति का भव्य भवन खड़ा हुआ है। वेदों से ले कर गीता तक सब आर्य-धर्म शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाये गये हैं और व्यक्ति के लिये ब्रह्मचर्य का जीवन बिताने पर भारी बल दिया गया है। आर्यों के सभी ऋषि-मुनि, आचार्य और महापुरुष ब्रह्मचर्य की महिमा का बखान करते हुए अघाते नहीं रहे हैं। आर्यो के इतिहास में जिन महापुरुषों की सब से अधिक प्रतिष्ठा और पूजा है वे अपने विद्यार्थी-काल में तो पूर्ण ब्रह्मचारी होते ही रहे हैं, गृहस्थ में भी वे यथासंभव अधिक-से-अधिक संयम का जीवन बिताते रहे हैं और इस प्रकार मनु के शब्दों में वे गृहस्थ में भी एक तरह से ब्रह्मचारी[1] ही रहते रहे हैं। हमारे महाराज मनु, भगवान् राम और कृष्ण, भरत और लक्ष्मण, जनक और व्यास आदि महापुरुष इसी कोटि के थे। हमारे इतिहास में अनेक प्रतिष्ठित और पूज्य महापुरुष ऐसे होते रहे हैं जो जीवन भर अखण्ड ब्रह्मचारी रहे हैं। हनुमान्, भीष्मपितामह, शुकदेव, शंकराचार्य और ऋषि दयानन्द इसी कोटि के महापुरुष हुए हैं। हमारे इतिहास में अनेक प्रतिष्ठित और पूज्य पुरुष ऐसे भी होते रहे हैं जिन्होंने कुछ काल तक ही गृहस्थ का जीवन बिताया है, उस के अनन्तर वे पूर्ण ब्रह्मचारी रहे हैं। महात्मा बुद्ध और महात्मा गान्धी इसी कोटि के महापुरुष थे। मनु से ले कर ऋषि दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा गान्धी तक की आर्य-विचारकों, ऋषि-मुनियों, साधु-सन्तों, महात्माओं और महापुरुषों की अखण्ड परम्परा अनथक हो कर ब्रह्मचर्य की महिमा और गरिमा के गीत गाती रही है। वैदिकधर्मी आर्य-जाति की विचारधारा में ब्रह्मचर्य पर जितना बल दिया जाता है उतना अन्य किसी जाति की विचारधारा में नहीं दिया जाता। आर्य-जाति में जिन दस यम और नियमों[2] को चरित्रवान् व्यक्ति के चरित्र का आवश्यक अंग माना जाता है उन

---

१. निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्। मनु. ३.५०।

२. शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पांच नियम।
अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम।

में ब्रह्मचर्य मुख्य स्थान रखता है। आर्यों की वर्णाश्रमधर्म की समाज-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के लिये—बालकों की अवस्था में कम-से-कम २५ वर्ष की आयु तक और कन्याओं की अवस्था में कम-से-कम १६ वर्ष की आयु तक—ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना आवश्यक माना गया है। आर्य-विचारधारा में विद्यार्थी-काल को तो नाम ही ब्रह्मचर्याश्रम का दे दिया गया है। फिर गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में जा कर पुनः प्रत्येक व्यक्ति ने ब्रह्मचर्य का ही जीवन बिताना है। इतना अधिक बल आर्य-विचार-धारा में ब्रह्मचर्य पर दिया गया है !

ब्रह्मचर्य शब्द का व्यापक अर्थ

ब्रह्मचर्य संस्कृत भाषा का एक ऐसा शब्द है जिस का संसार की किसी भाषा के एक शब्द में अनुवाद नहीं किया जा सकता। ब्रह्मचर्य का पहिला मुख्य अर्थ होता है 'ब्रह्म' अर्थात् परमात्मा में विचरण—परमात्मा को प्राप्त करना, परमात्मा का साक्षात्कार करना। ब्रह्म का, परमात्मा का, साक्षात्कार और प्राप्ति नहीं हो सकती जब तक 'ब्रह्म' अर्थात् 'वेद' और तदनुकूल शास्त्रों में विचरण न किया जाये—उन का गम्भीर और व्यापक स्वाध्याय न किया जाये। इस लिये ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ होता है वेदों और वेदोपलक्षित शास्त्रों और विद्या-विज्ञानों का अध्ययन करना। परमात्मा का साक्षात्कार और वेदादि शास्त्रों का अध्ययन नहीं हो सकता जब तक संयम का जीवन न बिताया जाये। इसलिये ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ होता है संयम का जीवन। इस में भी विशेष कर अपनी जननेन्द्रिय को वश में रखना और जननेन्द्रिय को वश में रख कर अपने वीर्य को शरीर से बाहर न होने देना। इस अर्थ में ब्रह्मचर्य का शब्दार्थ हो जाता है 'ब्रह्म' अर्थात् 'वीर्य' की प्राप्ति—वीर्य का रक्षण। सारे शरीर में व्यापक और जीवन के लिये अत्यन्त महान् अर्थात् महत्त्वपूर्ण होने के कारण वीर्य को ब्रह्म कहा जाता है। अपने-अपने क्षेत्र में अत्यन्त महान् होने के कारण परमात्मा, वेद और वीर्य तीनों ब्रह्म[1] कहलाते हैं। ब्रह्म का शब्दार्थ होता है—सब से बढ़ा हुआ, सब से महान्[2]। जननेन्द्रिय तब तक वश में नहीं हो सकती—वीर्य का

१. ब्रह्म वै प्रजापतिः, श. १३.६.२.८। वेदो ब्रह्म, जै. उ. ४.२५.३।
ब्रह्म वा ऋक्, कौ. ७.१०। ब्रह्म वै मन्त्रः, श. ७.१.१.५।
रेतो वै प्रजापतिः, श. १४.६.२.६। (रेतो वीर्य, प्रजापतिर्ब्रह्म)।

२. बृंहणाद् ब्रह्म। बृहि वृद्धौ। बृंहति परिवृद्धं भवति महिमान्वितं भवति इति ब्रह्म।
बृहि वृद्धौ धातोर्बृहेर्नोऽच्चेति (उणादि ४.१४५) सूत्रेण मनिन्, नकारस्याऽकारः ऋतो रत्वञ्चा

रक्षण तब तक नहीं हो सकता—अब तक हमारी जिह्वा, नाक, आंख्वा, कान, औरा त्वचा ये इन्द्रियाँ तथा मन वश में न हों। यदि इन्द्रियें और मन इधर-उधर विषयों में भटकते रहेंगे तो जननेन्द्रिय भी वश में नहीं हो सकती—वीर्य की रक्षा भी नहीं हो सकती। इस लिये ब्रह्मचर्य का अर्थ हो जाता है जननेन्द्रिय को वश में कर के वीर्य की रक्षा करना और उस के उपाय के रूप में अपनी जिह्वा आदि पांचों इन्द्रियों को और मन को वश में कर के रखना, उन्हें इधर-उधर विषयों में न भटकने देना। इतना व्यापक अर्थ ब्रह्मचर्य का होता है। इसीलिये संसार की किसी भाषा के एक शब्द में इस शब्द का अनुवाद नहीं हो सकता।

वीर्य की उत्पत्ति और उसका कार्य

बोल-चाल की भाषा में ब्रह्मचर्य का मोटा अर्थ जननेन्द्रिय को वश में कर के वीर्य की रक्षा करना होता है। वीर्य अण्डकोषों में उत्पन्न होने वाला एक रस या तरल पदार्थ है। अण्डकोषों में उत्पन्न होने के पश्चात् वीर्य की दो धारायें हो जाती हैं। एक धारा तो वीर्य-कोष (Semenal Vescicle) नामक थैली में चली जाती है। वीर्यकोष नामक थैली का स्थान हमारे शरीर में मूत्राशय और शौचालय के मध्य में होता है। वीर्यकोष में संचित होने वाला वीर्य सन्तान-उत्पत्ति के काम में आता है। वीर्य की दूसरी धारा हमारे रुधिर में मिलती रहती है। रक्त में मिलते रहने वाले वीर्य को 'ओज' नाम से कहा जाता है। यह रक्त में मिलते रहने वाला वीर्य या ओज रक्त के द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंग में जा कर उसे पुष्टि और शक्ति देता है। इस के कारण चेहरे में कान्ति रहती है। आंखों में चमक रहती है। इन्द्रियों में काम करने की शक्ति रहती है। भूख लगती है। हाज्मा ठीक रहता है। खाया-पीया अच्छी तरह हज्म होता है और शरीर में नया और ताजा रक्त अधिक बनता है जिस से स्वास्थ्य उन्नत होता है। कब्ज नहीं होती। काम करने में थकावट नहीं होती। शरीर में चुस्ती और मन में प्रसन्नता रहती है। मस्तिष्क और बुद्धि तीव्र होती है। स्मृति-शक्ति बढ़ती है। पढ़ने-लिखने में जी लगता है। पढ़ा लिखा याद रहता है। नये-नये विचार सूझते हैं। किसी भी काम में लगे रहो, जी नहीं उकताता। शरीर नीरोग रहता है। ये सब लाभ रक्त में पहुंचता हुआ वीर्य या ओज हमें देता है। जब तक वीर्यकोष भरा रहता है तब तक अण्डकोषों में उत्पन्न होने वाला सारा वीर्य रक्त में जाने वाली धारा द्वारा हमारे रक्त में ही मिलता रहता है। जब वीर्यकोष खाली हो जाता है तो उसे भरने के लिये अण्डकोषों में से वीर्य वहाँ पहुंचता है।

वीर्यनाश के दुष्परिणाम

जब हमारे अन्दर काम-वासना जागती है तो हमारी जननेन्द्रिय में खून भर जाता है और उस के कारण वीर्यकोष पर दबाब पड़ता है। जब यह दबाव एक सीमा से बढ़ जाता है तो वीर्यक्रोष में से वीर्य निकल कर मूत्रेन्द्रिय के द्वारा शरीर से बाहर हो जाता है। वीर्यको" खाली हो जाता है। खाली वीर्यकोष को भरने के लिये अण्डकोषों से पुनः वहां वीर्य पहुंचता है। जब हम केवल सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से प्रेरित हो कर कभी-कभी वीर्यकोष से वीर्य को बाहर करते हैं तब तो रक्त में मिलते रहने वाले वीर्य या ओज की मात्रा विशेष कम नहीं होती। परन्तु जब हम केवल शारीरिक आनन्द के पीछे पड़ कर विषयासक्ति में फंस कर बार-बार अपने वीर्यकोष को खाली करने लगते हैं तो उसका परिणाम बहुत बुरा होता है। बार-बार वीर्यकोष खाली होने से अण्डकोषों को उसे बार-बार भरना पड़ता है। इस से रक्त में जाने वाले वीर्य या ओज की मात्रा बहुत कम हो जाती हैं उस का प्रभाव हमारे सारे शरीर और जीवन पर बहुत बुरा पड़ता है। चेहरे की कान्ति कम होने लगती है। आंखों की चमक जाने लगती है। इन्द्रियों की शक्ति कम होने लगती है। भूख कम लगने लगती है। हाज्मा कमजोर पड़ने लगता है। खाया-पीया अच्छी तरह हज्म नहीं होता। शरीर में नया और ताजा खून कम बनने लगता है। स्वास्थ्य क्षीण होने लगता है। शरीर में थकावट रहने लगती है। कब्ज रहने लगती है। किसी काम में जी नहीं लगता। घण्टा-आधा घण्टा काम कर के ही आंखें और दिमाग़ थकने लगता है। स्मरण-शक्ति कमजोर पड़ने लगती है। तर्क-वितर्क और ऊहापोह की शक्ति भी कम पड़ने लगती है। पढ़ा-लिखा याद नहीं रहता। नये-नये विचार सूझने बन्द हो जाते हैं। शरीर भारी और मन उदास-सा रहने लगता है। ये सब हानियें रक्त में वीर्य या ओज की मात्रा कम जाने से होने लगती हैं।

जितना-जितना काम-वासना और विषयासक्ति में फंस कर हम वीर्य-कोष से वीर्य को बाहर करेंगे उतना-उतना रक्त में जाने वाली वीर्य की मात्रा कम होती जायेगी। ऐसे भी लोग होते हैं जिन का मन अपने वश में बिलकुल नहीं होता और जो काम-वासना के वशीभूत हो कर दिन में कई-कई बार अपने वीर्य-कोष को खाली करते हैं। ऐसे भी अभागे लोग देखे गये हैं जो दिन में सात-सात-आठ-आठ और इस से भी अधिक बार अपना वीर्य नाश करते रहते हैं। ऐसे लोगों के अण्डाकोषों में उत्पन्न होने वाला वीर्य सारा-का-सारा वीर्य-कोष को भरने में लगा रहता है। उन के रक्त में जाने वाली वीर्य की मात्रा शून्य के बराबर हो जाती है।

ऐसे लोगों का जीवन जीते-जी नरक का जीवन हो जाता है। उन की सारी शक्तियें नष्ट हो जाती हैं। वे अनेक रोगों के शिकार हो जाते हैं। मर कर ही इस कष्ट से उन का छुटकारा होता है। अति विषयासक्ति से जिस प्रकार पुरुषों को हानि होती है उसी प्रकार अति विषयासक्ति से स्त्रियों को भी हानि होती है।

जीवन-प्रदीप का तेल

चेहरे की कान्ति, आंखों की चमक, इन्द्रियों में काम करने की शक्ति, शरीर में बल, स्फूर्ति, उत्साह, स्वास्थ्य और नीरोगता, चित्त में प्रसन्नता और काम में लगे रहने की उमंग, शरीर और मन में थकावट का न होना, स्मृति और ऊहापोह की शक्ति में तीव्रता रहना आदि सब बातों को यदि एक शब्द में हम 'जीवन का प्रकाश' नाम दे दें तो वीर्य को हम 'जीवन का स्नेह या तेल' नाम से कह सकते हैं। जो स्थान दीपक में तेल का होता है वही स्थान हमारे जीवन में वीर्य का है। ज्यों-ज्यों दीपक में तेल की मात्रा बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उस का प्रकाश भी बढ़ता और उज्ज्वल होता जाता है। ज्यों-ज्यों दीपक में तेल की मात्रा कम होती जाती है त्यों-त्यों उस का प्रकाश भी कम होता और फीका पड़ता जाता है। और जब दीपक में तेल बिलकुल नहीं रहता तो उस का प्रकाश बिलकुल जाता रहता है—तब दीपक बुझ जाता है। उसी प्रकार जब हमारे शरीर में ब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य की मात्रा बढ़ती रहती है तो ऊपर उल्लिखित हमारा जीवन-प्रकाश भी बढ़ता रहता है। और ज्यों-ज्यों विषयासक्ति के कारण हमारे शरीर में वीर्य की मात्रा कम होती जाती है त्यों-त्यों हमारे जीवन का यह प्रकाश भी धीमा पड़ता जाता है। और अन्त में जब हम अत्यन्त विषयासक्ति के कारण अपने शरीर से वीर्य को अतिशय परिमाण में बांहर करते रहते हैं जिस के कारण हमारे रक्त को 'ओज' मिलना सर्वथा बन्द हो जाता है और उस के परिणाम-स्वरूप हमारा रक्त शक्तिहीन हो जाता है जिस का फल यह होता है कि अण्डकोषों में वीर्य बनना ही बन्द हो जाता है—क्योंकि अण्डकोषों को भी शुद्ध और शक्तियुक्त रक्त मिलते रहने से ही उन में वीर्य-निर्माण की शक्ति बनी रहती है—तब शरीर में वीर्य बिलकुल न रहने के कारण हमारे जीवन का प्रकाश बिलकुल बुझ जाता है और हमारी मृत्यु हो जाती है। वीर्य का और जीवन-शक्ति का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है।

विषयासक्ति से होने वाली भयंकर हानियें

प्रारम्भ में जब विषयानन्द में पड़ कर व्यक्ति अपने वीर्य का नाश करने लगता है तो उसे कुछ हानि होती प्रतीत नहीं होती। क्योंकि शरीर में नया वीर्य भी साथ-साथ बन रहा होता

है। परन्तु निरन्तर असंमय का जीवन जारी रखने पर कुछ कालान्तर में वीर्य-नाश की हानियें धीरे-धीरे अनुभव होने लगती हैं। पहले शरीर पर वीर्य-नाश का प्रभाव पड़ने लगता है। रीढ़ की हड्डी और पिण्डलियों में दर्द रहने लगता है। उठते-बैठते आंखों में तारे-से टूटने लगते हैं। शरीर थका हुआ रहता है। भूख नहीं लगती। इस प्रकार के कई प्रभाव शरीर पर दिखाई देने लगते हैं।

परमात्मा बड़े कृपालु हैं। उन्होंने इस धरती-माता पर इस प्रकार की अनेक ओषधियें उत्पन्न कर रखी हैं जिन के सेवन से हमारे ये रोग दूर हो सकते हैं। यदि किसी चिकित्सक की सलाह से हम इन ओषधियों का सेवन करें और संयम से रहने का निश्चय कर लें तो हमारे ये रोग शीघ्र ही ठीक हो जायेंगे और हम फिर से पूर्ण स्वस्थ हो जायेंगे।

परन्तु विषयासक्त व्यक्ति से प्रायः संयम किया नहीं जाता। वह चिकित्सा से अच्छा हो कर पुनः असंयम में पड़ जाता है। असंयम और अधिक बढ़ने पर वीर्य-नाश से शरीर पर तो उपर्युक्त बुरे प्रभाव दिखाई देने ही लगते हैं, मन पर भी उस के बुरे प्रभाव दिखाई देने लगते हैं। स्मृति-शक्ति कम होने लगती है। पढ़ा-लिखा याद नहीं रहता। ऊहापोह की शक्ति जाती रहती है। नये विचार नहीं सूझते। किसी काम में जी नहीं लगता। घण्टा, आधा घण्टा काम कर के ही मन भी थक जाता है और दिमाग भी। जीवन भारी हो जाता है।

परमात्मा बड़े कृपालु हैं। यदि अब भी हम संभल जायें, अब भी हम संयम का जीवन बिताना आरम्भ कर दें और प्रभु की बनाई ओषधियों का सेवन करें तो हम पुनः पूर्ण स्वस्थ हो सकते हैं।

व्यक्ति कुछ दिन संयम करता है और चिकित्सा कराता है। वह अच्छा हो जाता है। पर उस की असंयम की आदत उसे पुनः आ दबाती है। फिर वह लम्पट हो जाता है। इस लम्पटता का शरीर और मन पर ऊपर उल्लिखित बुरा प्रभाव पुनः पड़ता है। यदि यह विषयासक्ति और अधिक बढ़ती रहती है तो उसके परिणाम-स्वरूप शरीर का रक्त बिलकुल दूषित हो जाता है और उस में रोगों का प्रतिरोध करने की शक्ति नहीं रहती। फलतः कई तरह के रोग लग जाते हैं। आतशक (Syphilis) और सुजाक (Gonorrhoea) जैसी भयंकर बीमारियें भी लग जाती हैं। जिन लोगों को ये बीमारियाँ लग जाती हैं उन का जीवन मृत्यु से भी बुरा हो जाता है। उन के कष्ट का वर्णन नहीं हो सकता। वे जीते-जी चिता में जलते रहते हैं।

परमात्मा फिर भी बड़े कृपालु हैं। उन्होंने ऐसी ओषधियाँ भी बना रखी हैं जिन से इन भंयकर रोगों का भी इलाज हो सकता है। यदि रोगी अब भी संयम से काम ले तो इन ओषधियों से चिकित्सा करा कर वह पुनः स्वास्थ्य-लाभ कर सकता है।

रोगी लोग चिकित्सा कराते भी हैं। एक-दो बार उन्हें चिकित्सा से लाभ भी हो जाता है। पर ऐसे लोग बहुत बार असंयम को नहीं छोड़ पाते। बल्कि वे सोचने लगते हैं कि अब चिन्ता की क्या बात है। अब तो दवा पता लग गई। अब खूब आनन्द करो। इस प्रकार के विचार से वे और अधिक असंयम में पड़ जाते हैं। इस असंयम के फलस्वरूप जब उन्हें दूसरी-तीसरी बार ये बीमारियें लगती हैं तो उन का रक्त इतना दूषित हो चुका होता है कि अब उन पर किसी चिकित्सा का असर नहीं होता। उन्हें अब जीवन-भर इन भयंकर रोगों की भट्ठी में जलना पड़ता है। वे जीते-जी चिता पर चढ़े रहते हैं। अब तो मर कर ही इन रोगों से उन का छुटकारा होता है। जो लोग असंयम और विषयासक्ति की राह पर बुरी तरह पड़ जाते हैं उन के साथ यह बीतती है।

थोड़ा-सा भी वीर्यनाश हानिकारक ही है

आरम्भ-आरम्भ में विषयासक्ति में फंसे व्यक्ति को जो कोई हानि होती प्रतीत नहीं होती उस का कारण तो जैसा ऊपर कहा गया है, यह है कि शरीर में नया वीर्य भी पैदा हो रहा होता है। पर आगे चल कर ऊपर कहे प्रकार से वीर्यनाश का बुरा परिणाम प्रतीत होने लगता है। असल में तो एक बार का वीर्यनाश भी कुछ-न-कुछ हानि पहुंचाता ही है। एक पत्थर पर हम हथौड़ा मारते हैं। वह एक हथौड़े से नहीं टूटता। बीस और पचास हथौड़ों से भी नहीं टूटता। हम उस पर और हथौड़े मारते हैं। सौवें हथौड़े में जा कर वह टूट जाता है। तो क्या उसे केवल एक सौवें हथौड़े ने ही तोड़ा है ? नहीं। यदि उस ने केवल एक हथौड़े से टूटना होता तो वह पहले ही हथौड़े से ही टूट जाता। उसे सभी हथौड़ों ने तोड़ा है। प्रत्येक हथौड़ा उस के अवयव ढीले करता गया है। तभी वह सौवें हथौड़े से टूटा है। पहले हथौड़े ने भी उस के अवयव ढीले किये हैं। पहले हथौड़े ने भी उसे कुछ न कुछ तोड़ा है। यही अवस्था वीर्यनाश की है। एक बार का वीर्य-नाश भी हानि पहुंचाता है। वह भी कुछ न कुछ दुर्बलता लाता है। रोज-रोज के वीर्यनाश के परिणाम-स्वरूप हमारी दुर्बलता अधिक बढ़ती जाती है और कुछ काल के पश्चात् वह ऊपर कहे गये रोगों के रूप में प्रकट होती है। एक बार का वीर्य-नाश भी हानिकारक ही है। हमें संयमी हो कर वीर्य-नाश से सर्वथा ही बचना चाहिये। सोच-विचार कर

सन्तान की इच्छा होने पर सन्तान की प्राप्ति के लिये ही वीर्य शरीर से बाहर किया जाना चाहिये। उस के आगे-पीछे नहीं। यदि हम विषयानन्द लेने की भावना से वीर्य-नाश की ओर कुछ भी प्रवृत्त हुए तो विषय का चस्का हमें स्थिर नहीं रहने देगा। वह हमें वीर्य-नाश की राह पर बहुत आगे ले जायेगा। और तब हमें बड़ी भारी हानि उठानी पड़ेगी। फिर उस हानि का प्रतीकार भी नहीं हो सकेगा।

वीर्यनाश करने वाला व्यक्ति मूर्ख व्यापारी जैसा है

विषयानन्द में पड़ कर वीर्य का नाश करने वाले लोग मूर्ख व्यापारी की तरह है। एक व्यापारी है। उस ने दिन-रात एक कर के व्यापार किया। व्यापार में उस ने किसी कष्ट को कष्ट नहीं गिना। रातों जागा। हजारों कोस की यात्रायें कीं। देश-विदेश में घूमा-फिरा। और भी न जाने कितने कष्ट और क्लेश सहे। घोर परिश्रम कर के उस ने अपने व्यापार द्वारा घर को हीरे-जवहरात से भर लिया। अब उन हीरे-जवाहरों से काम लेने का समय आया। वह उस सम्पत्ति का अपने और अपने परिवार के लोगों के सुख-आराम के लिये उपयोग करता। अपने पास-पड़ोस के लोगों को उस से सुख पहुंचाता। कहीं पाठशालायें खुलवा देता। कहीं औषधालय खुलवा देता। कहीं भूखों को रोटी और नंगों को वस्त्र देने के लिये सदावर्त लगवा देता। किसी विद्या की शोध के लिये अनुसन्धानशाला खुलवा देता। राज्य द्वारा चलाये जा रहे लोकोपयोगी कार्यों में सहायता करता। वह ऐसा कुछ न कर के अपने मकान की ऊंची खिड़की में या छत पर बैठ जाता है। अपने हीरे और जवाहरों का ढेर अपने पास लगा लेता है। उन की मुट्ठी और अंजली भरता है और नीचे बह रही गन्दी नाली में फेंक देता है। केवल यह देखने के लिये कि जब वे हीरे और जवाहर नीचे गिरते हैं और उन पर सूर्य की किरणें गिरती हैं तो कैसी रंग-बिरंगी, अद्भुत और मनोमोहक चमचमाहट उन में से निकलती है। यह यह मनोमोहक चमचमाहट देखने का उसे रस है। इस रस में फंस कर वह अपने सब मणि-माणिक्यों को नीचे गन्दी नाली में या धूल में फेंक देता है। उन से उपयोग नहीं लेता।

जैसा यह व्यापारी मूर्ख है ठीक वैसा ही मूर्ख वह व्यक्ति है जो विषयानन्द में पड़ कर अपने वीर्य का नाश करता रहता है। वीर्य का मनुष्य के जीवन में बड़ा कीमती स्थान है। हमारा स्वास्थ्य और हमारे जीवन की सारी उन्नति तथा जीवन के सब सुख-आराम वीर्य पर ही निर्भर करते

हैं। ऊपर जीवन की जिन शक्तियों का सामूहिक नाम हम ने 'जीवन-प्रकाश' रखा है वे सब वीर्य की सत्ता पर ही निर्भर करती हैं। हमारा जीवन ही वीर्य के आधार पर है। शिवसंहिता में कहा गया है—"वीर्य-बिन्दु को गिराते रहने से मृत्यु हो जाती है और वीर्य-बिन्दु की रक्षा करते रहने से जीवन बना रहता है[1]।" आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक में कहा है—"भोजन, निद्रा और ब्रह्मचर्य की तिपाई पर शरीर का स्वास्थ्य टिका हुआ है।" जीवन के लिये वीर्य की इतनी अधिक कीमत होने के कारण ही बोल-चाल की भाषा में लोग वीर्य को 'मणि' कहते हैं। सचमुच वीर्य से बढ़ कर 'मणि' पदार्थ—मूल्यवान् पदार्थ—हमारे लिये दूसरा कोई नहीं है। जिस पर हमारा जीवन ही निर्भर करता है उस से बढ़ कर 'मणि'—उस से बढ़ कर मूल्यवान् पदार्थ—और कौन सा हो सकता है ? मणियों की भांति वीर्य बड़ा दुर्लभ पदार्थ है। चालीस दिन तक हम जो भाँति-भाँति का पौष्टिक भोजन करते हैं उस से हमारे शरीर में एक तोला ही वीर्य बन पाता है। इतना दुर्लभ है वीर्य ! इस वीर्य नामक मणि को विषयानन्द में पड़ कर नष्ट करने वाला व्यक्ति उक्त मूर्ख व्यापारी जैसा ही है। भांति-भांति के पौष्टिक भोजन किये। उन्हें पचाने के लिये व्यायाम किया। इस से वीर्य नामक कीमती रस हमारे शरीर में उत्पन्न हुआ। उसे अपने शरीर में ही खपा कर उस से काम लेने का समय आया हम उसे अपने शरीर में संभाल कर अपने जीवन के ऊपर उल्लिखित प्रकाश को बढ़ाते—अपनी सब तरह की उन्नति करते और सुख-आराम से रहते अपने उन्नत और शक्ति-सम्पन्न जीवन से दूसरों को लाभ पहुंचाते। उत्तम सन्तान पैदा कर के समाज और देश की सेवा करते। अपना यह लोक और परलोक बनाते। यह सब कुछ न कर के हम विषयानन्द के रस में फंस जाते हैं। इस रस में फंस कर अपने जीवन की मणि को व्यर्थ में बाहर फेंकते रहते हैं।

चमचमाहट के रस में फंस कर हीरे-जवाहरात को फेंकने वाला व्यापारी तो केवल अपनी भौतिक सम्पति को ही नष्ट करता है। पर विषयानन्द के रस में फंस कर वीर्य को नष्ट करने वाला व्यक्ति तो अपने जीवन की सम्पत्ति को ही नष्ट कर बैठता है। फिर विषयानन्द भी

---

१. मरणं बिन्दु-पातेन जीवनं बिन्दु-धारणात्। शिवसंहिता।

२. त्रय उपस्तम्भा इति—आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति। एभिस्त्रिभिर्युक्तियुक्तैरुपस्तम्भैः शरीरं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुः संस्कारात्।

चरक. सूत्रस्थान, तिस्रैषणीय एकादश अध्याय।

कैसा ? जो कि क्षणिक है–कुछ क्षणों के लिये ही रहता है, स्थायी नहीं होता। जो कि तामसिक है–जिस के पश्चात् मन में प्रफुल्लता, हर्ष और उत्साह नहीं रहते–जिस के पश्चात् शरीर और मन में थकावट और सुस्ती पैदा होती है, जिस के पश्चात् मन में विचार उठता है कि ऐसा कर के कुछ अच्छा तो नहीं किया। ऐसे क्षणिक और तामसिक शारीरिक आनन्द के रस में फंस कर अपनी जीवनी-शक्ति को नष्ट करने वाला व्यक्ति मूर्ख नहीं तो और क्या है ?

वीर्य की रचना-शक्ति

यह कीमती पदार्थ नष्ट करने के लिये नहीं है। यह बड़ा कीमती है और अत एव बड़ा संभाल कर रखने के योग्य है। इस के कीमतीपन का इसी से अनुमान लगा लीजिये कि यह हमें हमारे जैसी सन्तान पैदा कर के देने की शक्ति रखता है। जब हम इसे अपने शरीर में जज्ब कर लेते हैं, खपा लेते हैं, तो यह ऊपर वर्णित हमारे जीवन के प्रकाश को बढ़ाता है। हमारी कान्ति बढ़ती है। हमारी इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है। हमारा शरीर नीरोग और बलवान बनता है। हमारी स्मृति-शक्ति बढ़ती है। हमारी तर्क-वितर्क करने की, ऊहापोह करने की, नये-नये विचार करने की शक्ति बढ़ती है। हम काम करते हुए थकते नहीं। कोई भी काम सफलता के साथ करने की शक्ति हमारे अन्दर आ जाती है। हम अच्छे व्यापारी, वकील, अध्यापक, सैनिक, शासक, व्याख्याता, कवि, लेखक, चित्रकार और गायक बन सकते हैं। वीर्य-रक्षा के कारण शक्ति का स्रोत हमारे अन्दर होने के कारण हम कुछ भी कर और बन सकते हैं। और सोच-समझ कर शरीर से बाहर किया हुआ वीर्य हमारे जैसी सन्तान हमें देने की शक्ति रखता है। यह अद्‌भुत रचना-शक्ति (Creative energy) है वीर्य में ! शरीर के भीतर खपाया हुआ वीर्य हमारी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियों का निर्माण करता है और सोच-समझ कर शरीर से बाहर किया हुआ वीर्य हमारे जैसे एक नये मनुष्य का निर्माण कर के देता है। वीर्य से बढ़ कर कीमती पदार्थ और कौन सा हो सकता है ?

भोले युवक और युवतियें सुन्दरता के पीछे मरते हैं। शरीर की सुन्दरता भी वीर्य-रक्षा से ही उत्पन्न होती है। युवक और युवती का जब तक विवाह नहीं हुआ होता तब तक उन के चेहरे पर जो कान्ति और सुन्दरता होती है वह विवाह के कुछ समय के पश्चात् नहीं रहती। विवाहित जीवन के में वीर्य के नष्ट होते रहने से उन की सुन्दरता भी नष्ट होने लगती है। सौन्दर्य का मूल कारण भी वीर्य और तज्जनित स्वास्थ्य ही है। सौन्दर्य के अभिलाषी लोगों

को भी वीर्य-रक्षा का जीवन बिताना चाहिये।

जिस वीर्य की इतनी महिमा है वह वीर्य-मणि नष्ट करने की वस्तु नहीं है, वह तो बड़े प्रयत्न और सावधानी से संभाल कर रखने की वस्तु है।

सन्तानोत्पत्ति के लिये ही वीर्य शरीर से बाहर होना चाहिये

धर्म-शास्त्रों में केवल सन्तान-प्राप्ति की इच्छा से वीर्य को शरीर से बाहर करने की आज्ञा है। जब माता-पिता सोच-समझकर अपने घर में कोई सन्तान बुलाना चाहें तभी उन्हें वीर्य अपने शरीर से बाहर करना चाहिये। उस अवस्था में वीर्य को अपने शरीर से बाहर करने में कोई बुराई नहीं . गहै। उस अवस्था में वीर्य को शरीर से बाहर करना बड़ा पवित्र और धग का काम है। वह तो अवश्य किया जाना चाहिये। ब्राह्मण-वर्ण के माता-पिता सन्तान पैदा कर के राष्ट्र को अच्छे ब्राह्मण देने का प्रयत्न करते हैं जो उन के पीछे भी ज्ञान-विज्ञान तथा न्याय, सत्य और धर्म का प्रचार करते रह कर राष्ट्र की सेवा करेंगे और उसे उन्नत करेंगे। क्षत्रिय वर्ण के माता-पिता सन्तान पैदा कर के राष्ट्र को अच्छे क्षत्रिय देने का प्रयत्न करते हैं जो उन के पीछे भी राष्ट्र की रक्षा का काम करेंगे और इस काम में अपना रक्त भी बहा देने को उद्यत रहेंगे। और वैश्य वर्ण के माता-पिता सन्तान पैदा कर के राष्ट्र को अच्छे वैश्य देने का प्रयत्न करते हैं। जो उन के पीछे भी भांति-भांति के व्यापार-व्यवसाय करते रह कर राष्ट्र को सम्पत्ति को बढ़ा कर उस की सेवा करेंगे। इस प्रकार समाज और राष्ट्र को चलाते रहने के लिये उसे अच्छे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य पैदा कर के देने से बढ़ कर पवित्र और धर्म का काम दूसरा कौन सा हो सकता है ? वह तो बड़ा ही पुण्य का कर्म है। इस पुण्य के काम के लिये माता-पिता अपने शरीर से वीर्य को बाहर कर सकते हैं। उस में न कोई दोष है और न कोई लज्जा की बात है। वह तो बड़ी प्रसन्नता से करने का, पुण्य और धर्म का, लोकोपकारी कार्य है।

इस के अतिरिक्त किसी और समय में केवल विषयानन्द के लिये वीर्य को अपने शरीर से बाहर करना धर्मशास्त्रों में वर्जित किया गया है। वह बुरा काम है। उस से अपनी भी हानि होती है और समाज की भी। वैसा कर के हम अपनी क्षति तो करते ही हैं, उस के साथ ही हम जिन के साथ मिल कर वह बुराई करते हैं उन्हें भी दूषित करते हैं—उन्हें भी विषयासक्ति और लम्पटता की राह पर डाल देते हैं। फिर वे भी इसी प्रकार अपनी हानि करने लगते हैं, और दूसरों को बिगाड़ने लगते हैं। यह चक्र आगे-आगे चलता रहता है। इस प्रकार हम अपनी

भी हानि करते हैं और समाज की भी। अतः यह पाप और अधर्म का काम है। इस से बच कर रहना चाहिये।

सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य के अतिरिक्त व्यक्ति को किसी अवस्था में भी वीर्य अपने शरीर से बाहर नहीं जाने देना चाहिये। लोभी और कंजूस व्यक्ति की भांति उसे बड़े यत्न से संभाल कर रखना चाहिये और अपने शरीर में ही खपाते रहना चाहिये।

२.
ब्रह्मचर्य-साधन के उपाय

व्यक्ति संयमी हो कर ब्रह्मचारी कैसे रह सकता है और अपने वीर्य की रक्षा कैसे कर सकता है शास्त्रों में इस के अनेक उपाय बताये गये हैं। जिन लोगों ने ब्रह्मचारी रहने का प्रयत्न किया है उन्होंने भी अपने अनुभव के आधार पर इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। इस सम्बन्ध में यहां बहुत विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं है। सारे उपायों को दो श्रेणियों में बांटा जा सकता है। (१) एक मानसिक उपाय, और (२) दूसरे भौतिक या शारीरिक उपाय। इन में मानसिक उपाय मुख्य हैं और शारीरिक उपाय गौण हैं। शारीरिक उपाय मानसिक उपायों के सहायक मात्र हैं। मानसिक उपाय पूर्ण हों तो शारीरिक उपायों में कमी रह जाने पर भी काम चल सकता है। परन्तु मानसिक उपायों में त्रुटि हो तो शारीरिक उपायों के पूर्ण पालन से भी काम नहीं चल सकता।

वेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त में वर्णित चार उपाय

अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड का पांचवां सूक्त ब्रह्मचर्य-सूक्त कहलाता है। इस सूक्त में ब्रह्मचर्य की महिमा और ब्रह्मचारी रहने के उपायों का वर्णन किया गया है। सूक्त के चौथे मन्त्र[1] में ब्रह्मचर्य के चार साधनों की ओर निर्देश किया गया है। इन में दो साधन मानसिक हैं और दो साधन शारीरिक हैं। मन्त्र कहता है कि जो व्यक्ति ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे (१) अपने मन में नये-नये ज्ञान-विज्ञान सीखते रहने की इच्छारूप अग्नि सदा जला कर रखनी चाहिये। और पृथिवी से ले कर सूर्य तक के, तीनों लोकों में पाये जाने वाले, सब पदार्थो

---

१. इयं समित् पृथिवि द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधामेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।। अथर्व. ११.५.४।
इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' में देखिये।

को उस अग्नि में समिधा बना कर डालते रहना चाहिये। अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ लोक में जितने भी पदार्थ हैं उनके सम्बन्ध की भिन्न-भिन्न विद्यायें सीखने में उसे लगे रहना चाहिये। तृण से ले कर परमात्मा तक के जितने भी पदार्थ विश्व में हैं उन सब से सम्बन्ध रखने वाली भांति-भांति की विद्यायें उसे सीखते रहना चाहिये। उसे अपना मन कभी खाली नहीं रखना चाहिये। खाली और निठल्ले मन में ही गन्दे विचार पैदा होते हैं। उसे हर समय कुछ-न-कुछ नई बात सीखते रहना चाहिये। जो इस प्रकार अपने मन को हर समय कुछ-न-कुछ सीखने में, कुछ-न-कुछ पढ़ने लिखने में, कुछ-न-कुछ नये ज्ञान का संग्रह करने में लगाये रखेगा, अपने मन को निकम्मा नहीं रहने देगा, उस के लिये ब्रह्मचारी रह सकना बड़ा आसान हो जायेगा।

जो व्यक्ति ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे (२) *मेखलाधारी होना चाहिये।* उस में कटिबद्धता की, तत्परता की, चौकन्नेपन की, मुस्तैदी की और जागरूकता (Alertness) की वृत्ति रहनी चाहिये। उस के पास आलस्य, सुस्ती, तन्द्रा और प्रमाद की वृत्ति नहीं फटकनी चाहिये। उसे सदा होशियार, सावधान और फुर्तीला रहना चाहिये। जब वह चले तो ऐसे हलके और फुर्तीलेपन से चले कि प्रतीत हो वह धरती पर न चल कर ऊपर-ऊपर चल रहा है। जो व्यक्ति इस प्रकार सुस्ती, ढीलेपन, आलस्य, तन्द्रा और प्रमाद की वृत्ति से प्रतिक्षण दूर रहता है उस के लिये ब्रह्मचारी रहना सुगम हो जाता है। जो आलसी और सुस्त हो कर बिस्तरे पर ही लेटे रहते हैं वे ब्रह्मचारी नहीं रह सकते।

जो ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे (३) प्रतिदिन शारीरिक श्रम करना चाहिये। भांति-भांति के व्यायाम करने चाहिये और खेले खेलने चाहिये। खेत में काम करना चाहिये या कोई और परिश्रम का काम करना चाहिये। शारीरिक परिश्रम से शरीर का रक्त शुद्ध होता है और शरीर में बल बढ़ता है। भूख लगती है। खाया-पीया पचता है और नया रक्त बनता है। बलिष्ठ शरीर और शुद्ध रक्तवाला व्यक्ति अपने मन को भी वश में रख सकता है। दूषित रक्त वाला रोगी और दुर्बल व्यक्ति मन को भी वश में नहीं रख सकता। "स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहा करता है[१]" अंग्रेजी की इस कहावत में बड़ी सचाई है। शुद्ध रक्त और स्वास्थ्य का मन के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध है। शारीरिक श्रम में 'प्राणायाम' को सम्मिलित समझना चाहिये। रक्त को शुद्ध करने में और शरीर को स्वस्थ रखने में प्राणायाम का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यायाम की भी बड़ी उपयोगिता इसी लिये है कि व्यायाम के समय सांस तेज चल कर

१. A sound mind lives in a sound body.

एक प्रकार का प्राणायाम हो रहा होता है। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार का शारीरिक श्रम नहीं करता वह ब्रह्मचारी नहीं रह सकता।

जो व्यक्ति ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे (४) तपस्वी होना चाहिये। उसे अपना जीवन सादा और कष्ट-सहिष्णु रखना चाहिये। उस में शान-शौकत और विलास की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। उसे सादा और सात्त्विक भोजन करना चाहिये। जीभ के स्वाद में उसे नहीं पड़ना चाहिये। उसे सादे और बिना तड़क-भड़क के सात्त्विक रंग के वस्त्र पहिनने चाहिये। बहुत पतले, मुलायम और चिकने स्पर्श वाले कपड़े उसे नहीं पहनने चाहिये। उसे त्वचा के स्पर्श-रस में नहीं पड़ना चाहिये। उसे केशों का सिंगार नहीं करना चाहिये और न ही किसी और प्रकार की सजावट में पड़ना चाहिये। उसे साफ-सुथरा और स्वच्छ तो रहना चाहिये परन्तु साज-सिंगार, तड़क-भड़क और विलासिता में नहीं पड़ना चाहिये। उसे गरमी-सरदी, वर्षा-धूप आदि द्वन्द्वों को भी सहने की आदत होनी चाहिये। यह तपस्विता का जीवन ब्रह्मचारी रहने के लिये बड़ा आवश्यक है। साज-सिंगार और विलासिता का रहन-सहन मन में चंचलता पैदा करता है और इन्द्रियों को विषयों की ओर ढकेलता है। साज-सिंगार और विलासिता के रहन-सहन वाला व्यक्ति कभी ब्रह्मचारी नहीं रह सकता।

जो व्यक्ति ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे मन्त्र में वर्णित इन चारों उपायों का अवलम्बन करना चाहिये। मन्त्र में बताये गये पहले दो उपाय मानसिक हैं और पिछले दो उपाय शारीरिक हैं। इन चारों उपायों का जितना चाहे विस्तार कर सकते हैं। शास्त्रों में जिन उपायों का उल्लेख किया गया है वे वेद के इन चार उपायों की व्याख्या-मात्र हैं। ऋषि दयानन्द और महात्मा गांधी जी आदि ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले जिन लोगों ने अपने अनुभव के आधार पर जिन उपायों का उल्लेख किया है वे भी मन्त्र में कहे गये उपर्युक्त चार उपायों की व्याख्यामात्र ही हैं।

ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक कुछ मानसिक और शारीरिक उपायों की ओर नीचे निर्देश किया जाता है।

ब्रह्मचर्य-साधन के मानसिक उपाय

१. मन में काम-वासना[1] सम्बन्धी शृङ्गार के विचार नहीं उत्पन्न होने देने चाहिये। बाहर

१. मनु ने ब्रह्मचारी के लिये छोड़ने योग्य बातों का परिगणन करते हुए काम के विचारों से दूर रहने का भी उल्लेख किया है–
"कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।" मनु. २.१७८।

की परिस्थिति हमारी पांचों इन्द्रियों के द्वारा हमारे आत्मा पर अच्छे या बुरे प्रभाव डाल कर हमारे मन में अच्छे या गन्दे विचार उत्पन्न करती है। हम जहां रहें वहां हमें अपनी परिस्थिति सावधानी से ऐसी बना कर रखनी चाहिये कि उस से हमारी इन्द्रियों के द्वारा हमारे आत्मा पर जो प्रभाव पड़ें वे मन में अच्छे और पवित्र विचार पैदा करने वाले ही हों। हमारी पांचों इन्द्रियों का जिन पदार्थों के साथ सम्बन्ध प्रति दिन पड़ता है उन्हें हमें इस प्रकार चुन कर रखना चाहिये कि उन के सम्बन्ध से हमारे आत्मा पर जो प्रभाव पड़े वह सात्त्विक प्रभाव हो, राजस और तामस प्रभाव न हो। उस प्रभाव से हमारे मन में अच्छे और पवित्र विचार ही उठते हों। गन्दे और अपवित्र विचार न उठते हों।

२. हमें अपनी संगति अच्छी रखनी चाहिये। जैसी हमारी संगति हुआ करती है वैसे ही विचार हमारे मन में उठा करते हैं और वैसे ही हम बन जाया करते हैं। अच्छी और पवित्र संगति से हमारे मन में अच्छे और पवित्र विचार उठेंगे और हमारे लिये ब्रह्मचारी रह सकना सुगम हो जायेगा। गन्दी और अपवित्र संगति से हमारे मन में गन्दे और अपवित्र विचार उठेंगे और हमारे लिये ब्रह्मचर्य का पालन कर सकना असंभव हो जायेगा। हमारी संगति तीन तरह की हुआ करती है:—

   (i) एक तो जीवित जाग्रत मनुष्यों की संगति हमें मिला करती है। हमारे दोस्त-मित्र, संगी-साथी जैसे होंगे वैसे ही हम भी बन जायेंगे। यदि हम ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं तो अपने संगी-साथी ऐसे बनाने चाहिये जिन्हें ब्रह्मचर्य से प्रेम हो, जो कभी काम-वासना को भड़काने वाली बातें न करते हों, जो गन्दा हंसी-मजाक और मखौल न करते हों, जो गन्दे गीत, श्लोक और गजलें न गाते हों, जो शृङ्गाररस की कहानियाँ न कहते हों, जो सदा ऊंचा उठाने वाली और पवित्र बनाने वाली बातें ही करते हों, गन्दी और अपवित्र बातों से जिन्हें घृणा हो। ऐसे अच्छे संगी-साथियों की संगति से हमारे मन में अच्छे और पवित्र विचार ही उठेंगे और हमारे लिये ब्रह्मचारी रह सकना आसान हो जायेगा। यदि गन्दे लोगों की संगति हम ने रखी तो हम ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकेंगे।

   (ii) दूसरी हमारी संगति पुस्तकों की होती है। हम जैसी पुस्तकें पढ़ेंगे हमारे विचार भी वैसे ही बनेंगे और हम भी वैसे ही बन जायेंगे। हमें प्रेम-कथाओं से भरे

हुए काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानी की पुस्तकें नहीं पढ़नी चाहिये। हमें ऐसे काव्य आदि ही पढ़ने चाहिये जो मन में पवित्रता के विचार पैदा करते हों, जो हमें वीर, साहसी, त्यागी, सत्यप्रिय, उदार, दयालु, परोपकारी, तपस्वी और ज्ञानवान् बनने की प्रेरणा देते हों। हमें महापुरुषों के जीवनचरित्र, इतिहास, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन और धर्म के ग्रन्थ ही अधिकतर पढ़ने चाहिये जिन से हमारे ज्ञान की भी वृद्धि हो और हमारे विचार पवित्र हो कर हमें अपना जीवन पवित्र बनाने की प्रेरणा भी हो। हलका साहित्य हमें नहीं पढ़ना चाहिये। कभी दिल-बहलाव के लिये हमें हलका साहित्य पढ़ना ही हो तो वह ऐसा होना चाहिये जो हमारे विचारों को मैला और अपवित्र बनाने वाला न हो। पवित्र विचार देने वाला साहित्य पढ़ने से हमारे लिये ब्रह्मचारी रह सकना सहज हो जायेगा। गन्दे विचार पैदा करने वाला साहित्य पढ़ने से हमारे लिये ब्रह्मचारी रह सकना असंभव रहेगा।

(iii) तीसरी हमारी संगति खेल-तमाशों और घरों में लगाये जाने वाले चित्रों की होती है। हम जैसे खेल-तमाशे देखेंगे हमारे विचार भी वैसे ही बनेंगे और हम भी वैसे ही बन जायेंगे। इस लिये हमें काम-वासना को भड़काने वाले गन्दे सिनेमा और थियेटर नहीं देखने चाहिये। जो सिनेमा और थियेटर मन में अच्छे और पवित्र विचार पैदा करते हों वे ही हमें देखने चाहिये, दूसरे नहीं। हम अपने घरों में जैसे चित्र टांगेंगे उन के द्वारा भी हमारे मन में वैसे ही विचार जागेंगे और हम उन विचारों के अनुसार ही बन जायेंगे। अच्छे चित्र हमारे मन में अच्छे विचार पैदा करेंगे और गन्दे चित्र गन्दे विचार पैदा करेंगे। हमें अपने घरों में वासना को जाग्रत करने वाले स्त्री-पुरुषों की नग्न अथवा अर्धनग्न अवस्था के चित्र, सिनेमाओं की नर्तकियों के हाव-भाव भरे और तड़क-भड़क वाले चित्र नहीं लगाने चाहिये। हमें महापुरुषों के, वीरों के, साधु-सन्तों के, वैज्ञानिकों के और परोपकारी नेताओं के चित्र ही अपने घरों में लगाने चाहिये। जिन से हमें उन जैसा बनने की इच्छा हो। अथवा हमें प्राकृतिक दृश्यों के, झरनों के, बरफ से लदी पर्वतों की चोटियों के, देवदारुओं की श्रेणियों से ढके हुए गिरि-शृङ्गों के, झीलों के, समुद्रों की उत्ताल तरंगों के, बादलों की घटाओं के, इन्द्रधनुषों के, सिंह और घोड़े आदि तेजस्वी

पशुओं के, कमल और गुलाब आदि फूलों के चित्र ही अपने रहने, सोने, खाने, उठने-बैठने और पढ़ने के स्थानों में लगाने चाहिये। जिन्हें देख कर उन के रचयिता परमात्मा की विभूति और महिमा के विचार हमारे मन में उत्पन्न हों और हम प्रभु के आगे नतमस्तक हों तथा उन के गुणों का चिन्तन करें जो चिन्तन हमें पवित्र बना देगा। अच्छे और पवित्र विचार मन में उत्पन्न करने वाले खेल-तमाशे और सिनेमा-थियेटर देखने से हमें अच्छा और पवित्र बनने की प्रेरणा होगी। घरों में अच्छे चित्र टांगने से भी यही प्रेरणा मिलेगी। और हमारे लिये ब्रह्मचारी रह सकना सुगम हो जायेगा। गन्दे और अपवित्र विचार जगाने वाले खेल-तमाशे और सिनेमा-थियेटर देखने तथा घरों में गन्दे चित्र लगाने से हमारे लिये ब्रह्मचारी रह सकना कठिन हो जायेगा। क्योंकि सिनेमा-थियेटरों में प्रायः गन्दे खेल-तमाशे और चित्र ही दिखाये जाते हैं इस लिये सिनेमा-थियेटरों का न देखना ही अच्छा है।

३. मन को कभी खाली और निठल्ला नहीं रहने देना चाहिये। हर समय उसे किसी-न-किसी काम में लगाये रखना चाहिये। कुछ-न-कुछ पढ़ते-लिखते रहो। कुछ-न-कुछ करते रहो। मन के सामने जब कुछ अच्छा और उपयोगी काम करने को नहीं रहता तभी वह गन्दे विचारों और गन्दे कामों की ओर जाता है। अंग्रेजी की कहावत है कि "खाली मन शैतान की दुकान होता है[१]।" इस कहावत में बड़ी गहरी सचाई है। अतः जो ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे कभी अपने मन को निकम्मा नहीं रहने देना चाहिये। सदा उसे किसी-न-किसी अच्छे और उपयोगी काम में लगाये रखना चाहिये। कलकत्ते में जब युवक अश्विनीकुमारदत्त ने, जो आगे जा कर बंगाल के प्रसिद्ध नेता बने, ऋषि दयानन्द से पूछा कि महाराज आप पूर्ण और अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करने में समर्थ कैसे हो गये हैं—क्यों आप के मन में कभी भी कामवासना-सम्बन्धी विचार नहीं उठते ? तो ऋषि ने यही उत्तर दिया था कि मैं अपने मन को कभी भी खाली नहीं रहने देता। सदा उसे किसी-न किसी काम में लगाये रखता हूं। मैं या तो वेदभाष्य और वेदांगप्रकाश आदि ग्रन्थ लिख-लिखवा रहा होता हूं, या पत्र-व्यवहार में लगा होता हूं, या व्याख्यान दे रहा होता हूं और

१. A Vacant mind is a satan's workshop.

शास्त्रार्थ कर रहा होता हूं, या डेरे पर आए हुए जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान कर रहा होता हूं, या कुछ पढ़ रहा होता हूं, और जब कोई और काम करने को नहीं होता है तब मैं या तो ध्यानावस्थित हो कर योगसमाधि में बैठ जाता हूं अथवा ओंकार का जाप करने में लग जाता हूं। मैं प्रत्येक क्षण किसी-न-किसी काम में लगा रहता हूं। मैं अपने मन को खाली नहीं रहने देता। काम के विचारों को मेरे मन का फाटक सदा बन्द मिलता है। इसी से मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर सका हूं। ऋषि दयानन्द ने अश्विनीकुमार को जो उत्तर दिया था वह सचमुच ब्रह्मचर्य-पालन की कुञ्जी है। जो ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे अपने मन को खाली न रहने दे कर प्रति क्षण किसी-न-किसी अच्छे और उपयोगी काम में लगाए रखना चाहिये।

४. ब्रह्मचारी रहना चाहने वाले पुरुष को स्त्रियों के रूपादि वर्णन-विषयक बातें नहीं सुननी चाहिये, स्वयं स्त्रियों-विषयक बातें नहीं करनी चाहिये, स्त्रियों के साथ खेलना नहीं चाहिये, वासना में भर कर स्त्रियों को देखना नहीं चाहिये, स्त्रियों के साथ एकान्त में बातें नहीं करनी चाहियें, स्त्री से मिलने का संकल्प मन में नहीं उठने देना चाहिये, स्त्री से मिलने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये और स्त्री से मिल कर विषय-भोग नहीं करना चाहिये। ब्रह्मचारी रहना चाहने वाली स्त्री को यही व्यवहार पुरुषों के प्रति रखना चाहिये। यह आठ प्रकार का मैथुन[1] कहलाता है। इस आठ प्रकार के मैथुन से ब्रह्मचारी रहना चाहने वालों को सदा बच कर रहना चाहिये।

५. जो ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे ईश्वर-भक्त होना चाहिये। उसे दोनों समय

---

१. श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।। दक्षस्मृति ७.३२.३३।

अर्थात् "स्त्रियों-सम्बन्धी बातें सुनना, स्त्रियों-विषयक बातें करना, स्त्रियों के साथ खेलना, स्त्रियों को देखना, उन से एकान्त में बातें करना, मन में स्त्री-संग करने की बात सोचना, स्त्री-संग करने का प्रयत्न करना और स्त्री-संग कर लेना–यह आठ प्रकार का मैथुन कहलाता है।" मनु ने भी ब्रह्मचारी के लिये वर्जनीय बातों का परिगणन करते हुए ब्रह्मचारी के लिये स्त्रियों के सम्पर्क से सदा बचते रहने का उल्लेख किया है–"वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।" (मनु. २.१७७), "स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च।" (मनु. २.१७९), ब्रह्मचारी रहना चाहने वाले पुरुष के लिये जैसी स्त्रियों के सम्पर्क से बचते रहना आवश्यक है वैसे ही ब्रह्मचारिणी रहना चाहने वाली स्त्री के लिये पुरुषों के सम्पर्क से बचते रहना आवश्यक है।

ध्यान-मग्न हो कर सन्ध्योपासना और अग्निहोत्रादि नित्य कर्म करने चाहिये। उपासना के समय ईश्वर के पवित्र गुणों का चिन्तन कर के स्वयं भी वैसा ही पवित्र बनने का प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वर की श्रद्धापूर्वक की हुई भक्ति और उपासना मन में बड़ा शान्त और पवित्र वातावरण पैदा कर देती है। मन की इस अवस्था में गन्दे और अपवित्र विचार नहीं उठते। इस से ब्रह्मचर्य के पालन में बड़ी सहायता मिलती है। उपासना के समय भगवान् से पवित्र रहने और ब्रह्मचर्य का पालन कर सकने की शक्ति मांगनी चाहिये। जो व्यक्ति अपने आप को पवित्र बनाने का पूरा प्रयत्न करता है और उस के अनन्तर प्रभु से पवित्र रहने की शक्ति की श्रद्धापूर्वक याचना करता है तो ऐसे प्रयत्नशील श्रद्धालु भक्त पर प्रभु कृपा करते हैं। प्रभु उस के आत्मा में शक्ति का संचार कर देते हैं। प्रभु से पाई शक्ति के आधार पर उस के लिये वासना को जीत कर पवित्रता, संयम और ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना बड़ा आसान हो जाता है। ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहने वाले के लिये प्रभु का भक्त और उपासक होना बड़ा आवश्यक है।

६. ब्रह्मचारी रहने के लिये आवश्यक सब साधनों का प्रयोग तो भली-भांति सावधानी के साथ करते रहना चाहिये। पर यदि कभी स्वप्नदोषादि में वीर्य-स्खलन हो जाये तो उस को ले कर बहुत चिन्तित और दुःखी नहीं रहना चाहिये। चिन्ता उस की वासना को और गहरा कर देगी। वह वासना पुनः हानि पहुंचायेगी। हमें उधर से ध्यान हटा कर उसे सर्वथा भुला देना चाहिये। और प्रसन्न रहना चाहिये। किन्तु ब्रह्मचर्य-पालन के लिये आवश्यक साधनों के सेवन में और अधिक तत्परता से लग जाना चाहिये।

ब्रहचर्य-साधन के भौतिक उपाय

१. प्रति दिन व्यायाम करना चाहिये। प्रतिदिन सन्ध्योपासना के समय दोनों काल प्राणायाम[1] करना चाहिये। व्यायाम और प्राणायाम से रक्त शुद्ध होता है। शरीर

१. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्।। मनु. ६.७१।

अर्थात् "जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्ण आदि धातुओं के मल जल कर नष्ट हो जाते हैं और वे निर्मल हो जाती हैं वैसे ही प्राणायाम के द्वारा मन आदि इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं और वे निर्मल और पवित्र बन जाती हैं।"

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। योगदर्शन १.३४।

अर्थात् "प्राणायाम के द्वारा मन पवित्र हो कर वश में हो जाता है।"

सबल और स्वस्थ रहता है। भूख लगती है। खाया-पीया अच्छी तरह पच जाता है। शरीर में नया और शुद्ध रक्त अधिक मात्रा में बनता है। शुद्ध रक्त वाले और स्वस्थ शरीर में रहने वाला मन भी शुद्ध और स्वस्थ रहता है। उस में गन्दे विचारों को जीतने और अपने आप को वश में रखने की शक्ति आ जाती है। ब्रह्मचर्य के पालन के लिये व्यायाम और प्राणायाम बड़े सहायक हैं।

२. मांस, मदिरा, अण्डे, लाल मिर्च, खटाई, प्याज, और लहसुन, आदि राजसिक और तामसिक[1] भोजनों और वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिये।

---

१. दूसरे, तीसरे और चौथे उपायों में जो कुछ लिखा गया है मनु के निम्न श्लोकों में उसकी ओर इस प्रकार संकेत किया गया है–

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्।।
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्।।
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च।। मनु. २. १७७–१७९

अर्थात्, "ब्रह्मचारी शराब न पीवे, मांस न खावे, गन्ध न लगावे, माला न पहिने, बहुत रसीले पदार्थ न खावे, स्त्रियों के संग में न रहे, खट्टे पदार्थों का सेवन न करे और प्राणियों की हिंसा न करे।" "अंगों पर तैल आदि का मर्दन न करे, आंखों में सुरमा न लगावे, जूता न पहिने, छाता न लगावे, काम, क्रोध, लोभ को छोड़ देवे, नृत्य न करे और गावे-बजावे नहीं (अर्थात् विषयासक्ति के गीत आदि न गावे-बजावे)।" "जुआ न खेले, लोगों के साथ व्यर्थ वाद विवाद न करे, किसी की निन्दा न करे, झूठ न बोले, काम-वासना से स्त्रियों को न देखे, स्त्रियों का आलिंगन न करे और किसी का अपकार न करे।"

इस भांति गीता में भी राजसिक और तामसिक भोजनों का सेवन निषिद्ध बताया है। वहां कहा है–

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।। गीता १७.९.१०.।

अर्थात् "कड़वा, खट्टा, बहुत गरम, तीखा, रूखा और दाहजनक भोजन रजोगुणी लोगों को अच्छा लगता है, ऐसे भोजन दुःख, शोक और रोग पैदा करते हैं, इन्हें नहीं खाना चाहिये।" "पुराना, जिसका रस सूख गया है, सड़ा हुआ, बासी, जूठा और अपवित्र (मांस-अण्डे आदि का) भोजन तमोगुणी लोगों को अच्छा लगता है, ऐसा भोजन नहीं करना चाहिये।" गीता में सात्त्विक भोजन खाने का ही विधान है। वहां कहा है:–

इस प्रकार की चीजों का सेवन करने से मन में राजसिक और तामसिक वृत्तियें पैदा होती हैं। ये वृत्तियें मन को चंचल बनाती हैं। जिस के कारण मन को संयम में रख सकना कठिन हो जाता है।

३. गाय का दूध, फल, सब्जी और अनाजों का ही सेवन करना चाहिये। ये भोजन सात्त्विक हैं। इन के सेवन से मन में सात्त्विक वृत्तियें पैदा होती हैं। सात्त्विक वृत्ति मन में चंचलता नहीं पैदा होने देती। उस से संयम में रह सकना सुगम हो जाता है। फलों आदि में भी जो सात्त्विक न हों तथा अत्यन्त खट्टे और कच्चे हों, उन का सेवन नहीं करना चाहिये।

४. रहन-सहन, खान-पान और वस्त्र-परिधान सब सादा रखना चाहिये। साज-सिंगार आदि विलासिता के जीवन से दूर रहना चाहिये। साज-सिंगार, शान-शौकत और विलासिता का जीवन मन में चंचलता उत्पन्न करता है और इन्द्रियों को विषयों की ओर दौड़ाता है। साज-सिंगार, शान-शौकत और तड़क-भड़क से रहने की विलासिता की प्रवृत्ति ब्रह्मचर्य के लिये बड़ी विघातक है। साफ-सुथरे और स्वच्छ तो रहो पर साज-सिंगार की प्रवृत्ति को अपने पास मत फटकने दो। इस प्रवृत्ति से बचना ब्रह्मचारी रहना चाहने वाले के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जो ऐसा नहीं करते उनके लिये ब्रह्मचारी रह सकना कठिन है।

५. भोजन सदा भूख से थोड़ा-सा कम खाना चाहिये। स्वाद में पड़ कर भूख से अधिक भोजन तो कभी भी नहीं करना चाहिये। भूख से अधिक खाया हुआ भोजन अच्छी तरह पचता नहीं है। अन्तड़ियों पर उसे पचाने में बहुत जोर पड़ता है। वे कमजोर पड़ जाती हैं। आगे चल कर उन की भोजन को पचाने और मल को बाहर करने की शक्ति मन्द पड़ जाती है। कब्ज रहने लगती है। या बदहज्मी रहने लगती है। शरीर में मल इकट्ठे होने लगते हैं। रक्त अशुद्ध हो जाता है। शरीर रोगी रहने लगता है। शरीर रजोगुणी और तमोगुणी हो जाता है। मन में राजसिक और

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृदया आहाराः सात्त्विकप्रियाः।। गीता १७.८।

अर्थात् "आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, मधुर, स्निग्ध, जल्दी न बिगड़ने वाले और मन को आनन्दित करने वाले भोजन सत्त्वगुणी लोगों को अच्छे लगते हैं, ऐसे भोजन ही करने चाहिये।"

तामसिक वृत्तियें उठने लगती हैं। मन चंचल रहने लगता है। संयम से रह सकना कठिन हो जाता है। अधिक भोजन करने से यों भी शरीर भारी और सुस्त रहता है। किसी काम में मन नहीं लगता। पड़े और सोये रहने को जी करता रहता है। इस सब से बचने के लिये भोजन भूख से कुछ कम करना चाहिये और बहुत चबा-चबा कर और धीरे-धीरे करना चाहिये। भूख से बहुत कम भी भोजन नहीं करना चाहिये। उस से शरीर क्षीण और दुर्बल हो जायेगा।

६. जो ब्रह्मचारी रहना चाहता है उसे दिन में नहीं सोना चाहिये। दिन में सोने से रात को नींद गाढ़ी नहीं आयेगी। स्वप्न आते रहेंगे। ब्रह्मचर्य का भंग करने वाले गन्दे स्वप्न भी आ जायेंगे। अतः दिन में कभी नहीं सोना चाहिये।

७. ब्रह्मचारी रहना चाहने वाले व्यक्ति को रात को जल्दी—नौ-दस बजे के लगभग—सो जाना चाहिये। और प्रातः जल्दी—चार-साढ़े-चार बजे के लगभग—उठ जाना चाहिये। प्रातः चार-साढ़े-चार बजे के लगभग उठ जाना अत्यन्त आवश्यक है। इस समय के लगभग नींद प्रायः हलकी हो जाती है और स्वप्न आने लगते हैं। इस समय बिस्तरे में पड़े रहने से गन्दे स्वप्न आ कर वीर्य-स्खलित हो जाने का डर रहता है।

८. कब्ज नहीं रहने देनी चाहिए। जैसा ऊपर कहा गया है, वीर्यकोष (Semenal Vescicle) शौचाशय और मूत्राशय के मध्य में होता है। कब्ज़ रहने से वीर्यकोष पर शौचाशय का दबाव पड़ता है। सोने की अवस्था में वीर्यकोष पर शौचाशय के दबाव से वीर्य-स्खलन का डर रहता है। कब्ज रहने से यों भी जननेन्द्रिय के आस-पास के भाग पर दबाव और तनाव रहता है। उस से जननेन्द्रिय में उत्तेजना होती है। जिस से ब्रह्मचर्य भंग हो जाने की आंशका रहती है। ब्रह्मचर्य-पालन में कब्ज बड़ी बाधक है।

९. रात्रि को सोने से पहले लघुशंका (पेशाब) कर के सोना चाहिये। मूत्राशय भरा रहने का भी वीर्य-कोष पर और जननेन्द्रिय के आस-पास के प्रदेश पर उसी प्रकार का बुरा प्रभाव पड़ता है जिस प्रकार का कब्ज रहने से पड़ता है। प्रत्युत मूत्राशय भरा रहने का उस से भी अधिक बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः सोने से पहले अवश्य पेशाब कर लेना चाहिये।

१०. भोजन सोने से कम-से-कम तीन घण्टे पहले कर लेना चाहिए। विशेष-कर द्रव पदार्थ तो अवश्य ही सोने से तीन घण्टे पहिले पी लेने चाहिये। सोने के समय कोई द्रव

पदार्थ नहीं पीना चाहिये। जिस से रात को मूत्राशय में अधिक पेशाब इकट्ठा न होने पाये और उस के दबाव से जननेन्द्रिय में उत्तेजना हो कर तथा वीर्य-कोष पर दबाव पड़ कर, गन्दे स्वप्न आ कर, वीर्य-स्खलन न होने पाये।

११. करवट के बल सोना चाहिये। पीठ के बल सीधा अथवा पेट के बल उलटा हो कर नहीं सोना चाहिए। उलटा और सीधा हो कर सोने से वीर्य-कोष पर शौचाशय और मूत्राशय का दबाव पड़ता है। उस दबाव से ऊपर कही गई हानियें होने की आशंका रहती है। करवट के बल सोने से वीर्य-कोष पर इन दोनों का दबाव कम पड़ता है। इससे व्यक्ति वीर्य-कोष पर दबाव से होने वाली हानियों से बचा रहता है।

१२. कभी-कभी अत्यन्त थकावट से भी, सोने के समय वीर्य-स्खलन होता देखा गया है। इस लिये अपने शरीर को अत्यन्त नहीं थकाना चाहिए।

१३. रात को सोने से पूर्व मुंह और पैर धो कर और पोंछ कर सोना चाहिये। इस से रक्त की उष्णता कम हो जाती है। नींद जल्दी और गहरी आती है। गहरी नींद में स्वप्न नहीं आते।

१४. सोने के समय भगवान् का स्मरण तथा पवित्र भाव जगाने वाले वेद-मन्त्रों, श्लोकों और भजनों का पाठ कर के निश्चिन्त और प्रसन्न हो कर सोना चाहिए। इस से भी नींद जल्दी और गहरी आती है। स्वप्न नहीं आते। स्वप्न आते भी हैं तो अच्छे आते हैं जिन से व्रत-भंग नहीं होता।

३.
विद्यार्थी-जीवन और ब्रह्मचर्य

जैसा ऊपर कहा गया है आर्य-संस्कृति में ब्रह्मचर्य पालन पर बड़ा भारी बल दिया गया है। अपनी इन्द्रियों और मन को वश में कर के ब्रह्मचर्य का, संयम का, जीवन बिताना आर्य-संस्कृति और वैदिक धर्म में सभी वर्णों और सभी आश्रमों का एक मुख्य कर्तव्य बताया गया है। ब्रह्मचर्य के, संयम के, जीवन को आर्य-संस्कृति में चरित्र का एक आवश्यक अंग बताया गया है। आर्य-संस्कृति के अनुसार व्यक्ति को यों तो सारे जीवन-भर ही ब्रह्मचार्य का पालन करने का यत्न करना चाहिये परन्तु विद्यार्थी-जीवन के काल में तो व्यक्ति को ब्रह्मचारी रहने का विशेष रूप से प्रयत्न करना चाहिए। विद्यार्थी-जीवन में तो व्यक्ति को ब्रह्मचर्य का पूर्ण रूप से पालन करने में अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिये। विद्यार्थी-जीवन में तो प्रत्येक व्यक्ति को अखण्ड ब्रह्मचारी रहने का ध्येय अपने सामने रखना चाहिये और उस ध्येय की प्राप्ति में अपने पूर्ण

संकल्प और समग्र शक्ति से जुट जाना चाहिए। आर्य-संस्कृति और वैदिक धर्म में विद्यार्थी को कहा ही 'ब्रह्मचारी' जाता है। आर्य-संस्कृति और वैदिक धर्म में विद्यार्थी-जीवन का नाम ही 'ब्रह्मचर्य' है। आर्य-संस्कृति में यह जो विद्यार्थी को 'ब्रह्मचारी' और विद्यार्थी जीवन को 'ब्रह्मचर्य' कहा जाता है उस का कारण यही है कि विद्यार्थी-काल में ब्रह्मचर्य के पालन पर आर्य-संस्कृति अत्यधिक बल देती है।

विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य का महत्त्व

विद्यार्थी-काल जीवन के निर्माण का काल (Formative Period) होता है। इस काल में बालक ने अपने आप को भविष्य-जीवन के लिये तैयार करना होता है। उसे इस काल में अपने शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास करना होता है जिस से वह अपने भविष्य-जीवन की जिम्मेदारियों को भली-भांति पूरा करने के लिये इन तीनों से पूरा उपयोग ले सके। बालक को अपने विद्यार्थी-काल में अपने शरीर को सुन्दर, सुडौल, स्वस्थ, बलवान् और नीरोग बना लेना चाहिये। अपने मन और मस्तक को भांति-भांति के विद्या-विज्ञानों से भर लेना चाहिये। और अपने आत्मा को सत्यप्रियता, न्यायपरायणता, दयालुता, परोपकारशीलता, सहिष्णुता, क्षमाशीलता, कष्ट सहिष्णुता, तपस्विता, सादगी, समय-पालन, अहिंसा, कर्तव्यनिष्ठता, परिश्रमशीलता, नियन्त्रण, उदारता, प्रभुभक्ति और ईमानदारी आदि ऊंचे और पवित्र गुणों का भण्डार बना लेना चाहिये। शरीर, मन और आत्मा की यह तैयारी एक ऐसी पूंजी है जिस का संग्रह व्यक्ति को आगे जीवन-भर काम देगा। इस पूंजी के संग्रह के बिना व्यक्ति अपने अगले जीवन में कुछ भी नहीं कर सकेगा। इस के बिना उसे जीवन में कोई स्थान और कोई सफलता नहीं मिलेगी। परन्तु शरीर, मन और आत्मा की पूर्ण तैयारी की यह पूंजी यों ही आसानी से प्राप्त नहीं हो सकती। उस के लिये बालक को अपने विद्यार्थी-जीवन में पूर्ण रीति से तपस्वी, सादा, और परिश्रमी बनना होगा तथा विचारों को पवित्र बना कर अपने मन और इन्द्रियों को वश में करना होगा और इस प्रकार अपनी शक्ति की एक-एक बूंद को संभाल कर अपने अन्दर रखना होगा। हम ने ऊपर देखा है कि हमारी सब प्रकार की शक्ति का मूलस्रोत हमारे शरीर में उत्पन्न होने वाला वीर्य नाम का रस है। जब हम इस वीर्य नामक रस को अपने शरीर में खपा लेते हैं तो हमारे शरीर, मन और आत्मा तीनों शक्ति से भर जाते हैं और उन का खूब विकास होता है। वीर्य-रस को संयम के द्वारा अपने शरीर में खपा लेने पर ऊपर उल्लिखित हमारे 'जीवन-प्रदीप का प्रकाश'

बेहद उज्ज्वल हो उठता है। हमारे शरीर, मन और आत्मा की सब प्रकार की शक्तियें खूब चमक उठती हैं। शरीर मन, और आत्मा का पूर्ण विकास हो जाता है। इन के पूर्ण विकास और शक्ति-सम्पन्नता की पूंजी हमारे हाथ में आ जाती है। यह पूंजी हमें अपने भविष्य-जीवन में सब समय और सब अवस्थाओं में काम देगी। क्यों विद्यार्थी-जीवन तैयारी और निर्माण का काल है इस लिये इस काल में तो व्यक्ति को पूर्ण संयम से, ब्रह्मचर्य से, रह कर अपने वीर्य-रस की पूरी रक्षा करनी चाहिये जिस से उस के शरीर, मन और आत्मा का भली-भांति विकास हो सके। किसी इमारत की नींव जितनी पक्की होगी वह इमारत उतनी ही टिकाऊ होगी और उस पर उतनी ही अधिक मंजिलें बनाई जा सकेंगी। विद्यार्थी-जीवन सारे जीवन की इमारत के लिये नींव का काम करता है। विद्यार्थी-जीवन अच्छा और सफल बन जाने पर अगला सारा जीवन अच्छा और सफल बन जायेगा। विद्यार्थी-जीवन का, ब्रह्मचर्य का, पहला आश्रम पक्का हो जाने पर गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास के अगले तीन आश्रम भी पक्के हो जायेंगे। विद्यार्थी-जीवन की सफलता पर अगले तीनों आश्रमों की, आगामी सारे जीवन की, सफलता निर्भर करती है। और विद्यार्थी-जीवन की सफलता पूर्ण संयम के, ब्रह्मचर्य के, जीवन पर निर्भर करती है। इस लिये विद्यार्थी जीवन में तो प्रत्येक बालक और बालिका को ब्रह्मचारी रहना ही चाहिये।

प्राचीन भारत में विद्यार्थियों का जीवन

प्राचीन भारत में राष्ट्र के बालक और बालिकाओं से उन के विद्यार्थीकाल में ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन कराने का प्रयत्न किया जाता था, जिस से देश के बच्चे शरीर, मन और आत्मा की दृष्टि से पूर्ण तैयार हो कर राष्ट्र के बढ़िया नागरिक बन सकें। प्राचीन भारत में शिक्षणालयों को 'गुरुकुल' कहा जाता था। गुरुकुल गांवों और नगरों के वातावरण से दूर सुन्दर एकान्त स्थानों में होते थे। प्रत्येक बालक को गुरुकुल में जा कर पढ़ना होता था। विद्यार्थी-काल में बालक गांव और नगर में अपने घर में न रह कर गुरुकुल में रहा करता था। उस का दिन और रात का समय गुरुकुल में ही बीतता था। गुरु लोग और विद्यार्थी दिन-रात इकट्ठे रहते थे। गुरु लोग अपने विद्यार्थियों को अपना पुत्र समझते थे और विद्यार्थी अपने गुरुओं को अपना पिता मानते थे। गुरु लोग विद्यार्थियों को भाँति-भाँति की विद्यायें पढ़ाने के साथ-साथ विद्यार्थियों के चरित्रनिर्माण का भी पूरा ध्यान रखते थे। वे अपने विद्यार्थियों की प्रत्येक गति-विधि पर

अपनी आंख रखते थे और उन में कोई गन्दी आदत नहीं पड़ने देते थे। गुरुकुलों की सारी परिस्थिति इस प्रकार की रखी जाती थी कि विद्यार्थियों के सामने कोई प्रलोभन ऐसा न आने पावे जो उन के चरित्र पर बुरा प्रभाव डाले और उन के ब्रह्मचर्य-व्रत का विघातक हो। गुरु लोग स्वयं भी सादगी, तपस्या और संयम का जीवन व्यतीत करते थे और अपने विद्यार्थियों से भी वैसा ही जीवन व्यतीत कराते थे। शहरों के नागरिकों की गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी साज-सिंगार, तड़क-भड़क और भोग-विलास की परिस्थिति से विद्यार्थियों को सर्वथा दूर रखा जाता था। गुरुकुलों में ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक उन सब नियमों और बातों का पालन विद्यार्थियों से कराया जाता था जिन का कुछ उल्लेख ऊपर के पृष्ठों में किया गया है और जिन के वर्णन से आर्य-शास्त्र भरे पड़े हैं।

आज के विद्यार्थी-जीवन की ब्रह्मचर्य-विहीनता

आज दौर्भाग्य से परिस्थितियें बिलकुल भिन्न प्रकार की हो गई हैं। आज शिक्षणालय शहरों के बिलकुल बीच में रहते हैं। नागरिकों के गृहस्थ-जीवन की सब प्रकार की बातें विद्यार्थियों के आगे रहती हैं। विद्यार्थी शहरों में ही रहते हैं। विद्यार्थी गृहस्थों जैसा ही अपना खान-पान और रहन-सहन रखते हैं। बल्कि गृहस्थों से भी ज्यादा शान-शौकत और ठाठ से रहते हैं। गुरु लोग और विद्यार्थी दिन-रात इकट्ठे नहीं रहते। विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण की ओर गुरुओं का बिल्कुल भी ध्यान नहीं रहता। शहरों में गली-गली में सिनेमा-घर रहते हैं। वहां काम-वासना को भड़काने वाले खेल-तमाशे दिखाये जाते हैं। विद्यार्थी लोग खुले इन खेलों को देखते हैं। उन के माता-पिता भी देखते हैं और गुरु लोग भी देखते हैं। कोई उन्हें उस रास्ते से रोकता नहीं। जिन गुरुओं का काम विद्यार्थियों को उत्तेजक खान-पान, रहन-सहन और खेल-तमाशों से रोकना था वे स्वयं उस प्रकार का खान-पान और रहन-सहन रख कर तथा उस प्रकार के खेल-तमाशे देखते रह कर विद्यार्थियों के आगे गलत उदाहरण उपस्थित करते हैं। आज के अध्यापक लोग भी सादे, तपस्वी और संयमी जीवन की कद्र नहीं करते और उन के विद्यार्थी भी नहीं करते। बहुत बार तो विद्यार्थी अपने गुरुओं से ही न सीखने-योग्य चीजें सीखते रहते हैं। इस पर लड़के और लड़कियों की सह-शिक्षा (Co-education) का रोग अलग से चल पड़ा है। स्कूल और कालेजों में लड़के और लड़की इकट्ठे पढ़ने जाते हैं। इस के कारण उभरते यौवन के काल में बालक और बालिकाओं के लिए संयम का जीवन बिता सकना और भी कठिन हो जाता है।

इस पर इन लड़के और लड़कियों की वेश-भूषा इतनी तड़क-भड़क की रहती है कि उतनी गृहस्थों की भी नहीं रहती। यह वेश-भूषा की तड़क-भड़क लड़के-लड़कियों के मनों में एक-दूसरे के प्रति आकर्षण और चंचलता उत्पन्न करने और उन के संयम के बांध को तोड़ने में और भी कारण बनती है। विद्यार्थी-जीवन की इस विषम और गंभीर परिस्थिति की ओर आज किसी का भी ध्यान नहीं है। आज का विद्यार्थी विवाहित न होते हुए भी गृहस्थ का जीवन व्यतीत करता है। उसे उस प्रकार के जीवन से रोकने वाला कोई भी नहीं है। माता-पिता भी नहीं, गुरु लोग भी नहीं, शासक लोग भी नहीं और देश के नेता भी नहीं। विद्यार्थी-जीवन की इस परिस्थिति के जो बुरे परिणाम हो रहे हैं उन से हरेक विचारशील व्यक्ति चिन्तित है। अनेक बार तो लड़के और लड़कियाँ अपने विद्यार्थी-काल में ऐसी बातें कर गुजरते हैं जिन की ओर यहां संकेत करना भी उचित प्रतीत नहीं होता। यह सब बालक और बालिकाओं के विद्यार्थी-जीवन की परिस्थितियों को गलत ढंग का बना दिया जाने का परिणाम है। विद्यार्थी-जीवन की आज की परिस्थितियाँ विद्यार्थी के जीवन में से संयम को बिलकुल निकाल कर फेंक देती हैं। जिस का भीषण परिणाम यह हो रहा है कि आज के विद्यार्थी के शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास नहीं हो रहा है और देश को उस की सब प्रकार की जिम्मेवारियों को संभालने वाले बढ़िया किस्म के नागरिक नहीं मिल रहे हैं। आज का संयमहीन विद्यार्थी अपने निजी जीवन के लिए भी कुछ नहीं कर पाता और अपने राष्ट्र के लिए भी नहीं।

हमें ब्रह्मचर्याश्रम की प्राचीन मर्यादा फिर अपनानी होगी

यदि हमें अपने बालक और बलिकाओं का हित है, यदि हम उन्हें सच्चे मनुष्य बनाना चाहते हैं, यदि हम उन के शरीर, मन और आत्माओं का पूरा विकास देखना चाहते हैं, तो हमें उन के विद्यार्थी-जीवन की चिन्ता करनी होगी। यदि हमें अपने राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति का फिक्र है और इस के लिये यदि हम अपने राष्ट्र को उत्तम-से-उत्तम नागरिक देना चाहते हैं तो हमें कल के नागरिक बनने वाले अपने आज के बालक और बलिकाओं के विद्यार्थी-जीवन की चिन्ता करनी होगी। हमें अपने बालक और बालिकाओं को उन के विद्यार्थी-काल में तपस्वी, सादा और संयमी बना कर रखना होगा। हमें अपने बालक और बलिकाओं को विद्यार्थीकाल में ब्रह्मचारी बना कर रखना होगा। उन से ब्रह्मचर्य कथा पालन कराने के लिये उन की सब प्रकार की परिस्थितियाँ ऐसी बना कर रखनी होंगी जिन में उन के लिये ब्रह्मचर्य का पालन

कर सकना आसान हो सके। उन के शिक्षणालय गांव और नगरों से दूर सुन्दर एकान्त स्थानों में बनाने होंगे। विद्यार्थीकाल में बालकों को नागरिकों की गृहस्थ-जीवन की परिस्थितियों से पृथक् रखना होगा। विद्यार्थी-काल में बालकों को नगरों में नहीं रहने देना होगा। विद्यार्थी दिन-रात अपने शिक्षणालयों में ही रहेंगे। उन के गुरु लोग भी उन के पास ही रहेंगे। विद्यार्थियों का रहन-सहन और खान-पान सात्त्विक और सादा रखना होगा। उन्हें तपस्वी रहना होगा। उन्हें काम-वासना को भड़काने वाले खेल और तमाशे नहीं देखने होंगे। उन्हें चरित्र को भ्रष्ट करने वाले सिनेमा और थियेटरों से पृथक् रखना होगा। उन के पाठ्यक्रम में काम-वासना को जगाने वाले श्रृङ्गार रस के उपन्यास, नाटक, काव्य और कहानियों को नहीं रखना होगा। लड़के और लड़कियों के शिक्षणालय अलग-अलग बनाने होंगे--सहशिक्षा (Co-education) को तिलांजली देनी होगी। गुरुओं को दिन-रात विद्यार्थियों के साथ रह कर उनकी सब प्रकार की गति-विधि यों पर दृष्टि रखनी होगी और विद्यार्थियों का चरित्र निर्माण करना अपना प्रधान कर्तव्य यह गुरु दिन-रात इन विद्यार्थियों के बीच में रहेगा। अपने विद्यार्थियों के साथ ही खायेगा, साथ ही सोयेगा, साथ ही नहाये-धोयेगा, साथ ही खेले और व्यायाम करेगा और साथ ही घूमने-फिरने जायेगा। विद्यार्थियों के सुख-दुःख में सदा साथ रहेगा। वह इस तरह रहेगा कि ये विद्यार्थी उसे अपना पिता समझें और वह उन्हें अपने पुत्र समझे। पढ़ने के समय ये विद्यार्थी भिन्न-भिन्न विषयों को पढ़ाने वाले गुरुओं के पास वह-वह विषय पढ़ने जायेंगे। आगे-पीछे अपने उसी संरक्षक गुरु की संरक्षा में रहेंगे। शिक्षणालय के प्रत्येक अध्यापक को इस अध्यापक कोइस प्रकार ४-५ विद्यार्थियों की संरक्षा आवश्यक रूप से करनी होगी। संरक्षक अध्यापक को अपने संरक्षणीय विद्यार्थियों को कोई-न-कोई विषय अवश्य पढ़ाना होगा। ४-५ विद्यार्थियों के पीछे एक गुरु, इस हिसाब से किसी शिक्षणालय में जितने गुरुओं की आवश्यकता होगी उतने गुरु उस शिक्षणालय को रखने होंगे। गुरु लोग भी विद्यार्थियों की भांति ही तपस्वी, सादे ओर संयमी रहेंगे। गुरुओं को अपना रहन-सहन और खान-पान आदि सब अपने विद्यार्थियों के लिए उदाहरण बना कर रखना होगा। विद्यार्थियों से ब्रह्मचर्य का पालन कराने के लिये उन सब नियमों और सावधानियों का पालन कराया जायेगा जिन का ब्रह्मचर्य के साधन के रूप में ऊपर के पृष्ठों में कुछ उल्लेख किया गया है। विद्यार्थियों को अपने गुरुओं की आज्ञा का पालन करना होगाऔर उनकी श्रद्धा से सेवा करनी होगी। एक शब्द में, हमें अपने शिक्षणालयों को प्राचीन भारत

के "गुरुकुल" और अपने विद्यार्थियों को "गुरुकुल के ब्रह्मचारी" बनाना होगा। तभी हमारे बालक विद्यार्थी जीवन के अपने निर्माण के काल (Formative Period) में सुरक्षित रह सकेंगे और अपने शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास कर के आदर्श मनुष्य बन सकेंगे।

ब्रह्मा, वसिष्ठ, पतंजलि और व्यास से लेकर दयानन्द, श्रद्धानन्द और गान्धी तक के आर्य ऋषि-मुनियों, आचार्यों और सन्त-महात्माओं की अनन्त परम्परा जिस ब्रह्मचर्य की महिमा के गीत गाती नहीं थकती रही है उस ब्रह्मचर्य का पालन किये बिना आज के विद्यार्थी का भी कल्याण नहीं है और आज के राष्ट्रों का भी कल्याण नहीं है।

४

ब्रह्मचर्य और पश्चिमी डाक्टर

आज हमारे देश का पश्चिमीय पद्धति में शिक्षित समुदाय अपने पूर्वजों की सभ्यता की इन देन ब्रह्मचर्य को भूलता जा रहा है। हम अनुचित इन्द्रिय-सुख-प्रधान पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में आकर ब्रह्मचर्य की महिमा को तुच्छ दृष्टि से देखने लगे हैं। हमारे देश के पत्र-पत्रिकाओं में अनेक बार ऐसे भ्रान्ति-पूर्ण लेख निकलते हैं जिन्हें पढ़ कर युवक और युवतियों के मनों में ब्रह्मचर्य की भावना के ढीला हो जाने की भारी संभावना रहती हे। इस बात का प्रचार किया जाता है कि ब्रह्मचर्य का जीवन लाभ के स्थान में हानि करता है। इन लोगों के मत में जैसे भूख लगना एक स्वाभाविक बात है और भूख लगने पर भोजन न खाने वाला व्यक्ति कुछ समय में रोगी हो कर अवश्य मर जायेगा, वैसे ही कामवासना भी एक स्वाभाविक बात है और भूख लगने पर भोजन न खाने वाला व्यक्ति कुछ समय में रोगी हो कर अवश्य मर जायेगा, वैसे ही कामवासना भी एक स्वाभाविक बात है और समय-समय पर वीर्य-नाश द्वारा उस की तृप्ति न करने वाला व्यक्ति अवश्यक कई प्रकार के रोगों से आक्रान्त हो जायेगा और एक दिन उस के मर जाने की भी संभावना रहेगी। अपने मन्तव्य को पुष्ट करने के लिए ये लोग कई वार अनेक योरोपीयन डाक्टरों के नाम भी उपस्थिति किया करते हैं। इस प्रकार की झूठी युक्तियों और योरोपियन डाक्टरों के नामों से प्रभावित हो कर अनेक युवक अपने जीवनों को ब्रह्मचर्य भंग के भीषण प्रवाह में फेंक कर नष्ट कर लेते हैं। कितने ही दूषित वृत्ति के लोग बात-चीत में भी इस प्रकार के हेत्वाभास-पूर्ण मन्तव्यों को नवयुवकों के सम्मुख उपस्थित कर के उन्हें भ्रष्ट करने का घृणित प्रयत्न करते रहते हैं। हमारे नवयुवक और नवयुवतियों को इस

प्रकार के कलुषित विचारों का प्रचार करने वाले साहित्य और व्यक्तियों से सर्वथा बच कर रहना चाहिये। नहीं तो उन की संगति उन्हें एक दिन कहीं का नहीं छोड़ेगी।

हमारे नवयुवकों को समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मचर्य के पालन से किसी प्रकार की हानि नहीं होती है। इस के पालन से व्यक्ति किसी प्रकार के रोग का शिकार नहीं बनता। बल्कि उसके शरीर में ब्रह्मचर्य का पालन करने से रोगों का मुकाबला करने की शक्ति पैदा होती है। सब इन्द्रियें शक्ति-शाली बन जाती हैं, स्मृति-शक्ति बढ़ जाती है और विचार-शक्ति अधिक स्पष्ट हो जाती है। मन और शरीर में कार्य करने का सामर्थ्य अधिक हो जाता है। कामवासना वैसी स्वाभाविक वस्तु नहीं है जैसी कि भूख है। भूख पर हमारी इच्छा-शक्ति का बहुत कम प्रभाव है। भूख लगने पर रोटी न खाने से हम देर तक जीते नहीं रह सकते। हम कुछ ही दिनों में आवश्यक तौर पर मर जायेंगे। पर कामवासना पर हमारी इच्छा-शक्ति का पूरा प्रभाव है। अपनी इच्छा-शक्ति से काम को दबाने वाला व्यक्ति किसी आपत्ति से ग्रस्त नहीं होता। उसे कोई रोग भी नहीं होता। मरने की तो बात दूर है। ऐसे सैंकड़ों व्यक्ति मिल सकते हैं जिन्होंने इच्छा-शक्ति से काम को दबा लिया और इस काम-विजय से जिन को भारी लाभ हुआ।

योरोपियन डॉक्टरों के नाम से भी प्रभावित नहीं होना चाहिए। योरोपियन और उन के अनुयायी भारतीय डाक्टर कोई परमात्मा नहीं होते कि जो कुछ वे कहेंगे सत्य और कल्याणकारी ही होगा। अनेक बातों में इन डाक्टरों के विचार भ्रमपूर्ण भी हो सकते हैं। पर यह बात नहीं है कि सारे ही योरोपियन डाक्टर ब्रह्मचर्य का विरोध करते हों। योरोप में भी अनेक भारी-भारी डाक्टर हैं जो ब्रह्मचर्य का समर्थन करते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् फ्रांस देश के प्रसिद्ध समाज-शास्त्री विद्वान् पाल ब्यूरो (Paul Bureau) ने 'अनाचार की राह पर' (Towards Moral Bankruptcy) नामक एक साढ़े पांच सौ पृष्ठ की भारी पुस्तक लिखी थी। वह पुस्तक लिखी तो फ्रांस के लोगों को सम्बोधन कर के गई है, पर वास्तव में वह सभी पाश्चात्य सभ्यता-प्रधान देशों को सम्बोधन करती है। क्योंकि अनुचित ऐन्द्रियिक सुख-प्रधान सभ्यता का फ्रांस देश को आदर्श नमूना कहा जा सकता है। जो फ्रांस के लिये सत्य है वह सभी पाश्चात्य सभ्यता-प्रधान देशों के लिये सत्य है। उक्त पुस्तक में बड़ी योग्यता के साथ वर्तमान सभ्यता के दूषणों का वर्णन कर के संयम और ब्रह्मचर्य के जीवन का समर्थन किया गया है। संयम और ब्रह्मचर्य

के जीवन से ही मनुष्य-समाज की रक्षा हो सकती है इस बात को प्रबल तर्क से प्रतिपादित किया गया है। प्रत्येक अंग्रेजी पढ़े-लिखे नवयुवक और नवयुवती को उस पुस्तक का एक बार पाठ अवश्य करना चाहिए। उसे पढ़ कर इन की आंखें खुल जायेंगी और वे देखेंगे कि संयमहीन पाश्चात्य सभ्यता मनुष्य-समाज को किस गहरे गढ़े में ले जाना चाहती है। उस पुस्तक में डॉक्टर लोग ब्रह्मचर्य के विरोधी हैं इस मत का खण्डन करने के लिये भी कुछ प्रसिद्ध डाक्टरों की सम्मतियें दी गई हैं। पाठकों के लाभ के लिये उन में से कुछ एक के ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी विचार नीचे दिए जाते हैं। उन्हें पढ़ कर पाठक देखेंगे कि ब्रह्मचर्य रख सकना असम्भव है, अस्वाभाविक है और हानिकारक है ये विचार कितने भ्रामक और थोथे हैं—

डॉ. ईस्टर लेन (Oesterlen) जो कि ट्यू बिजन विश्वविद्यालय में उपाध्याय (Professor at Tubigen University) हैं, लिखते हैं—"कामेच्छा इतनी शक्तिशाली नहीं है कि उसे आत्मिक बल और विचार द्वारा जीता या काबू में न किया जा सके अथवा पूर्णरूप में ही जीता न जा सके। युवक और युवतियों को उचित समय आने तक अपने आप को काबू में रखना चाहिए। इस क्षणिक सुख-त्याग का फल बलिष्ठ स्वास्थ्य और सदा ताजा रहने वाली कार्य-शक्ति होगी। ब्रह्मचर्य और पूर्ण पवित्रता शरीर-विज्ञान और आचार-शास्त्र के नियमों के सर्वथा अनुकूल है, और विषय-विलास में फंसना इन दोनों ही शास्त्रों के नियमों से सिद्ध नहीं होता, यह जितनी बार दोहराया जाय थोड़ा है[१]।"

---

१. "The sexual instinct is not so blindly all-powerful that it can not be controlled, and even subjugated entirely, by moral strength and reason. The young man, like the young woman, should learn to control himself until the propertime. He must know that robust health and ever renewed vigour will be the reward of this voluntary sacrifice... one can not repeat too often that abstinence and the most absolute purity are perfectly compatible with laws of physiology and morality, and that sexual indulgence is no more justified by physiology and psychology then by morality and religion."

सर लायनिल बील (Lionel Beale) जो कि लण्डन के रायल कालेज में प्रोफेसर हैं कहते हैं—"सदा ही उच्च श्रेणी के श्रेष्ठ मनुष्यों के जीवन सिद्ध करते रहे हैं कि जबरदस्त इच्छा-शक्ति और जीवन के नियमित व्यवहार से तीव्र-से-तीव्र सहज वृत्तियें पूर्ण रूप से जीती जा सकती हैं। जब कभी भी ब्रह्मचर्य का पालन किया गया है तो कोई भी हानि होती नहीं देखी गई है। पूर्ण ब्रह्मचारी रह सकना बहुत अधिक कठिन नहीं है यदि इच्छा ब्रह्मचारी रहने की हो। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल विवाह न करना ही नहीं है प्रत्युत इस का अर्थ विचारों की पवित्रता है[१]।"

स्विटज़रलैण्ड के मनोवैज्ञानिक डॉ. फौरल (Forel) ने लिखा है—"अभ्यास से प्रत्येक अंग की क्रिया बढ़ और दृढ़ हो जाती है। दूसरी ओर अनभ्यास से किसी अंग की क्रिया-शक्ति मन्द पड़ जाती है। काम के विचार को तृप्त करते रहने से इच्छा गहरी हो जाती है, पर उत्तेजक कारणों से पृथक् रहने पर कामेच्छा मन्द पड़ जाती है और शनैः शनैः कम हो जाती है। नौजवानों में यह विचार प्रचलित है कि ब्रह्मचर्य एक असाधारण और असम्भव चीज है। पर जिन्होंने ब्रह्मचारी रह कर देखा है वे सिद्ध करते हैं कि ब्रह्मचर्य से स्वास्थ्य को किसी प्रकार की हानि नहीं होती[२]।"

---

१. "The example of the best and noblest among men, has at all times proved that the most imperious of instincts can be effetively resisted by a strong and serious will, and by sufficient care as to manner of life and occupation. Sexual abstinence has never yet hurt any man when it has been observed, not only through exterior restrictive causes, but as a voluntary rule of conduct. Virginity, in fine, is not hard to observe, provided that it is the physical expression of a certain state of mind........chastity implies, not only continence, but also purity of sentiments, the energy which is the result of deep convictions."

2. "Every kind of nervous activity is increased and strengthened by exercise. On the other hand, inactivity in a particular region reduces the effects of the exciting causes which correspond to it. All causes of sexual disturbance increase the intensity of desire. By avoiding

डॉ. रिबिंग (Ribbing) कहता है–"मुझे कितने ही ऐसे मनुष्यों का ज्ञान है जो २५, ३० या अधिक वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचारी रहे हैं या जब उन्होंने विवाह किया उस समय तक पूर्ण ब्रह्मचारी रहे थे। ऐसे उदाहरण थोड़े नहीं हैं। हां, ऐसे लोग अपना विज्ञापन नहीं देते-फिरते। ... मुझे ऐसे विद्यार्थी मिले हैं जिन्होंने मुझे फटकार बताई है कि ब्रह्मचर्य पर्याप्त आसानी से रखा जा सकता है इस विषय पर मैंने पर्याप्त बल क्यों नहीं दिया[1]।"

डॉ. ऐक्टन (Actan) लिखते हैं–"विवाह से पहले पूर्ण ब्रह्मचारी रहा जा सकता है और नौजवानों को रहना चाहिए[2]।"

सर जेम्स पेजट (Sir James Paget) जो कि इंग्लिश सम्राट् के चिकित्सक हैं, कहते हैं–"ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा को कोई हानि नहीं पहुंचती। अपने को नियन्त्रण में रखना सब से अच्छी बात है[3]।"

डॉ. पैरियर (E.Perier) ने लिखा है–"यह एक बिलकुल झूठा ख्याल है, और इस के विरुद्ध लड़ाई होनी चाहिये क्योंकि यह बच्चों और उन के पिताओं के मनों में घुस जाता है–यह ख्याल कि पूर्ण ब्रह्मचर्य से कोई हानि होती है। नौजवानों के शरीर, चरित्र और बुद्धि का रक्षक

---

these provocations it becomes less sensitive, and the desire gradully diminishes. The idea is current among young people that continence is something abnormal and impossible, and yet the many who observe it prove that chastity can be practised without prejudice to the health "

1. "I know a number of men of 25, 30 and older than that who have observed perfect continence or who when they married had done so up to that time. Such cases are not rare; only they don't advertise themselves. I have received many confidences from students, healthy both in body and mind, who have remonstrated with me for not having sufficiently msisted on the case with which sensual desire can be ruled."
2. "Before marriage absolute continence can and ought to be observed by youngmen."
3. "Chastity no more injures the body than the soul discipline is better than any other line of conduct."

पूर्ण ब्रह्मचर्य ही है[1]।"

सर ऐण्डू क्लार्क (Sir Andrew Clarke) ने लिखा है—"ब्रह्मचर्य से कोई हानि नहीं होती, इस से उन्नति रुकती नहीं, इस से शक्ति बढ़ जाती है, ज्ञान-शक्ति विस्पष्ट हो जाती है। अब्रह्मचर्य से आत्म-संयम ढीला हो जाता है, सुस्ती की आदतें पड़ जाती हैं, सारा जीवन मन्द पड़ जाता और पतित हो जाता है, बीमारियों के आक्रमण का विषय बन जाता है जो बीमारियें कई पीढ़ियों तक भी जा सकती हैं। यह कहना कि अब्रह्मचर्य स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है न केवल एक भूल है प्रत्युत एक अत्याचार है। यह विचार एक दम झूठा और हानिकारक है[2]।"

डॉ. सर्बल्ड (Surbled) लिखता है—"अब्रह्मचर्य की हानियें सुप्रसिद्ध हैं। अब्रह्मचर्य की हानियों का वर्णन करने वाली भारी पुस्तकें मिल सकती हैं। ब्रह्मचर्य की हानियों को लिखने वाला ऐतिहासिक अभी पैदा होना है। ब्रह्मचर्य से हानियें होती हैं यह केवल कथन ही कथन है, जो कि सिद्ध नहीं किया जा सकता[3]।"

1. "It is a singularly false notion and one which must be fought against, since it besets not only the childres's mind, but that of the fathers as well, the notion of imaginary dangers in absolute continence.Virginity is a physical, moral and intellectual safeguard to youngmen."
2. "Continence does no harm, it does not hinder development, is increases energy and enlivens perception. Incontinence weakens self-control, creats habits of slackness, dulls and degrades the whole being, and lays it open to diseases which can be transmitted to several generations. To say that incontinence is necessary to the health of youngmen is not only an error, but a cruelty. It is at once false and hurtful."
3. "The evils of incontinence are well-known and indisputed, those produced by continence are imaginary, what proves this is the fact of the many learnd and voluminous works devoted to the explanation of the former, while the latter still await their historian. As to these latter there are but vague assertions, which hide themselves, for very shame, in mere talk, but which will not endure the day-lighy."

डॉ. मौंटेगाज़ा (Montegaza) ने लिखा है—"मैंने ब्रह्मचर्य से होती हुई कोई बीमारी नहीं देखी। सभी मनुष्य विशेषकर नौजवान ब्रह्मचर्य के लाभों को तत्क्षण अनुभव कर सकते हैं[1]।"

डा. ड्यूबोइस (Dubois) जो कि बर्न (Berne) विश्वविद्यालय में नाड़ी-चक्र सम्बन्धी रोग-विज्ञान के प्रसिद्ध प्रोफेसर हैं लिखते हैं—"जो असंयम में बह जाते हैं उन में उन लोगों की संख्या अधिक है जो नाड़ी-चक्र-सम्बन्धी शक्ति-हीनता के शिकार बनते हैं। जो इस पाशविक-वृत्ति से बचना जानते हैं उन्हें यह बीमारी बहुत कम होती है[2]।"

डा. फेरे (Fere) जो कि बिसीतृ (Bicetre) के हस्पताल में चिकित्सक हैं कहते हैं, "जो लोग मन को पवित्र रख सकते हैं उन के लिये ब्रह्मचारी रह सकना कोई कठिन बात नहीं है और न ही उन के स्वास्थ्य को कोई हानि होती है। स्वास्थ्य कामेच्छा की पूर्ति पर आश्रित नहीं है[3]।"

प्रोफेसर अल्फ्रेड फोरनियर (Alfred Fourneir) कहते हैं—"ब्रह्मचर्य से हानियाँ होती हैं ऐसी अयुक्त और थोथी बात कही जाती रही है। ऐसी हानियों का एक चिकित्सक के रूप में मेरे पास कोई प्रमाण नहीं है। हालांकि मुझे रोगियों के निरीक्षण करने के अनेक अवसर मिले हैं। एक चिकित्सक की हैसियत से मैं यह कह सकता हूं कि लगभग २१ वर्ष की आयु से पहले पुंस्त्व नहीं आता और इस समय से पहले कामेच्छा की पूर्ति की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती यदि पहले ही अनुचित तौर पर कामेच्छा न जगा ली गई हो। समय से पहले काम-वासना की जागृति कृत्रिम है और बहुत हालतों में बच्चे के अनुचित पालन-पोषण और शिक्षण का परिणाम होती है। निश्चय रखो कि असंयम की अपेक्षा संयम में हानियों की बहुत कम सम्भावना है[4]।"

1. "I have never seen a disease produced by chastity... All men and especially youngmen can experience the immediate benefits of chastity."
2. "There are more victims of neuresthenia among those who give free rein to their sensulity than among those who know how to escape from the yoke of mere animalism."
3. "Those who are capable of psychic chastity can maintain their continence without any fear for their health, which does not depend on the satisfaction of the sexual instinct."
4. "There has been unfitting and light talk about the dangers of continence for the youngmen. I can assure you that if these dangers exist

सन् १९०२ में जगत् के प्रसिद्ध और प्रामाणिक डाक्टरों की ब्रुसेल्स (Brussels) नगर में एक सभा (The Second General Congress of The International Conference of Sanitary and Moral Prophylaxis) हुई थी। इस में १०२ विद्वान् डॉक्टर उपस्थित थे। उन्होंने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया था कि "नवयुवकों को यह शिक्षा देना अत्यन्त आवश्यक है कि पवित्रता और ब्रह्मचर्य से न केवल कोई हानि ही नहीं होती, प्रत्युत ये ऐसे गुण हैं जिन का धारण करना विशुद्ध चिकित्सा और स्वास्थ्य-शास्त्र की दृष्टि से भी अति आवश्यक है[1]।"

क्रिश्चियानिया विश्वविद्यालय (Christiania University) के आयुर्वेद-विभाग (Medical Faculty) के प्रोफेसरों ने सर्व-सम्मति से घोषणा की थी कि "यह कहना कि ब्रह्मचर्य का जीवन स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है, हमारे सर्वसम्मत अनुभव के आधार पर सर्वथा निराधार है। पवित्र और ब्रह्मचर्य के जीवन से कोई हानि होती है इस का हमें कोई ज्ञान नहीं है[2]।"

डाक्टर वीरी (Viri) लिखते हैं—"हर एक जानता है कि भोजन की मांग को पूरा न करने से अथवा सांस को रोकने से क्या परिणाम भोगने पड़ेंगे। परन्तु सामयिक या पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन से कोई अनिष्ट रोग आदि होते नहीं देखे गये। जीवन में हम ऐसे पुरुष देखते हैं जो ब्रह्मचारी रहे हैं और जो कि किसी बात में किसी से कम नहीं रहे हैं। जो आवश्यकता

I know nothing about them, and that as a physician I am still without proof of their existence, though I have had every opportunity on the way of subjects under my professional observation...Besides this, as a physiologist I will add that true virility is not attained before the age of twenty-one, or thereabouts, and sexual necessity does not obtrude itself before that period, expecially if unhealthy excitements have not aroused it prematurely. Sexual precocity is merely artificial, and is most often the result of ill-directed up-bringing...In any case, be sure that danger of this kind lies far less in restraining than in anticipating the natural tendency, you know what I mean."

1. "Youngmen must above all be taught that chastity and continence are not only not harmful, but also that these virtues are among those to be most earnestly recommended from the purely medical and hygienic standpoint."
2. "The assertion that a chast life will be prejudicial to the health rests, according to our unanimous experience, on no foundation. We have no knowledge of any harm form pure moral life."

या सहज-वृत्ति इतनी रूपान्तरित हो सकती है और अपनी आपूर्ति की अवस्था के साथ इतना मेल खा जाती है, उसे असल में कोई आवश्यकता या सहज वृत्ति कहा ही नहीं जा सकता[1]।"

फिर आगे लिखते हैं—"यौवनारम्भ के समय बालक में बड़े परिवर्तन आते हैं। शरीर की अनेक क्रियाओं में बड़ी उथल-पुथल मच जाती है। इस समय बालक को अपनी सारी जीवनी-शक्ति की आवश्यकता होती है। क्योंकि इस समय रोगों का प्रतिरोध करने की सामर्थ्य कमजोर पड़ जाती है। इस आयु में रोग और मृत्यु संख्या पहले से अधिक होती है। शरीर की सामान्य वृद्धि, अंगों के विकास, और शरीर तथा मन की समस्त शृंखला में, जिन की समाप्ति पर बालक पुरुष बन जाता है, प्रकृति को बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है। इस आयु में सभी प्रकार का अपव्यय विशेष कर वीर्य की हानि शरीर-विकास के लिये बड़ी घातक होती है[2]।"

प्रोफेसर मौण्टेगाजा ब्रह्मचर्य के लाभों का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"सभी पुरुष, विशेष कर नौजवान, ब्रह्मचर्य के लाभों को तत्काल अनुभव कर सकते हैं। स्मृति की स्थिरता और धारणा-शक्ति बढ़ जाती है। मस्तक जीवित और उपजाऊ हो जाता है, इच्छा-शक्ति बलिष्ठ

1. "Every one knows what it would cost him not to satisfy the need of nourishment or to suppress respiration, but no one quotes any pathalogical consequences, either actute or chronica as having followed either temporary or absolute continence.. In normal life we see the example of chaste men who are neither less virile in character, nor less energetic in will nor less robust, than others, nor less fitted to become fathers if they maryy...A need which can be subject to such variations, an instinct which accommodates itself so well to lack of satisfaction, is neither a need nor an instinct."

2. "The attainment of puberty is accompanied by great changes, a veritable disturbance of various functions, and general development. The adolescent boy needs all his vital strength, for during this period there is often a weakening of the resistence to sickness, disease and mortality are higher than in the earlier period The long work of general growth, of organic evolution, that whole series of physical and psychic changes, at the end of which the child becomes a man, involves a toilsome effort of nature. At that moment, all over-driving is dangerous, but especially the premature exercise of the sexual function."

हो जाती है। चरित्र के सभी अंगों में एक ऐसी शक्ति आ जाती है जिस की विलासी लोग कल्पना भी नहीं कर सकते। ब्रह्मचर्य से हमें परिस्थितियें एक विशेष आनन्द-दायक रंग में रंगी हुई दिखाई देती हैं। ब्रह्मचर्य अपनी किरणों से संसार के प्रत्येक पदार्थ को आलोकित कर देता है और हमें कभी न मिटने वाले एक विशुद्ध हर्ष की अवस्था में ले जाता है–जो हर्ष कभी फीका नहीं पड़ता[१]।"

इन प्रसिद्ध डॉक्टरों के ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचारों को पढ़ कर उस की उपयोगिता के विषय में किसी को सन्देह नहीं रह सकता। जो लोग इस बात का घातक प्रचार करते हैं कि ब्रह्मचर्य के पालन से अनेक हानियें होती हैं, उन का कथन कितना झूठा और निराधार है यह इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है। इस समय इस बात की भारी आवश्यकता है कि हमारे देश के नवयुवक और नवयुवतियों में ब्रह्मचर्य की महिमा के भाव भरे जायें और उन में से इस सम्बन्ध में भ्रममूलक विचारों को उच्छिन्न किया जावे, नहीं तो देश एक दिन दुर्बल शरीर वाले, कमज़ोर मस्तक वाले और रोगों से जर्जरित लोगों से भर जायेगा, और जाति के उत्थान और उत्कर्ष की कोई आशा नहीं रहेगी। भारत के शिक्षाविज्ञों, समाज-सुधारकों और राजनीतिक नेताओं को इधर भारी ध्यान देना चाहिये।

१. "All men and youngmen in particular, can experience the immediate benefit of chastity. The memory is quiet and tenacious, the brain lively and fertile, the will energetic, the whole character gains a strength of which libertines have no conception, no prism shows us our surroundings under such heavenly colurs as that of chastity, which lights up with its rays the least objects in the universe and transports us into the purest joys of an abiding happiness that knows neither shadow neither decline."

वैदिक धर्म और अन्य धर्मावलम्बी

१.

अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति वैदिकधर्म की दृष्टि

आज का विचारणीय विषय है—मेरा धर्म अन्य धर्मावलम्बियों को किस दृष्टि से देखता है। हम आर्यसमाज के लोग वैदिक धर्मावलम्बी हैं। हम वेद में प्रतिपादित धर्म को मानते हैं और उसी धर्म का प्रचार करते हैं। आज मैंने अपने इस भाषण में आप को यह बताना है कि हमारा वैदिक धर्म अन्य धर्मावलम्बियों को किस दृष्टि से देखता है।

वैदिकधर्म में जीवन का लक्ष्य : ब्रह्म-साक्षात्कार

इस से पहले कि हम यह देखें कि वैदिक धर्मावलम्बी आर्यसमाज अन्य धर्मावलम्बियों को किस दृष्टि से देखता है, यह समझ लेना आवश्यक है कि आर्यसमाज 'धर्म' किसे समझता है। आर्यसमाज जिस धर्म का प्रचार करता है उस में मनुष्य का परम लक्ष्य (Sumum Bonum) 'मोक्ष' माना गया है—वह लक्ष्य जिसे प्राप्त कर चुकने पर मनुष्य के लिये और कुछ करने-धरने को नहीं रहता, वह कृतकृत्य और पूर्णकाम हो जाता है, उस के प्रकृति और तत्कारणक शरीर, इन्द्रिय और मन के साथ संसर्ग में आने का अन्तिम प्रयोजन चरितार्थ हो जाता है, और, वह कल्पना में आ सकने वाले सभी कष्ट-क्लेशों से अलग हो कर विशुद्ध, दिव्य, निर्विकार आनन्द के महासमुद्र में हिलोरें लेने लगता है। इस दिव्य स्थिति के अपवर्ग, ब्रह्मसाक्षात्कार, ब्रह्मप्राप्ति आदि और भी अनेक नाम हैं। इस ऊंची स्थिति में पहुंचना ही वस्तुतः इस क्षणभंगुर जीवन का परम पुरुषार्थ है। यह बात वेद के—

> ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
> यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते[1]। ।ऋग्. १.१६४.३६
> अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
> तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्[2]। ।अथर्व. १०.८.४४।

---

१. इन दसों मन्त्रों का अर्थ क्रम से इस प्रकार है—

"अविनाशी, परम रक्षक जिस परमात्मदेव में सब जड़ और चेतन देव निवास करते हैं वेद की ऋचायें उसी का बखान करती हैं, जिस ने उसे नहीं जाना वह वेद की ऋचाओं से क्या करेगा ? जो उसे जानते हैं वे ही आनन्दपूर्वक रहते हैं।"

२. "वह परमात्मदेव कामनाओं से रहित है, धीर है, अमृत है, स्वयंभू है, आनन्द से तृप्त है, उस में कहीं

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्[1]।।

यजुः, ३५.६।

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त[2]।।

अथर्व. २.१.५।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम[3]।।

ऋग्. १०.१२१.२।

युंजते मन उत युंजते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः[4]।।

ऋग्. ५.८१.५।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे[5]।।

ऋग् ८.६८.११।

से भी कोई कमी नहीं है, उसे जान लेने वाला मृत्यु से नहीं डरता, वह सर्वव्यापक है, धीर है, अजर है और युवा है।"

१. "उस अमृतमय परमात्मदेव का इन्द्रियों को वश में रखने वाला और वेदवाणी का ज्ञाता विद्वान् ही प्रवचन कर सकता है, वह तेज का पुंज है, सब का आश्रय-स्थान है, हृदय और बुद्धि द्वारा वह जाना जाता है, उस के तीन पद गुहा में छिपे हुए हैं जो उन्हें जान लेता है वह पिता का भी पिता हो जाता है।"

२. "मैं अपने विचार द्वारा सब लोकों का भ्रमण कर आया हूं, सत्य के तन्तु आनन्दस्वरूप उसी परमात्मदेव को मैंने सर्वत्र फैला हुआ देखा है, सब के कारण जिस परमात्मदेव में मुक्तात्मा लोग आनन्द का उपभोग करते हुए विचरण करते हैं।"

३. "जो आत्मा का देने वाला है, बल का देने वाला है, जिस के शासन को सब देव मानते हैं, जिस की आश्रय-रूप छाया अमृत की देने वाली है और जिस का अनाश्रय मृत्यु का कारण बनता है, उस आनन्दस्वरूप परमात्मदेव की हम आत्मत्यागपूर्वक उपासना करते हैं।"

४. "ज्ञानी विप्र लोग उसी महान् ज्ञानी परमात्मदेव में अपने मन और बुद्धियों को लगाते हैं, नामों से पुकारे जाने वाले सब पदार्थों को उसी ने धारण कर रखा है, सब ज्ञान और कर्मों को जानने वाला वही एक है, सब के उत्पादक उस देव की महान् स्तुति है।"

५. "हे सब को बसाने वाले और सैकड़ों प्रकार के ज्ञान और कर्म वाले परमात्मदेव तुम ही हमारे पिता हो और तुम ही हमारी माता हो, हम आप से आनन्द मांगते हैं।"

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः।
यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्तिभूतम्[1]।।

अथर्व. १०.७.३१।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्ण तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय[2]।।

यजुः ३१.१८।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ओउम् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृतं स्मर[3]।।

यजुः ४०.१५।

इन और इन जैसे अन्य अनेक मन्त्रों में सर्वथा असंदिग्ध रीति से बताई गई है। इन मन्त्रों में जो कुछ कहा गया है उस का निचोड़ यह है कि "वह ब्रह्म ही अमृत की एक खान है, उसी को प्राप्त कर के हम अमृत को पा सकते हैं, उसी में हमें अपनी मन और बुद्धियें में लगानी चाहिये, उस का हमें प्रातः सब से पहले भजन करना चाहिये, मृत्यु-पर्यन्त उस ओंकार का स्मरण हमें करते रहना चाहिये, वही हमारी माता और वही हमारा पिता है, जिस ने उसे नहीं जाना उस ने वेद पढ़ के भी क्या लाभ लिया ? उसे पा कर ही हम मौत को तर सकते और उस के भय से ऊपर उठ सकते हैं क्योंकि वह प्रकाशपुंज है, अकाम है, धीर है, स्वयंभू है, रस से पूर्ण है, सब कामियों से रहित है। उसी को प्राप्त करने में हमारी सारी शक्तियें लगनी चाहिये।"

आत्मा पर प्रकृति का बन्धन

परन्तु मनुष्य तो प्रकृति से घिरा हुआ—उस में बँधा हुआ—पैदा होता है। इस भारी विश्व में जहां तक उस की दृष्टि जा सकती है उसे प्रकृति ही प्रकृति का पसारा नजर आता है। दृष्टि ही क्यों, जहां तक उस की बुद्धि पहुंच सकती है वहां तक, और विज्ञान बताता है

१. "जो पुरुष उषाकाल और सूर्योदय से पहले ब्राह्ममुहूर्त में परमात्मा के नाम का स्मरण करता है वह उस अजन्मा को जो सब से पहले से विद्यमान है जो जगत् पर स्वयं राज्य करता है और जिस से उत्कृष्ट और कोई पदार्थ नहीं है, प्राप्त करता है।"

२. "मैंने इस परमात्मदेवरूप पुरुष को जान लिया है जो महान् है, सूर्य जैसा तेजस्वी है और अन्धकार से परे है, उसी को जान कर मनुष्य मृत्यु को जीत सकता है, अमरता की ओर जाने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है।"

३. "मृत्यु के समय प्राण अमर वायु में मिल जायेगा, शरीर राख में मिल जायेगा, हे कर्मशील जीवात्मा ! तू ओउम् का स्मरण कर, शक्ति प्राप्त करने के लिये उस का स्मरण कर, अपने किये हुए का स्मरण कर।"

कि उस से भी परे तक, प्रकृति का साम्राज्य है। मनुष्य ने अपने जीवन-भर जिन चीजों से काम लेना है—जिन चीज़ों से उस का थोड़ा भी वास्ता पड़ता है—वे अधिकांश प्रकृति की बनी हैं। और तो और, स्वयं उस का अपना शरीर और इन्द्रियाँ भी—जिन्हें वह प्रायः 'मैं' ही समझता है—प्रकृति की देन हैं, उसी का परिणाम हैं। इतनी बुरी तरह प्रकृति के दुर्ग में, जिस के बाहर दूर-दूर तक प्रकृति की सेनाओं का ही डेरा डला हुआ है, बन्द पड़ा पुरुष स्वतन्त्र कैसे हो सकता है—प्रकृति से ऊपर उठ कर ब्रह्म-साक्षात्कार और ब्रह्मनिमग्नता की अवस्था में कैसे पहुंच सकता है ? उसे तो प्रकृति के बने इन शरीर और इन्द्रियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये इतना अधिक प्रपंच करना पड़ता है जिस का कोई हिसाब नहीं। अपने शरीर और इन्द्रियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उसे विवाहित हो कर घर बसाने पड़ते हैं, जमीनें साफ कर के खेतियें करनी पड़ती हैं, भांति-भांति की चीजों का आविष्कार करके व्यापार चलाने पड़ते हैं, संगठित हो कर ग्राम और नगरों की नींव डालनी पड़ती है, सुव्यवस्थित राज्यों की रचना करनी पड़ती है, न्यायालय और पुलिस-विभाग स्थापित करने पड़ते हैं, स्थल, जल और वायु में संचार करने वाली सेनायें तैयार करनी पड़ती हैं। और सारे प्रपंच के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम-स्वरूप और जो असंख्यात संस्थायें और वस्तुयें आविष्कार करनी पड़ती हैं उन की नामावली देने के लिये एक पूरे विश्वकोश की आवश्यकता पड़ेगी। यह सारा प्रपंच बिलकुल व्यर्थ ही हो यह भी प्रतीत नहीं होता। इस के अभाव में मनुष्य शायद एक क्षण के लिये भी अपनी सत्ता को स्थिर न रख सके। यदि वह किसी तरह अपनी सत्तामात्र स्थिर रख सकने में समर्थ भी हो जाये तो भी वह ऊंचे ज्ञान-विज्ञान का आविष्कार करने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। और ऊंचे ज्ञान-विज्ञान के आविष्कार बिना वह आत्मा, परमात्मा, प्रकृति और इन के भेद तथा अपवर्ग प्राप्ति आदि दार्शनिक (Metaphysical) विषयों को समझने की भी शक्ति नहीं रख सकता, प्रकृति से ऊपर उठकर ब्रह्मसाक्षात्कार की अवस्था में पहुंचना तो दूर की बात है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति के प्रपंच से बच सकना मनुष्य के लिये असंभव है। परन्तु प्रकृति के बन्धन से बचे बिना ब्रह्मप्राप्ति की ऊंची स्थिति तक पहुंच सकना भी संभव प्रतीत नहीं होता।

प्रकृति के बन्धन से छूटने का उपाय

हमारा वैदिक धर्म इस विरोध का सुन्दर समन्वय कर देता है। ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग पर चलने वाले पुरुष को प्रकृति के प्रपंच से जरा भी भयभीत होने की आवश्यकता नहीं। तुम

उत्तम-से-उत्तम घर बनाओ, बढ़िया-से-बढ़िया ढंग से कृषि करो, विभिन्न प्रकार के शिल्प और कलाओं का आविष्कार कर के भांति-भांति के व्यापार करो, सुन्दर-सुन्दर ग्राम और नगर बसाओ, उत्तम-से-उत्तम सुव्यवस्थित राज्यों की स्थापना करो। इन बातों से तुम्हारे ब्रह्म-प्राप्ति के रास्ते में रुकावट नहीं पड़ेगी। अगर तुमने सिर्फ एक बात का ध्यान रखा। और वह एक बात है संसार का कोई भी काम करते हुए प्रभु की सत्ता को अपनी मानसिक दृष्टि से ओझल न होने देना। मेरा प्रभु न्यायशील है, परोपकारी है, दयालु है, पंक्षपात रहित है, ऋतम्भर है, सत्यशील है, किसी को अपने लिये कष्ट नहीं देता (अहिंसक) है, परम बली है, तपोमय है; ज्ञान का भंडार है, महान् है, सब प्रकार के विकारों से रहित है, उस में क्रोध नहीं, काम नहीं, लोभ नहीं, मोह नहीं, भय नहीं, शोक नहीं, राग नहीं, द्वेष नहीं। वह प्रभु इन गुणों वाला हो कर ही इस विश्व-ब्रह्माण्ड को चला रहा है। मैं भी अपने प्रभु के इन गुणों वाला बन कर ही अपने संसार के कामों को सम्पन्न करूंगा। इस दृष्टि को लेकर मनुष्य प्राकृतिक जगत् से सम्बन्ध रखने वाली ऊंची-से-ऊंची उन्नतियें कर सकता है। उन से उस के परम लक्ष्य तक पहुंचने के मार्ग में बाधा नहीं आती। प्रत्युत इस दृष्टि वाले व्यक्ति के लिये ये प्राकृतिक उन्नतियें, **"उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः, दृशे विश्वाय सूर्यम्[1]"** (यजुः ३३. ३१) वेद के इन अपने ही शब्दों में प्रभु की शक्ति के चमत्कारों का रहस्य खोलने वाली बन कर, ब्रह्मसाक्षात्कार में परम्परया सहायक होती हैं। ऐसी दृष्टि वाला पुरुष संसार में पग-पग पर उस प्रभु की ओर इशारा करने वाली आश्चर्यमय रचनाओं का दर्शन करता है—

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्माजगतस्तस्थुषश्च स्वाहा[2]।।

यजुः. १३.४६।

और इस दृष्टि से संसार में चलने का अन्तिम परिणाम यह होता है कि शनैः-शनैः हमारे अन्दर से वे सारी तुच्छ भावनायें, जिन के कारण हमारे आत्म-दर्पण पर प्रभु के प्रकाश

---

१. मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—"संसार के सब पदार्थ झण्डियें बन कर, वेदों के उत्पादक, ज्ञान और धन देने वाले, सब के प्रेरक और सूर्य के समान प्रकाशमय उसी परमात्मदेव के दर्शन कराते हैं।"

२. मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—"मित्र, वरुण और अग्नि आदि प्राकृतिक शक्तियों की अद्भुत सेना प्रकट हो कर उसी परमात्मदेव के दर्शन करा रही है, सब का प्रेरक और सूर्य के समान तेजस्वी वह परमात्मदेव द्युलोक और पृथिवीलोक में व्याप्त है, वह जंगम और स्थावर सब में रमा हुआ है।"

का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ने पाता था और हम खाली प्रकृति के ही भार से दबे रहते थे, दूर हो जाती हैं। प्रभु का प्रकाश हमें अधिकाधिक प्राप्त होने लगता है। हमारे आत्मा की उज्ज्वलता प्रतिदिन बढ़ती जाती है। और हमें यह भान होने लगता है कि यह प्रकृति जिसे हम इतना अधिक महत्त्व दे रहे थे, हमारे आत्मा और उस से भी बढ़ कर परमात्मा की तुलना में कुछ भी उज्ज्वलता, कुछ भी रमणीयता और कुछ भी आकर्षण नहीं रखती, और इस में जो कुछ रमणीयता है भी वह इस के साथ आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध रहने से ही है। इस भान का परिणाम यह होता है कि मनुष्य समझने लगता है कि प्राकृतिक संसार मेरा साध्य नहीं केवल साधन है–अन्तिम ठिकाना नहीं केवल बीच का पड़ाव है। वह वेद के शब्दों में समझने लगता है, **"उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्, देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्"**। (यजुः. ३५.१४) अर्थात् मेरा ध्येय तो इन पड़ावों में से होते हुए सब के अभिसरणीय उत्तम ज्योति उस प्रभु के पास पहुंचना है। अन्त में एक दिन वह भी आ जाता है जब उसे प्रकृति के ऊपर पूर्ण प्रभुता प्राप्त हो जाती है और वह उस के बन्धन को जब चाहे तोड़ सकता है। इस अवस्था में पहुंच कर उस के लिए अपने प्रभु से एक क्षण के लिये भी अलग रहना असह्य हो जाता है। इस लिये वह प्रकृति के आवरण को परे फेंक कर दिव्य आनन्द के उस महासमुद्र में डुबकी लगाने के लिये कूद पड़ता है।

ऊपर की पंक्तियों में जो कुछ लिखा गया है उस की सत्यता में जिस ने वेद का साधारण-सा भी स्वाध्याय दिया है उसे सन्देह नहीं रह सकता।

सांसारिक उन्नति और ब्रह्म-प्राप्ति का विरोध नहीं है

ब्रह्म-प्राप्ति जीवन का परम लक्ष्य है यह वेद के आधार पर ऊपर दिखाया जा चुका है। इस के साथ ही वेद स्पष्ट तौर पर यह भी आदेश करता है कि सांसारिक दृष्टि से भी हमारा जीवन बहुत उन्नत होना चाहिये। हम विद्यावान् हों, हमारे शरीर बलिष्ठ, सुन्दर और नीरोग हों, हमारे घर बहुत बढ़िया हों, धन-धान्य और पशुओं की हमारे यहां कमी न हो, हमारी खेती, हमारे कला-कौशल, हमारा व्यापार, हमारा राज्य और हमारी सेनायें खूब सुव्यवस्थित हों,

---

१. मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है–"हम अन्धकार से परे हो कर, आनन्द (स्वः) की प्राप्ति के लिये उत्कृष्ट ज्योति (प्रकृति) को और उत्कृष्टतर ज्योति (आत्मा) को देखते हुए अर्थात् उन के स्वरूप को समझते हुए उत्कृष्टतम ज्योति सब के प्रेरक और सूर्य के समान प्रकाशमान परमात्मदेव को प्राप्त करें जो कि देवों में भी देव है।"

हमारे शिक्षणालय बहुत उन्नत हों—इत्यादि अनेक व्यावहारिक बातों का सुस्पष्ट वर्णन वेदों में मिलता है। इस के लिये वेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त, ओषधि-सूक्त, शाला-सूक्त, गोपालन-सूक्त, कृषि-सूक्त, वणिक्-सूक्त, ऋतु-सूक्त, राज्य और सेनाओं सम्बन्धी सूक्त तथा और भी अनेक सूक्त देखे जा सकते हैं। परन्तु सांसारिक उन्नति का आदेश करने वाले इन सूक्तों की रचना में एक अद्भुत विचित्रता है। वह यह कि कहीं तो ऐसा है कि उस विषय के सूक्त की रचना ऐसी है कि सूक्त अपने प्रतिपाद्य विषय का वर्णन करने के साथ ही साथ ईश्वर-तत्त्व की उपस्थिति भी पाठक के मन में उसी समय कराता चलता है। और कहीं ऐसा है कि उस सूक्त के आगे-पीछे आने वाले सूक्त के सूक्त ही ऐसे हैं जो कि स्पष्टतया ईश्वर-तत्त्व का प्रतिपादन कर रहे होते हैं और इस प्रकार पाठक के मन में व्यावहारिक विषय की उपस्थिति होने के तत्काल ही पश्चात् ईश्वर की उपस्थिति हो जाती है। यहां यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि वेद के मानने वालों में एक सर्वसम्मत-सिद्धान्त है कि समग्र वेद का एक अर्थ आध्यात्मिक भी होता है। वेद की इस रचना और क्रम का यही अभिप्राय है कि मनुष्य सांसारिक विषयों में यथेष्ट उन्नति करे सही, पर संसार के काम करते समय उसे ईश्वर की सत्ता और उस के गुणों का स्मरण भी अवश्य रखना चाहिये। संसार में विचरते हुए भी उस की दृष्टि आध्यात्मिक रहनी चाहिये।

कोरे अनुमान और कल्पना से ही हम इस निर्णय पर पहुंचते हों ऐसी बात नहीं है। वैदिक सूक्तों के रचना क्रम से ऊपर जिस बात का अनुमान किया गया है वही बात ऋग्वेद के १०.७१.६ मन्त्र में स्पष्ट शब्दों में कही गई है। मन्त्र इस प्रकार है—

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः[1]।।

इस मन्त्र में असंदिग्ध शब्दों में कहा गया है कि "जो वेद-ज्ञान से न इस लोक को सिद्ध करते हैं और न परलोक को, न ब्रह्मज्ञानी बनते हैं और न कर्मशील, वे वेदवाणी को व्यर्थ ही पढ़ते हैं।" दूसरे शब्दों में मन्त्र का यह अभिप्राय है कि वेद पढ़ने का प्रयोजन कर्मशील और ब्रह्मज्ञानी बनाता है, इस लोक और परलोक की उन्नति करना है।

---

१. इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हमारे ग्रन्थ 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' के पृष्ठ २-३ पर देखिये। और जिस सूक्त का यह मन्त्र है उस सारे सूक्त की विस्तृत व्याख्या वहीं पृष्ठ ४-१३ पर देखिये।

धर्म का लक्षण : अभ्युदय और निःश्रेयस का समन्वय

वैशेषिक दर्शनकार ने वेद के इसी गम्भीर आशय को ध्यान में रख कर धर्म का अपने समय की लोकभाषा में यह लक्षण किया है कि "धर्म उस आचरण का नाम है जिस से मनुष्य की इस लोक में भी सर्वांगपूर्ण उन्नति होती चले और वह मोक्ष का अधिकारी भी होता जाये[1]।" आर्यसमाज धर्म का यही लक्षण स्वीकार करता है। हम लोग किन्हीं विश्वासों को धर्म नहीं कहते। हमारे यहां धर्म जीवन बिताने का एक ढंग है जिस में चलते हुए हम इस संसार की भी सब प्रकार की उन्नति कर सकते हैं और अन्त में अपने परम लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य भी अपने को बना लेते हैं। दूसरे शब्दों में कहना हो तो हम कह सकते हैं कि आर्यसमाज के लिये धर्म एक विश्वासों का समुदाय (Bundle of beliefs) नहीं है, प्रत्युत वह समग्र जीवन के सम्बन्ध में एक दृष्टि (An outlook on entire life) है जिस का अनुसरण करते हुए हम जीवन के प्रत्येक पहलू में खूब उन्नति करते हैं और यह उन्नति इस ढंग से की जाती है कि जीवन का परम लक्ष्य 'ब्रह्म' प्रतिक्षण हमारे मानसिक-चक्षु के आगे रहता है। अगर किन्हीं लोगों के कुछ विश्वास ऐसे हैं जो हमारी इस संसार की सर्वांग-पूर्ण उन्नति नहीं होने देते बल्कि उलटा उस में बाधा डालते हैं तो आर्यसमाज उन विश्वासों को कभी धर्म स्वीकार नहीं करेगा। हम गीता के शब्दों में इस बात के मानने वाले हैं कि "जो धर्मशील (यज्ञशील) नहीं हैं उस का तो यही लोक नहीं बनता अगले की तो आशा ही क्या की जा सकती है[2]।" धर्म के लिये आवश्यक है कि वह पहले इस लोक की उन्नति कराये, फिर देखेंगे कि वह अगले लोक के लिये सहायक होता है या नहीं। जो सिद्धान्त हमारे इस लोक की उन्नति कराना तो दूर रहा उलटा उस में रुकावट डालते हैं उन्हें कभी 'धर्म' नहीं माना जा सकता। यह आर्यसमाज का स्थिर विश्वास है। दूसरी ओर अगर कुछ लोग ऐसे हैं जो जिस किसी तरह भी दुनियावी सुख-समृद्धि और तरक्की प्राप्त करना ही अपना लक्ष्य समझते हैं, जिन्हें आत्मा-परमात्मा से कुछ सरोकार नहीं, ऐसे लोगों के विश्वास भी धर्म नहीं माने जा सकते। किसी सिद्धान्त के लिये 'धर्म' कहलाने के लिये आवश्यक है कि वह अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि की, इस लोक और परलोक दोनों की उन्नति की, कसौटी पर समानरूप से सही उतरना हो। कम-से-कम उसे इन में से किसी एक का विरोध तो हरगिज नहीं करना चाहिये।

---

१. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिक दर्शन १.१.२।

२. नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम। गीता ४,३१।

आर्यसमाज का धर्म अन्य धर्मावलम्बियों को किस दृष्टि से देखता है इस के सम्बन्ध में कुछ कहने से पहले हम 'धर्म' किसे समझते हैं इस का इतना विवेचन कर लेना आवश्यक था। आगे जो कुछ लिखा जायेगा उसे समझने में इस विवेचन से बहुत सहायता मिलेगी।

२.
वैदिकधर्मियों द्वारा अन्य धर्मों की समालोचना

अब हम प्रस्तुत विषय पर आते हैं और देखना चाहते हैं कि वैदिकधर्म को मानने वाला आर्यसमाज अन्य धर्मावलम्बियों को किस दृष्टि से देखता है।

सब से पहली बात यह ध्यान में रखने की है कि आर्यसमाज अन्य धर्मावलम्बियों के धर्मों की समालोचना करता है। यह समालोचना कर सकना वह अपना अधिकार समझता है। किन्तु इस बात को ले कर आर्यसमाज लोगों में बहुत बदनाम हुआ है। लोग उसे असहिष्णु और संकुचित मनोवृत्ति वाला समझते हैं। उन्हें उस का यह काम कड़ुवा लगता है। आर्यसमाज की इस बात से महात्मा गांधी जैसे निरीह और निर्लेप व्यक्ति भी उस से अप्रसन्न रहे हैं। आर्यसमाज अन्य धर्मावलम्बियों के धर्मों की आलोचना का कड़ुवा काम क्यों करता है इसे स्पष्ट करने के लिये नीचे कुछ विस्तार से विचार किया जाता है।

धर्म के स्वरूप को समझने के लिये बुद्धि का प्रयोग आवश्यक है

हम अभी ऊपर देख चुके हैं कि वैदिक धर्मियों के लिये 'धर्म' खाली किसी विश्वास (Faith) का नाम नहीं है। धर्म होने के लिये आवश्यक है कि कोई विश्वास, अभ्युदय और निःश्रेयस की, इस लोक और परलोक दोनों की उन्नति की, कसौटी पर कसा जाने पर भी प्रामाणिक ठहरता हो। धर्म के स्वरूप के सम्बन्ध में यह मन्तव्य स्थिर हो जाने पर इसका एक आवश्यक परिणाम यह निकलता है कि हमें कोई धर्म वास्तव में धर्म है कि नहीं इसका निर्णय करने के लिये उपर्युक्त कसौटी की सहायता से समय-समय पर अपनी बुद्धि का प्रयोग करते रहना चाहिये। मनुष्य बुद्धिमान् हो और अपने हिताहित के परिज्ञानार्थ अपनी बुद्धि का प्रयोग करता रहे, इस बात पर वेद में बहुत बल दिया गया है। वेद के 'मेधा' और 'सरस्वती' सम्बन्धी सूक्तों में—जहां बुद्धि और ज्ञान की ही प्रार्थना परमेश्वर से की गई है—यह बात कोई भी देख सकता है। गायत्री-मन्त्र में, जिसका वैदिक धर्मियों में इतना महत्त्व है, बुद्धि की ही प्रार्थना की गई है। हमें बाजार से दो आने की चीज खरीदनी होती है, इस के लिए हम बाजार-भर

का चक्कर काट डालते हैं, पचासों दुकानों पर जाकर अपनी अभीष्ट चीज की जांच करते हैं, अन्त में जिस दुकान की चीज ठोक-बजा कर देखने पर खरी मालूम होती है वहां से उसे हम लेते हैं। अपनी छोटी-छोटी चीजें खरीदते समय हमारे लिये अपनी बुद्धि का प्रयोग आवश्यक समझा जाता है। जो व्यक्ति इन अवसरों पर अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करता उसे हम बेवकूफ और मूर्ख आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं। जब छोटी-छोटी बातों में खरी और खोटी का भेद करने के लिये अपनी बुद्धि का प्रयोग हमारे लिये आवश्यक है तो धर्म जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु की परीक्षा के लिये, जिस का हमारे जीवन के प्रत्येक हिस्से से, इस लोक और परलोक दोनों से, घनिष्ठ सम्बन्ध है, अपनी बुद्धि का प्रयोग करना हमारे लिये कितना जरूरी है यह आसानी से समझ में आ सकता है।

वैदिक धर्म का सत्य पर आग्रह

अनेक बार, यदि हम सदसत्--खरे-खोटे--का विवेक करने के लिये अपनी बुद्धि का प्रयोग न करें तो, ऐसा होता है कि कोई चीज या विचार उनके आपात-रमणीय बाह्यस्वरूप की वजह से सही और सत्य समझ लिये जाते हैं। पर आगे चलकर अनुभव हमें बताता है कि यह सत्य नहीं घोर असत्य था, हमने इसके बाहरी चमकीले रूप को ही सत्य समझ लिया था। ईशोपनिषद् का यह वाक्य कि "अनेक बार सत्य चमकीला सुवर्ण-सा दिखाई देने वाले ढकने से ढका होता है,[१]" ऐसी अवस्थाओं का ही वर्णन करता है। ऐसी अवस्थाओं का शिकार हमें न होना पड़े इस के लिये उपनिषद् के इसी मन्त्र के उत्तरार्द्ध की आज्ञा मानकर "हमें उस सुवर्ण-सा दिखाई देने वाले ढकने को उतार कर सत्य की तह तक पहुंचना चाहिये[२]।" वेद में सत्य की, सत्य क्या है यह जानकर उसके अनुसार आचरण करने की, महिमा बहुत अधिक गायी गयी है। अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त[३] (अथर्व. १२.१) में राष्ट्रों की उन्नति किन नियमों पर चलने से हो सकती है इस विषय का वर्णन है। उस सूक्त के पहले मन्त्र में सारे सूक्त की शिक्षाओं का निचोड़ भर दिया गया है। उस मन्त्र में राष्ट्रों की उन्नति के लिए परमावश्यक

१. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। ईशोपनिषद् १५।
२. तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। ईशोपनिषद् १५।
३. अथर्ववेद के पृथिवी-सूक्त की विस्तृत व्याख्या हमारे ग्रन्थ 'वेद का राष्ट्रिय गीत' में देखिये।

जिन ७ बातों पर बल दिया गया है उन में सब से पहला स्थान 'सत्य'[1] का है। उसी सूक्त में आगे चलकर कहा है—"पृथिवी या राष्ट्र का सुख-कल्याण सब सत्य पर ही निर्भर करता है[2]।" ऋग्वेद में कहा है, "यह पृथिवी सत्य के आश्रय से ही ठहरी हुई है[3]।" इतना ही नहीं, ऋग्वेद (१०.१९०.१-३) के अघमर्षण मन्त्रों, में जहां प्रभु की महिमा से विश्व-ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का वर्णन है, सब से पहले 'ऋत' और 'सत्य' की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। आचार-शास्त्र (Ethics) के क्षेत्र में 'ऋत' कहते हैं वस्तु के यथार्थ ज्ञान को और 'सत्य' कहते हैं अपने ज्ञान के यथार्थ प्रकाशन को और तदनुकूल आचरण को। अथर्व. १०.७.३७ में आलंकारिक रूप में वर्णन किया गया है कि "हे मनुष्य ! देख यह वायु और ये जल की धारायें दिन-रात बिना विश्राम लिये सत्य की तलाश में विचर रही हैं, तेरा भी कर्तव्य है कि तू भी इन की तरह सत्य के अन्वेषण में सदा लगा रहे[4]।" यही नहीं, स्वयं भगवान् के यश का गान भी वेद उन्हें 'सत्यधर्मा[5]' कह कर करता है। इन उद्धरणों से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि वेद की दृष्टि में सत्य का कितना ऊंचा स्थान है। सत्य का इतना महत्त्व होने के कारण ही वेद ने अन्यत्र स्पष्ट शब्दों में सत्य की रक्षा और असत्य का विनाश करने का आदेश किया है। ऋग्वेद ७.१०४.१२ मन्त्र में कहा है—"विवेकशील पुरुष के सामने सत्य और असत्य वचन दोनों आते रहते हैं, उन में से जो सत्य होता है उस की वह रक्षा करता है और असत्य का विनाश कर देता[6]।" इसी भांति ऋग्वेद ७.६६.१३ में कहा है कि "हे मनुष्य ! तुम सत्य को बढ़ाने वाले और, असत्य से घोर द्वेष करने वाले बनो[7]।" सत्य की महिमा के सम्बन्ध में वेद से और भी अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं। पर वेद की दृष्टि में सत्य का कितना महत्त्व है इसे दिखाने के लिए इतने ही प्रमाण बहुत हैं।

---

१. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। अथर्व. १२.१.१।

२. सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः। अथर्व. १२.१..८।

३. सत्येनोत्तभिता भूमिः। ऋगु. १०.८५.१।

४. कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन।। अथर्व. १०.७.३७।

५. कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम्।। ऋगु. १.१२.७।

६. सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्।। ऋगु. ७.१०४.१२।

७. ऋतावृधः...घोरासो अनृतद्विषः। ऋगु. ७.६६.१३।

ऋषि दयानन्द का सत्य पर आग्रह

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द ने वेद में सत्य की इतनी अधिक महिमा देखकर ही आर्यसमाज के १० नियमों में से एक नियम ही यह बनाया है कि "सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।" इसीलिये उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश', जिस में उन्होंने वैदिक धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन और अनेक आर्य और आर्येतर धर्मों की आलोचना की है, की भूमिका में लिखा है--"जो सत्य है उस को सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उस को वैसा ही कहना लिखना और मानना सत्य कहाता है।'

सत्य का ज्ञान और प्रकाश मनुष्य का महत्त्वपूर्ण अधिकार है

इस प्रकार आर्यसमाज के धर्म में सत्य का ज्ञान और सत्य का प्रकाश और तदनुकूल आचरण एक बहुत ही आवश्यक अंग है और मनुष्य का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अधिकार है। हमारी दृष्टि में मनुष्य के ऊपर इस से बढ़ कर और कोई अत्याचार नहीं हो सकता कि उस के हाथ से यह सत्य के ज्ञान और सत्य के प्रकाश का अधिकार छीन लिया जाये। इस अधिकार के छीन लेने का अर्थ मनुष्य को अन्धकार और गिरावट के महासमुद्र में धकेल देना है।

सत्य का परिज्ञान समालोचना से ही होता है

अब सत्य क्या है यह तो बिना समालोचना के जाना नहीं जा सकता। विज्ञान के सभी क्षेत्रों में सत्य को जानने का एक ही उपाय स्वीकार किया गया है, और वह है समालोचना या क्रिटिसिज़्म (Criticism) आप को रसायन-शास्त्र (Chemistry), भौतिक-विज्ञान (physics), भूगर्भ-विद्या (Geology), जीवन-शास्त्र (Biology), आयुर्वेद (Medical Science), मनोविज्ञान (Psychology) और दर्शन-शास्त्र (Philosophy) आदि विज्ञान के क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न दावों में से कौन-सा दावा सत्य है यह जानना होता है, आप झट कह उठते हैं, आलोचना (Criticism) करने दीजिये, आलोचना के पीछे जो सत्य प्रमाणित होगा उसे स्वीकार किया जायेगा। राजनीतिक क्षेत्र में आप व्याख्यान-वेदि और समाचार-पत्रों की बे-रोक-टोक स्वतन्त्रता का, सरकार के कार्यों की खुली समालोचना कर सकने का, अधिकार प्राप्त करने के लिये बड़ी-से-बड़ी कुर्बानियें करने

को तैयार रहते हैं। इन सभी क्षेत्रों में समालोचना के अधिकार को छीन लीजिये और फिर आप देखेंगे कि क्या विज्ञान और क्या राजनीति सब कहीं कैसी धांधली मच जाती है।

धर्म का सच्चा स्वरूप भी समालोचना से ही जाना जायेगा

जब अन्य सब क्षेत्रों में समालोचना या क्रिटिसिज़्म आवश्यक और कल्याणकारी समझी जाती है तो उसे धर्म के ही क्षेत्र में क्यों न उपयोग में लाने दिया जाये ? आप अपने धर्म का प्रचार करते हुए मेरे सामने आते हैं और मुझ से कहते हैं कि मैं आप के धर्म को स्वीकार कर लूं, तो मैं समालोचना कर के क्यों न देखूं कि आया आप का धर्म मेरे लिये स्वीकार करने योग्य भी है कि नहीं ? आप अपने धर्म के पैगम्बरों का नाम ले कर मुझ से कहते हैं कि इन में विश्वास लाओ और मान्यबुद्धि रखो, क्योंकि आप के धर्म को मान कर कोई व्यक्ति कितना ऊंचा हो सकता है इस के ये उदाहरण-रूप हैं, तो मैं क्यों न उन के जीवनों की समालोचना कर के देखूं कि आया उन में कोई इतनी ऊंची बातें हैं भी कि नहीं जिन से मैं उन्हें अपना मान्य समझ सकूं ? मैं तो किसी धर्म को अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्धि की कसौटी पर कस कर ही धर्म स्वीकार करता हूं। तो फिर मैं आप के धर्म के प्रत्येक सिद्धान्त को ले कर इस कसौटी पर परख कर क्यों न देखूं ? मैं क्यों न देख सकूं कि आप के धर्म का कौन-सा सिद्धान्त जीवन के किस पहलू में लाभ पहुंचाता है और कौन-सा सिद्धान्त किस पहलू में हानि ? आश्चर्य की बात है कि धर्म के क्षेत्र में इसी समालोचना के अधिकार को स्वीकार करते हुए धर्मो वाले लोग कतराते हैं। कच्ची और छोटी आयु में बालक-बालिकाओं की शादी होनी चाहिये, स्त्रियों को परदे और बुर्के में रखना चाहिये और उन्हें किसी प्रकार की शिक्षा न मिलनी चाहिये, वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्मानुसार न हो कर जन्म से होनी चाहिये, ब्राह्मण के घर जन्म लेने वाला चाहे महामूर्ख और महा अनाचारी हो उसे ब्राह्मण का ही सत्कार और मान मिलना चाहिये और शूद्र के घर पैदा होने वाला चाहे कितना ही योग्य और आचार-सम्पन्न क्यों न हो जाये उसे कोई सत्कार और प्रतिष्ठा नहीं मिलनी चाहिये, इस प्रकार के सिद्धान्त मेरे सामने रखे जाते हैं और कहा जाता है कि ये धर्म-सिद्धान्त हैं, इन्हें मानो। मैं कहता हूं, अभ्युदय और निःश्रेयस की कसौटी पर परखने से ये धर्म सिद्ध नहीं होते। निःश्रेयस तो दूर रहा, ये तो अभ्युदय को ही न सिर्फ देते ही नहीं प्रत्युत उस में भारी रुकावट डालते हैं। इन के अनुसार आचरण होने से तो व्यक्ति और समाज का भारी नुकसान हो रहा है। मैं इन्हें धर्म नहीं मान सकता। ये अधर्म हैं मैं इन्हें न सिर्फ स्वयं ही स्वीकार नहीं करूंगा, प्रत्युत दूसरे लोगों को भी समझाऊंगा

कि वे इन्हें स्वीकार न करें। क्योंकि सत्य का यथार्थ प्रकाश करना मेरा कर्त्तव्य है। मेरे इस कथन का यह अर्थ लिया जाता है कि मैं असहिष्णु हूं, तंगदिल हूं, दूसरे धर्मों का अपमान करता हूं जिस बात की दूसरे क्षेत्रों में प्रशंसा की जाती है उसे धर्म के क्षेत्र में आ कर सहा नहीं जाता। क्या धर्म के क्षेत्र में समालोचना द्वारा सत्यासत्य में विवेक करने के मनुष्य के अधिकार को कुचल डालने से वहां भी धांधली मचनी शुरू न हो जायेगी ? और क्या समालोचना को आज्ञा न होने से धार्मिक क्षेत्र में अनेक अंशों में धांधली मच नहीं रही है ? आर्यसमाज धर्म के क्षेत्र में भी समालोचना के लिये फाटक खोलना चाहता है। इस के लिये आर्यसमाज को जितनी प्रशंसा मिलती उतनी थोड़ी होती। पर स्थिति की विचित्रता को देखिये, लोग उलटा आर्यसमाज को इस के लिये कोसते और भला-बुरा कहते हैं। वस्तु की यथार्थता को न समझने वाले लोग कुछ कहते रहें। आर्यसमाज धर्म के क्षेत्र में भी समालोचना के प्रवेश के लिये अन्त तक लड़ता रहेगा। क्योंकि वह इसे मनुष्य जाति के लिये परम कल्याणकारी वस्तु समझता है और इस लिये इस के लिये लड़ना अपना धर्म समझता है।

वैदिकधर्मी तर्क को ऋषि मानते हैं

आर्यसमाज आचार्य यास्क और भगवान् मनु का अनुयायी है। आचार्य यास्क ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ निरुक्त में तर्क को ऋषि[1] कहा है। जिस प्रकार ऊंची कोटि के पहुंचे हुए आत्मज्ञानी ऋषियों को सत्य का प्रत्यक्ष हो जाया करता है उसी प्रकार तर्क भी सत्य को प्रत्यक्ष करा देने की शक्ति रखता है। इसी लिये आचार्य यास्क ने तर्क को ऋषि की पदवी प्रदान की है। भगवान् मनु ने अपने प्रसिद्ध धर्मशास्त्र मनुस्मृति में लिखा है कि "जो व्यक्ति तर्क के द्वारा खोज करता है वही धर्म को जान सकता है, दूसरा नहीं[2]।" आर्यसमाज अपने इन दोनों आचार्यों के चरण-चिह्नों पर चलता हुआ तर्क-ऋषि की सहायता से धर्म के सच्चे स्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है। यदि हमारा मन राग और द्वेष से रहित हो तथा हमें सचाई को जानने की सच्ची इच्छा हो और हम तर्क करने के नियमों को जान कर उन का सही प्रयोग करें तो निश्चय ही तर्क में यह शक्ति है कि वह हमें सत्य का परिज्ञान करा दे। जब हम धर्म के सत्य स्वरूप को जानने के लिये तर्क का सही प्रयोग करेंगे तो तर्क हमें उस के सच्चे स्वरूप का भी परिज्ञान करा देगा। इसी लिये आर्यसमाज धर्म के क्षेत्र में समालोचना और तर्क के प्रयोग पर इतना

१. निरुक्तः १३.१२।
२. यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः। मनु. १२.१०६।

बल देता है। तर्क और समालोचना की सहायता के बिना किसी धार्मिक मन्तव्य की सत्यता का परिज्ञान हो ही नहीं सकता।

सहिष्णुता और उदार-हृदयता किसे कहते हैं

सहिष्णुता और उदार-हृदयता इसे नहीं कहते कि मेरे चारों ओर चाहे जिस तरह के अनर्थकारी विचार धर्म के नाम पर फैलाये जाते रहें और मैं चुप-चाप बैठा रहूं, उन के रोकने का कोई प्रयत्न न करूं। यह सहिष्णुता और उदारता नहीं, यह कायरता और अधर्म की वृद्धि को आश्रय देना है। मेरा कर्तव्य है कि मैं असत्य और अनर्थकारी विचार की चाहे वह धर्म के नाम पर ही क्यों न फैलाया गया हो, असत्यता और अनर्थकारिता पूरे जोर से लोगों पर प्रकट कर दूं। आगे लोगों की मर्जी है कि वे मेरी शुभ-भावना से प्रेरित सलाह को मानते हैं या नहीं गानते। मैं अपनी सलाह मनवाने के लिये किसी पर बल प्रयोग नहीं करता--किसी को लठ मारने नहीं जाता। सहिष्णुता और उदारता कहते हैं अपनी तीखी-से-तीखी समालोचना भी शान्ति से सुन सकने की शक्ति को, अपने विचारों के विरोधी-से-विरोधी विचार फैलाने वाले लोगों को भी उन के प्रचार-कार्य से रोकने के लिये किसी तरह के बल प्रयोग की ओर न झुकने की आदत को। मैं अपने विचारों की तीव्र-से-तीव्र समालोचना भी धैर्य से सुनूंगा, यदि शक्ति होगी तो उस का युक्ति और तर्क से उत्तर दूंगा, नहीं तो भूल मान लूंगा या चुप हो कर बैठ रहूंगा--इसे कहते हैं सहिष्णुता, इस का नाम है उदारता। इस दृष्टि से आर्यसमाज पक्का सहिष्णु है, पूरा उदार है। और जब दूसरे धर्मो वाले इसे असहिष्णु और संकुचित कहते हैं तो वे स्वयं अपने इन अवगुणों का परिचय दे रहे होते हैं।

वैदिक-धर्मियों की समालोचना का अन्य धर्मों पर प्रभाव

जब से आर्यसमाज ने धर्म के क्षेत्र में सत्यासत्य का निर्णय करने के लिये समालोचना का प्रवेश किया है तब से अब तक के धर्मों के इतिहास को यदि देखें तो हमें पता चलता है कि आर्यसमाज के साथ संघर्ष में आने वाले धर्मों का आर्यसमाज द्वारा उन की समालोचना से भला ही हुआ है। आर्यसमाज के अपना कार्य आरम्भ करने से पहले भारतवर्ष में प्रचलित आर्य और आर्येतर धर्मों के जो मन्तव्य थे, कम-से-कम उन की जो व्याख्यायें थीं, उन में और आज के उन के मन्तव्यों थे, कम-से-कम उन की जो व्याख्यायें थीं, उन में और आज के उन के मन्तव्यों या उन की व्याख्याओं में ज़मीन-आसमान का परिवर्तन हो गया है। उन मन्तव्यों की आज जो बुद्धि-संगत (Rational) व्याख्यायें की जाती हैं आज से ८०-६० साल[1] पहले वे नहीं मिलती थीं।

---

१. ऋषि दयानन्द ने गुरु विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त कर के सम्वत् १६२० के आरम्भ में कार्य-क्षेत्र में पदार्पण किया था।

यह सारा श्रेय आर्यसमाज द्वारा की गई इस समालोचना को ही है।

समालोचना समालोच्य और समालोचक दोनों का लाभ करती है

यही नहीं, समालोचना जहां समालोच्य को लाभ पहुंचाती है वहां समालोचक को भी उस से भारी लाभ पहुंचता है। जब मैं दूसरों के बुद्धि-विरुद्ध विचारों की आलोचना करता हूं तब मुझे अपनी भी पड़ताल करनी पड़ती है कि कहीं मैं स्वयं भी तो किसी बुद्धि-विरुद्ध विचार का प्रचार नहीं कर रहा। इस प्रकार समालोचना सब का ही भला करती है।

समालोचना बुरे अभिप्राय से नहीं होनी चाहिये

हां, एक बात सही है। वह यह कि यह समालोचना किसी बुरे अभिप्राय से नहीं होनी चाहिये। सत्यासत्य के निर्णय और लोगों की कल्याण की भावना से ही यह समालोचना होनी चाहिये। आर्यसमाज इस बात को स्वीकार करता है।

विभिन्न धर्मों की समालोचना में ऋषि दयानन्द का उद्देश्य

धर्मों के महान् समालोचक, आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश की भूमिका में अपनी विभिन्न धर्मों की समालोचना के सम्बन्ध में लिखा है—

"जो मनुष्य पक्षपाती होता है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मतवाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है, इसीलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इस लिये विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश व लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्या-सत्य का स्वरूप समर्पित कर दें, पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग कर के सदा आनन्द में रहें। मनुष्य का आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है। तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्या आदि दोषों से सत्य को छोड़ कर असत्य में घुस जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रखी है। और न किसी का मन दुखाना व किसी की हानि पर तात्पर्य है। किन्तु जिस में मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जान कर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें। क्योंकि सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य-जाति की उन्नति का कारण नहीं है।" फिर उसी ग्रन्थ के ११ वें समुल्लास की अनुभूमिका में लिखा है—

"मेरा तात्पर्य किसी की हानि व विरोध करने में नहीं, किन्तु सत्यासत्य का निर्णय

करने-कराने का है। इसी प्रकार सब मनुष्यों को न्याय दृष्टि से वर्त्तना उचित है। मनुष्य-जन्म का होना सत्यासत्य का निर्णय करने-कराने के लिये है न कि वाद-विवाद, विरोध करने कराने के लिये।" फिर १२ वें समुल्लास की अनुभूमिका में लिखते हैं—"इस लिये सत्य के जय और असत्य के क्षय के अर्थ मित्रता से वाद वा लेख करना हमारी मनुष्य-जाति का मुख्य काम है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यों की उन्नति कभी न हो।" पुनः १३वें समुल्लास की अनुभूमिका में कहते हैं—"यह लेख केवल सत्य की वृद्धि और असत्य के ह्रास होने के लिये है न कि किसी को दुःख देने व हानि करने अथवा मिथ्या दोष लगाने के अर्थ।" "जो कि पक्षपात-रूप यानारूढ़ हो के देखते हैं उन को न अपने न पराये गुण-दोष विदित हो सकते हैं।" फिर अन्त में १४वें समुल्लास की अनुभूमिका में लिखते हैं—"न किसी अन्य मत पर न इस मत पर झूठ-मूठ बुराई व भलाई लगाने का प्रयोजन है, किन्तु जो भलाई है वही भलाई और जो बुराई है वही बुराई सब को विदित होवे, न कोई किसी पर झूठ चला सके और न सत्य को रोक सके। और सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिस की इच्छा हो वह न माने वा माने, किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता। और यही सज्जनों की रीति है कि अपने वा पराये दोषों को दोष और गुणों को गुण जान कर गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग करें और हठियों का हठ दुराग्रह न्यून करें-करावें। क्योंकि पक्षपात से क्या-क्या अनर्थ जगत् में न हुए और न होते हैं ? सच तो यह है कि इस अनिश्चित क्षण-भंगुर जीवन में पराई हानि कर के लाभ से स्वयं रिक्त रहना और अन्य को रखना मनुष्यपन से बहिः है। इस में जो कुछ विरुद्ध लिखा गया हो उस को सज्जन लोग विदित कर देंगे तत्पश्चात् जो उचित होगा तो माना जायेगा। क्योंकि यह लेख हठ, दुराग्रह, ईर्ष्या, द्वेष, वाद-विवाद और विरोध घटाने के लिये किया गया है न कि इन को बढ़ाने के अर्थ। क्योंकि एक-दूसरे की हानि करने से पृथक् रह कर परस्पर को लाभ पहुंचाना हमारा मुख्य कर्म है।" सत्यार्थप्रकाश की भूमिका ही में एक और स्थान पर लिखा है—"इस लिये जैसे मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाइबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देख कर उन में से गुणों का ग्रहण और दोषों का त्याग तथा अन्य मनुष्यजाति की उन्नति के लिये प्रयत्न करता हूं, वैसा सब को करना उचित है।"

धर्म-तत्त्व की समालोचना मनुष्य का मौलिक अधिकार है

उन उद्धरणों को पढ़ देने के पश्चात्, यह दिखाने के लिये कि ऋषि दयानन्द और उन का अनुयायी आर्यसमाज अन्य धर्मों की समालोचना करते हुए अपने सामने किस लक्ष्य को

रखते हैं, कुछ और लिखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। हम अन्य धर्मों की समालोचना किसी बुरे अभिप्राय से नहीं करते, किसी को चिढ़ाने और झूठे दोषारोप के ख्याल से नहीं करते। प्रस्तुत सत्यासत्य का निर्णय कर के वास्तविक धर्म को प्रकाशित करने के विचार से करते हैं। ऐसा करने से ही धर्म अपने विशुद्ध रूप में रह सकता है और मनुष्य जाति के लिये कल्याणकारी हो सकता है। इस लिये अन्य धर्मावलम्बियों को आर्यसमाज द्वारा धर्म के क्षेत्र में समालोचना के प्रवेश को बुरा नहीं समझना चाहिये। धर्म-तत्त्व की यह समालोचना मनुष्य-मात्र का जन्मसिद्ध अधिकार है। और मनुष्य के इस मौलिक अधिकार को सब को स्वीकार करना चाहिये।

३.

वैदिक-धर्मी आज के प्रचलित धर्मों को सर्वांश में सत्य नहीं मानते

अगली बात जो इस प्रसंग में हम कहना चाहते हैं वह यह है कि वैदिक धर्मावलम्बी आर्यसमाज अन्य धर्मावलम्बियों के धर्मों को जैसे वे वर्तमान में उपलब्ध होते हैं, सर्वांश में सत्य नहीं समझता। अनेक लोगों की, जो कभी इस विषय पर गम्भीर विचार नहीं करते, यह धारणा है कि सभी धर्म सत्य हैं। किसी धर्म को स्वीकार कर लीजिए आप का प्रयोजन पूरा हो जायेगा। 'धर्म' कहे जाने वाले किन्हीं विश्वासों को मान लीजिये आप ईश्वर तक पहुंच जायेंगे—जो कि किसी धर्म को स्वीकार करने का एकमात्र मुख्य फल है।

एक हेत्वाभास

आर्यसमाज का ऐसा विचार नहीं है। ऐसा विचार रखने वाले लोग प्रायः एक हेत्वाभाव उपस्थित किया करते हैं। वे कहते हैं कि आप को दिल्ली जाना है। आप लाहौर से अर्थात् पश्चिम की ओर से चल कर भी दिल्ली पहुंच सकते हैं और कलकत्ते से अर्थात् पूर्व की ओर से चल कर भी दिल्ली जा सकते हैं। यही हाल धर्मों का है। कोई रास्ता पकड़ लीजिये आप ईश्वर तक पहुंच जायेंगे। यह उदाहरण उपस्थित करने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि इस में दिल्ली एक निश्चित और सीमित प्रदेश में ठहरा हुआ है, आप को वहां तक पहुंचने के लिये एक प्रदेश को छोड़ कर दूसरे प्रदेश में जाना पड़ता है। परन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। वह सर्वव्यापक है। उस तक पहुंचने के लिये आप को एक प्रदेश छोड़ कर दूसरे प्रदेश में नहीं जाना पड़ता। उसे तो अपने आत्मा पर पड़े हुए अविद्यादि दोषों के आवरण को हटा कर अपने आत्मा में ही देख लेना होता है। आत्मा पर पड़े हुए राग, द्वेष, काम, क्रोध,

असत्य और अविद्यादि दोषों के आवरण को हटाने के दो भिन्न-भिन्न और विरोधी उपाय नहीं हो सकते। अपनी किसी पुस्तक में श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज ने एक दृष्टान्त दिया है। उस से हमारा अभिप्राय बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा। आप दर्पण में मुंह देखना चाहते हैं। इस के लिये आवश्यक है कि (१) देखने वाले की आंखें ठीक हों, (२) दर्पण स्वच्छ हो, (३) प्रकाश हो, (४) दर्पण आंखों के आगे एक विशेष दूरी पर रखा हो, (५) आंख और दर्पण के बीच में कोई व्यवधान न हो और (६) दर्पण हिल-जुल न रहा हो। इन छः बातों का होना दर्पण में मुंह देखने के लिये आवश्यक है। किसी एक बात के भी न रहने पर मुंह नहीं देखा जा सकता। चाहे राजा हो चाहे रंक, चाहे भारतवासी हो चाहे योरोपीयन, सब के लिये दर्पण में मुंह देखने का यही नियम है। इस में किसी के लिये भी परिवर्तन या रियायत नहीं हो सकती।

प्रभु-दर्शन के साधन सर्वत्र एक समान होने चाहिये

परमात्मा का साक्षात्कार करने के भी यदि कोई उपाय हैं तो वे सर्वत्र और सब के लिये एक से ही होंगे। उन में किसी के लिये भेद या रियायत नहीं हो सकती। वे उपाय क्या हैं इस की बहस करना हमारा आज का विषय नहीं है। हमारे वैदिक धर्म में आत्मदर्शन और ईश्वर-साक्षात्कार के लिये जो उपाय बताये गये हैं उन का संक्षेप में नाम है—(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि। हमारा विश्वास है कि वैदिक धर्म का यह अष्टांग योग ही ईश्वर-साक्षात्कार का तर्कानुमोदित और बुद्धि-संगत उपाय है। उपाय कुछ भी हों पर वे होंगे सर्वत्र और सब के लिये एक ही। उन में भेद नहीं हो सकता। यह नहीं हो सकता कि एक धर्म में ईश्वर-साक्षात्कार के साधन, अहिंसा, तप और ब्रह्मचर्यादि माने गये हैं इस लिये ये भी सही साधन हैं, और चूंकि दूसरे धर्म में हिंसा, विलासिता और व्यभिचारादि उस के साधन माने गये हैं—जैसा कि कई धर्मों[1] में देखा जाता है—तो ये भी सही हैं। या तो पहले ही साधन ठीक हैं या दूसरे ही। दोनों ठीक हरगिज़ नहीं हो सकते।

---

१. उदाहरण के लिये इस्लाम में गौ, बकरे और दुम्बे की बलि (कुर्बानी) रूप हिंसा को परमात्मा को प्रसन्न करने का साधन बताया गया है। हिन्दुओं के कई सम्प्रदायों में भी पशुओं की बलि को देवी को प्रसन्न करने का साधन माना जाता है। वाममार्गियों में विलासिता और व्यभिचार को भी सिद्धि का मार्ग समझा जाता है।

सही धर्म सब के लिये एक ही हो सकता है

हमने ऊपर देखा है कि आर्यसमाज की दृष्टि में धर्म वही है जो कि अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि कराये। अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि कराने वाले नियम सर्वत्र और सब के लिये एक ही हो सकते हैं। भिन्न-भिन्न और विरोधी नहीं। इस लिये वास्तव में धर्म सर्वत्र और सब के लिये एक ही हो सकता है, भिन्न-भिन्न और विरोधी नहीं। इस लिये वास्तव में धर्म सर्वत्र और सब के लिये एक ही हो सकता है, भिन्न-भिन्न और विरोधी नहीं। आर्यसमाज वेद के धर्म को ऐसा धर्म समझता है। क्योंकि उस के नियम अभ्युदय और निःश्रेयस की कसौटी पर पूरे उतरते हैं—प्रत्युत यह कसौटी प्राप्त ही वेद से होती है। सृष्टि के उदय-काल में मनुष्य के पास यही वेद का धर्म था। पीछे पैदा होने वाले सभी धर्मों ने सीधे तौर पर या परम्परया, वैदिकधर्म से कम-अधिक उधार लिया है, ऐसा हमारा विश्वास है जो कि इतिहास से पुष्ट किया जा सकता है[1]। इस प्रकार वैदिकधर्म का कुछ-न-कुछ अंश सभी धर्मों में चलता चला आया है। इन धर्मों में, किसी में कम और किसी में अधिक, ऐसे नियम पाये जाते हैं जो कि अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि में सहायक हो सकते हैं। इतने अंश में आर्यसमाज इन विभिन्न धर्मों को सत्य और वैदिकधर्म ही समझता है। स्वयं ऋषि दयानन्द ने इस्लाम की समालोचना करते हुए सत्यार्थप्रकाश में लिखा है—"इस में जो कुछ सत्य है वह वेदादि विद्या-पुस्तकों के अनुकूल होने से जैसे मुझ को ग्राह्य है वैसे अन्य भी मजहब के हठ और पक्षपात रहित विद्वानों और बुद्धिमानों को ग्राह्य है।" परन्तु इन धर्मों में कितनी ही ऐसी बातें भी हैं जो कि अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि में बाधक होती हैं। इतने अंश में आर्यसमाज इन धर्मों को असत्य समझता है और उन का खण्डन भी करता है।

धर्मों के सत्यांश के साथ उन का असत्यांश भी परखना होगा

कोई पूछ सकता है कि सब धर्मों में जो सत्य आप को प्रतीत होता है उसी पर आप बल क्यों नहीं देते, जो असत्य दीखता है उस पर ध्यान क्यों देते हैं और इस प्रकार विभिन्न धर्मावलम्बियों में लड़ाई-झगड़े के बीज क्यों बोते हैं ? इस प्रश्न में एक भूल है। किसी धर्म में क्या सत्य है जब यह जानने आप बैठेंगे तब उस में क्या सत्य नहीं है यह जानना आवश्यक हो जायेगा—सत्य पर अंगुलि रखने के लिये आप को उसे असत्य से अलग करना ही पड़ेगा,

---

१. श्री गंगाप्रसाद एम.ए. (भूतपूर्व जज) का Fountain Head of Religion (धर्म का आदि स्रोत) नामक ग्रन्थ इस विषय का बड़ा उपयोगी और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ है।

और थोड़ी देर के लिये असत्य को भी ध्यान में लाना ही पड़ेगा। नहीं तो सत्य तक आप नहीं पहुंच सकेंगे। दूसरी बात यह है कि यदि आप असत्य की ओर निर्देश न करें और खाली सत्यांश की ही प्रशंसा करते रहें तो इस का एक यह परिणाम होगा कि उस धर्म वाले अपने धर्म की प्रशंसा ही प्रशंसा सुनते रहने के कारण अपने धर्म के सभी अंगों को सत्य और सही समझने लग जायेंगे। उन्हें यह भान ही न होगा कि हमारे यहां कुछ असत्य बातें भी हैं। और इस प्रकार उन के आचरण में कई ऐसी बातें भी आ जायेंगी जो मनुष्य-जाति के कल्याण के लिये हानिकारक होंगी। उन के और मनुष्य-जाति के भले के लिये आवश्यक है कि उन के धर्म में पाई जाने वाली असत्य बातों की ओर उन का ध्यान खींचा जाये।

समालोचना सार्वभौम धर्म की ओर ले जाती है

इसका परिणाम लड़ाई-झगड़े नहीं होगा। प्रत्युत सब धर्मों में से अभ्युदय और निःश्रेयस-सिद्धि में साधनभूत सिद्धान्तों को जब अलग कर लिया जायेगा और इन में बाधक बातों को असत्य समझ कर छोड़ दिया जायेगा तो सब के मानने के लिये एक ही धर्म रह जायेगा[1] जो कि सार्वभौम होगा। तब कोई धर्म के नाम पर आपस में न लड़ेगा। उस समय सारी मनुष्य-जाति एक हो जायेगी। मनुष्य-जाति की इसी एकता को दृष्टि में रख कर ऋषि दयानन्द ने धर्मों में समालोचना की प्रथा चलाई थी। उन का यही अभिप्राय था यह सत्यार्थप्रकाश में स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है। हम स्थान की कमी से यहां उद्धरण नहीं देते। आज-कल लोग अपने धर्मों की आलोचना से इस लिये नाराज होते हैं कि उन्हें समालोचना की असली कीमत का ज्ञान नहीं। जब उन्हें यह ज्ञान हो जायेगा तब वे इस से नाराज न हुआ करेंगे। इस लिये आवश्यकता इस बात की है कि आर्यसमाज के साथ मिल कर लोगों में सद्भावनापूर्वक की गई समालोचना के महत्त्व को समझाया जाये न कि इस के लिये उलटा आर्यसमाज को बुरा-भला कहा जाये।

४.
वैदिकधर्म धर्मप्रचार में बल-प्रयोग का समर्थक नहीं है

इस सम्बन्ध में तीसरी बात जो स्मरण रखने योग्य है वह यह है कि आर्यसमाज यद्यपि अन्य धर्मावलम्बियों के धर्मों में सब सत्य ही सत्य नहीं देखता, और उन की समालोचना भी

१. इस सम्बन्ध में सत्यार्थप्रकाश के ११ वें समुल्लास का वह प्रकरण देखने योग्य है जहां ऋषि दयानन्द ने सब धर्मों में पाई जाने वाली समानता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं।

करता है, तथापि उस की यह मनोवृत्ति नहीं है कि वह अपने सिवाय किसी अन्य को जीने ही नहीं देना चाहता। और न ही वह अपने विचारों के प्रचार के लिये अन्य धर्मावलम्बियों पर किसी प्रकार का अनुचित दबाव ही डालने का पक्षपाती है। आर्यसमाज का सर्वमान्य धर्मग्रन्थ वेद, जो कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य मात्र के कल्याण के लिये दिया गया था, आदेश करता है—

सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।। अथर्व. ३.३०.१।
येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।। अथर्व. ३.३०.४।

अर्थात्, "तुम्हारा हृदय एक हो, मन एक हो, तुम आपस में लड़ो मत, एक-दूसरे को प्यार से चाहो, जैसे गौ अपने नये पैदा हुए बछड़े को प्यार से चाहती है।" "जिस ढंग से जीवन-यात्रा चलाते हुए देवलोग परस्पर विरुद्ध आचरण नहीं करते और आपस में लड़ते नहीं वही वेद के ज्ञान का ढंग मैं तुम्हारे घर में भी देता हूं।" एक अन्य स्थान पर वेद का भक्त अपने भगवान् से प्रार्थना करता है—

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्,
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

यजुः ३६.१८।

अर्थात्, "हे भगवान् ! मुझे समर्थ बनाइये, सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, और मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं, हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखें।" वेद की इस आज्ञा के अनुसार प्रत्येक आर्यसमाजी और आर्यसमाज संसार के सब प्राणियों और विशेषकर मनुष्यों को अपना मित्र समझता है। अगर वह किसी मनुष्य के किन्हीं धार्मिक या दूसरे विचारों की आलोचना भी करता है तो भी वह अपने को उन का मित्र समझते हुए मित्र की दृष्टि से, उस के कल्याण की भावना अपने हृदय में रख कर, करता है। मित्र को अधिकार होता है कि वह अपने मित्र की अवसर पड़ने पर कड़ी-से-कड़ी आलोचना कर सके। जो मित्र इस अधिकार को नहीं बरतता है वह वास्तव में मित्र ही नहीं है। आर्यसमाज मित्र की दृष्टि से जो उचित समझता है उसे अन्य धर्मावलम्बियों को सुना देता है। उस की सलाह को मानना न मानना उन के अपने अधिकार में है। इस के लिये उन पर किसी तरह के बल-प्रयोग या अन्य प्रकार के अनुचित दबाव के लिये आर्यसमाज का धर्म नहीं कहता। आर्य समाज का

धर्म बल-प्रयोग केवल दस्युओं के सम्बन्ध में ही करने की आज्ञा देता है। खाली विचार-भेद की अवस्था में बल-प्रयोग की आज्ञा आर्य-समाज नहीं देता। ऋषि दयानन्द ने स्वयं लिखा है—"सत्यासत्य विषय प्रकाशित किये पर भी जिस की इच्छा हो वह न माने वा माने किसी पर बलात्कार नहीं किया जाता।" आर्यसमाज का धर्म अन्य धर्मावलम्बियों के साथ, विचार-भेद होते हुए भी, किस प्रकार का जीवन बिताने को कहता है यह वेद के **"जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्, सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती,**[1]" (अथर्व. १२.१.४५) इस मन्त्र से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। इस में कहा गया है कि "पृथिवी के ऊपर रहने वाले बहु-भाषी और विभिन्न-धर्मावलम्बी लोगों को आपस में इस प्रकार प्रेम से रहना चाहिये जैसे एक घर में रहने वाले लोग रहते हैं।" एक कुटुम्ब के लोग अनेक बार आपस में लड़-झगड़ भी पड़ते हैं, उनमें मन-मुटाव और विचार-भेद भी हो जाता है। पर इस से वे एक-दूसरे के रक्त के प्यासे नहीं हो जाते। इस सब का परिणाम यह होता है कि अगले दिन उन के प्रेम का प्रकाश और भी अधिक होता है—उन का मिलन और भी गाढ़ा होता है। आर्यसमाज का धर्म इसी रीति का अवलम्बन धर्म-प्रचार के क्षेत्र में भी करने को कहता है।

इसी मनोवृत्ति का परिणाम है कि आर्यसमाज ने अपने इतिहास में धर्मप्रचार के क्षेत्र में कभी किसी अन्य धर्मावलम्बी पर बल का प्रयोग नहीं किया। प्रत्युत अन्य धर्मावलम्बियों, विशेषकर मुसलमानों, द्वारा आर्यसमाजियों पर तो बल-प्रयोग किया गया है जिसके परिणाम-स्वरूप आर्यसमाज को अपने प्रचार-कार्य में पं. लेखराम और स्वामी श्रद्धानन्द जी आदि अनेक शहीदों की आहुतियें देनी पड़ी हैं। धर्मप्रचार में आर्यसमाज ने बलिदान दिये हैं, लिये नहीं।

४.
वैदिक धर्म चरित्र की शुद्धता पर बल देता है कोरे विश्वास पर नहीं

चौथी बात देखने की यह है कि आर्यसमाज का धर्म यह नहीं सिखाता कि अन्य धर्मों का अवलम्बन करने वालों में पवित्र और श्रेष्ठ व्यक्ति नहीं हो सकते। और न ही उस का यह दावा है कि अपने को आर्य कहने वाले सारे ही आदमी बिना अपवाद के पवित्र और श्रेष्ठ होंगे। वेद का धर्म आचार पर बहुत बल देता है। वेद और तदनुकूल शास्त्रों में स्थान-स्थान पर ज्ञान, सत्य, दया, न्याय, श्रद्धा, तप, दीक्षा, दान, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियजय, और मनोवशित्व आदि

१. इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हमारे ग्रन्थ 'वेद का राष्ट्रीय गीत' के पृष्ठ १०६-१०६ पर देखिये।

आचार के अंगों की अत्यधिक प्रशंसा की गई है और आदेश किया गया है कि साधक को चाहिये कि वह इन उत्तम गुणों को अपने अमली जीवन में धारण करे। अथर्ववेद १२.५.१.१-६ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्राह्मण की वाणी में शक्ति और सामर्थ्य श्रम, तप, ब्रह्म, ऋत, सत्य, श्रद्धा, दीक्षा और यज्ञ (देवपूजा, संगतीकरण, दान) इत्यादि गुणों के आधार पर ही आ सकते हैं। अगर आचार के ये अंग उस में न हों तो ब्राह्मण किसी काम का नहीं रहता। आचार के ये और दूसरे अंग किसी व्यक्ति के जीवन में न पाये जाते हों पर वेद उस ने सारा याद कर रखा हो, ऐसे आदमी का भी कुछ बन जायेगा वेद ऐसा नहीं बताता। धर्म का खाली मौखिक ज्ञान कुछ रक्षा कर लेगा ऐसी वेद की स्थिति नहीं है। वेद ने स्वयं अति स्पष्ट शब्दों में कहा है—

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः[1] ।।

ऋग्. १०.७१.६।

अर्थात्—"जो वेद प्रतिपादित विधि से न इस लोक को सिद्ध करते हैं और न परलोक को—न कर्मशील बनते हैं और न ब्रह्मज्ञानी—वे अज्ञानी इस वेद की वाणी को प्राप्त कर के भी पाप-व्यवहार में ही फंसे रहते हैं उन की उन्नति नहीं हो पाती।" इसी प्रकार ऋग्. १०. ७१.४ में उन लोगों को, जो कि वेद का खाली शाब्दिक ज्ञान प्राप्त कर के अपने को कृतकृत्य समझने लगते हैं, लक्ष्य कर के कहा है, **"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्, उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः[2] ।"** अर्थात् "ऐसे लोग वेद को पढ़-सुन कर भी वेदज्ञ नहीं हैं, क्योंकि वेदज्ञान का वास्तविक लाभ आचार-शुद्धि और तज्जन्य फल-प्राप्ति नहीं ले सकते। जिन का आचार वेदानुकूल है उन्हीं को वास्तव में वेद का साक्षात्कार हुआ है।" वेद में एक जगह कहा है कि **"पक्तारं पक्वः पुनराविशाति"** (अथर्व. १२.३.४८) अर्थात् "मनुष्य जैसा पकाता है, जैसा करता है, व पकाने वाले को, करने वाले को, वैसा ही प्राप्त होता है।" भाव यह है कि हम जैसा करते हैं वैसा भरते हैं। अथर्ववेद में ही अन्यत्र कहा है—**"सिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तम्[3]"** (अथर्व. ४.१६.६) अर्थात् "असत्यवादी को, असत्यव्यवहारी

१. इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हमारे ग्रन्थ 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' में पृष्ठ २-३ पर देखिये।
२. इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हमारे ग्रन्थ 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' में पृष्ठ ७ पर देखिये।
३. इस मन्त्र की और जिस सूक्त का यह मन्त्र है उस पूरे सूक्त की विस्तृत व्याख्या हमारे ग्रन्थ 'वरुण की नौका' द्वितीय भाग के पृष्ठ १०४-१३७ पर देखिये।

को, परमात्मा के पाश बांध लेते हैं।" वेद के इन और ऐसे ही अन्य स्थलों का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि वैदिक धर्म में व्यक्ति के आचरण की शुद्धता देखी जाती है, खाली उस के विचार और विश्वास नहीं देखे जाते।

चरित्र-हीन-वैदिक धर्मी से चरित्रवान् विधर्मी श्रेष्ठ है

वेद का ऐसा सिद्धान्त होने की स्थिति में, यदि वेद के धर्म से भिन्न धर्म का अवलम्बन करने वाला एक व्यक्ति सत्यादि आचार के अंगों का पालन करने वाला है, और दूसरा इन आचार के अंगों का पालन तो नहीं करता पर वेद उसे सारे याद हैं और वेद के धर्म को वह कल्याणकारी भी मानता है, तो वैदिक धर्म को मानने वाला आर्यसमाज उस पहले व्यक्ति को ही अधिक पवित्र और श्रेष्ठ मानेगा। यह ठीक है कि आर्यसमाज वेद के धर्म का प्रचार करता है क्योंकि उस की दृष्टि में वेद के सारे सिद्धान्त अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि कराने वाले हैं। परन्तु यदि एक वेद को मानने वाला उन सिद्धान्तों के अनुसार न चले और किसी अन्य धर्म का अवलम्बी उन सिद्धान्तों पर आचरण कर रहा हो तो निःसन्देह वह अन्य धर्मावलम्बी वेद पर मौखिक विश्वास रखने वाले से अधिक अच्छा है, क्योंकि वह वास्तव में वैदिक-धर्मी है, यद्यपि वह अपने मुख से इस बात को स्वीकार नहीं करता।

आर्यसमाज की अन्य धर्मावलम्बियों के सम्बन्ध में वह स्थिति नहीं है जो कि मौलाना मुहम्मदअली की थी। मौलाना मुहम्मदअली ने एक बार कहा था कि आचार के सत्यादि अंगों का पूर्ण धनी महात्मा गांधी नरक में जायेगा क्योंकि वह मुहम्मद साहब और कुरान पर विश्वास नहीं लाता, और आचार की दृष्टि से एक तुच्छ-से-तुच्छ मुसलमान वेश्या बहिश्त में जायेगी क्योंकि वह मुहम्मद साहब और कुरान पर विश्वास रखती है। इस्लाम में विश्वास रखने की दृष्टि से, मुहम्मद साहब और कुरान पर विश्वास रखने की दृष्टि से, सभी मुसलमानों का इसी प्रकार का विचार है। उन के यहां विश्वास का महत्त्व है, आचरण की शुद्धता का नहीं। यही अवस्था ईसाइयों की है। उन के मत में भी ईसामसीह पर विश्वास लाने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

आर्यसमाज का दृष्टि-बिन्दु इस से सर्वथा भिन्न है। आर्यसमाज की दृष्टि में आचारयुक्त महात्मा गांधी आचारहीन मौखिक वैदिक-धर्मी आर्य-समाजी से सदा ही श्रेष्ठ है। ऐसे महात्मा गांधी का ही इस लोक और परलोक दोनों में कल्याण होगा और वैसे आर्यसमाजी का हरगिज

नहीं। आचारहीन आर्यसमाजी की तुलना में आचार-युक्त मुसलमान और ईसाई भी परमात्मा की दृष्टि में अच्छे हैं और उन्हीं का कल्याण होगा।

६.

वैदिक-धर्म विधर्मियों के साथ भी भलाई करने का उपदेश देता है

पांचवीं और अन्तिम बात जो कि इस प्रसंग में स्मरण रखने योग्य है वह यह है कि वैदिकधर्म अपने अनुयायियों को किसी विशेष समुदाय के लोगों के साथ ही उदारता और उपकार आदि करने की आज्ञा नहीं देता। प्रत्युत मनुष्यमात्र—नहीं, प्राणीमात्र—को अपना समझ कर उस के साथ उपकार करने की आज्ञा देता है। वेद में परमात्मा को सब का पिता और माता कहा गया है। **''त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ, अधा ते सुम्नमीमहे''** (ऋग्. ८.६८.११)—इत्यादि वेद के प्रसंगों में यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है। जब प्रभु हम सब का पिता और माता है तो हम सब स्वभावतः ही आपस में भाई और बहिनें हो जाते हैं। और जैसे हम अपने माता-पिता से उत्पन्न होने वाले भाई-बहिनों के कष्ट-क्लेशों को अपना ही समझ कर उन के निराकरण के लिये भरसक प्रयत्न करते हैं वैसे ही हमें पिताओं के पिता और माताओं की माता परमात्मा के पुत्रों को अपना भाई-बहिन समझते हुए उन के कष्ट-क्लेशों को अपना ही समझ कर उस के निराकरण के लिये भी भरसक प्रयत्न करना चाहिये। हम अपने लिये जिस चीज़ को कल्याणकारी समझते हैं उसे हमें अपने इन भाई-बहिनों को देने के लिये भी हर समय तैयार रहना चाहिये। एक वैदिकधर्मी के लिये उस के प्यारे वैदिक-धर्म से, जो कि अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि का उपाय बताता है, बढ़ कर और कौन-सी चीज अधिक कल्याणकारी हो सकती है ? वेद इस पवित्र वैदिक धर्म के सन्देश को सब मनुष्यों तक ले जाने की आज्ञा स्वयं असंदिग्ध शब्दों में देता है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।। यजुः २६.२।

अर्थात् ''इस कल्याणकारिणी वेद की वाणी का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र, अपने और पराये सब लोगों में प्रचार करो।'' एक वैदिकधर्मी जब अन्य धर्मावलम्बियों के कल्याण के लिये उन के पास जा कर वेद जैसी उत्तम वस्तु उपहार में दे सकता है तो फिर और कोई ऐसी बात नहीं रह जाती जिसे वह पीड़ितों और क्लेशग्रस्तों की पीड़ा और क्लेश को मिटाने के लिये न कर सके—चाहे वे पीड़ित किसी भी धर्म को क्यों न मानते हों।

जैनियों के ग्रन्थ विवेकसार में लिखा है कि अन्य मत वालों से कम बोलना चाहिये, उन्हें पूजा के लिये गन्ध-पुष्पादि दान नहीं देने चाहिये और उन्हें अन्न-वस्त्रादि भी दान नहीं देने चाहिये। इस पर समालोचना करते हुए सत्यार्थप्रकाश के १२ वें समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि "तब तो जैनियों की दया अन्य मत वालों पर न रही, अपने मत वालों पर ही जो कि अपने घर वालों के समान हैं, रही। केवल अपनों-अपनों पर दया करना और दूसरे मत वालों से द्वेष करना ठीक नहीं है।" इसी प्रसंग में ऋषि दयानन्द प्रश्न करते हैं—"क्या मनुष्यादि पर चाहे किसी मत में क्यों न हो दया कर के उस का अन्न-पानादि से सत्कार करना और दूसरे मत के विद्वानों का मान और सेवा करना दया नहीं है ?" ऋषि की इस समालोचना और प्रश्न का यह स्पष्ट तात्पर्य है कि वे अन्य मतस्थ विद्वानों के सेवा-सत्कार को तथा कष्ट में पड़े हुए अन्य मतस्थ लोगों की अन्न-वस्त्रादि द्वारा सहायता करने को धर्म का आवश्यक अंग समझते हैं। इसी लिये ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के दस नियमों में जिन्हें मानना प्रत्येक आर्यसमाजी के लिये आवश्यक है एक नियम ही यह रखा है कि "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है—अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।"

इस उपकार की भावना को सजीव और मूर्त्त रूप देने के लिये वैदिक धर्म में बलिवैश्वदेव-यज्ञ या भूतयज्ञ की सृष्टि हुई है, जो कि प्रतिदिन अवश्यकरणीय पांच यज्ञों में से एक है। इस यज्ञ को करते हुए एक वैदिकधर्मी प्रतिदिन मनुष्यमात्र—नहीं, प्राणिमात्र—का उपकार करने की प्रतिज्ञा करता है और उस का क्रियात्मक परिचय देता है। वह इस यज्ञ को करते हुए समाज के लिये तरह-तरह से उपयोगी मनुष्यों का उपकार करने की तो प्रतिज्ञा करता ही है, इस के साथ ही वह कोढ़ी आदि ऐसे रोगियों की, जो कि आजीविका उपार्जन करने के लिये सर्वथा अयोग्य हो गये हैं, तथा कृमि, कीट, पतंगादि की भी सहायता और उपकार करने की प्रतिज्ञा करता है।

अपने धर्म और आचार्य की आज्ञा मानते हुए आर्यसमाज जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में लोगों के उपकार के कार्य करता रहता है, चाहे वे लोग किसी भी धर्म के अवलम्बी क्यों न हों। आर्यसमाज द्वारा संचालित औषधालय और शिक्षणालय तथा समय-समय पर हो जाने वाले दुर्भिक्ष और जलप्लावनों के अवसरों पर उस द्वारा धनादि से किया जाने वाला लोगों का उपकार इस बात के साक्षी हैं।

हम समझते हैं इन पंक्तियों से वैदिक धर्म को मानने वाले आर्यसमाज का अन्य

धर्मावलम्बियों के सम्बन्ध में जो दृष्टि-बिन्दु है वह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। वह सभी अन्य धर्मावलम्बियों को परमात्मा के पुत्र होने के कारण अपना भाई समझता है। उन का सब तरह का उपकार करने को तैयार रहता है। और यदि कभी उन की समालोचना भी करता है तो वह भी उन के और संसार के भले की भावना से प्रेरित हो कर।

वेद और इलहाम

१.
आर्य लोग वेद को ईश्वरीय-ज्ञान मानते हैं

भारतीय आर्य (हिन्दू) लोग वेद को अपना धर्मग्रन्थ मानते हैं। अति प्राचीन काल से आर्य लोगों की परम्परा वेद को अपना धर्मग्रन्थ मानती चली आ रही है। हम आर्य लोगों की सम्मति में वेद साधारण धर्मग्रन्थ नहीं है। हमारे मत में वेद ईश्वरीय ज्ञान है। परमेश्वर सर्वज्ञ और निर्भ्रान्त हैं। परमेश्वर का दिया हुआ ज्ञान होने के कारण वेद भी निर्भ्रान्त और सत्य ज्ञान का उपदेश करने वाला ग्रन्थ है ऐसा हम आर्य लोग सदा से मानते आये हैं। सृष्टि के शुरू में परमात्मा ने मनुष्य को पैदा कर के जब उसे आंखें दी थीं तो उस की आंखों को सहायता देने के लिये परमात्मा ने चन्द्रमा और सूर्य आदि की रचना कर के उन का प्रकाश भी साथ ही दे दिया था। मनुष्य आंखें खोल कर चले और चन्द्रमा और सूर्य आदि के प्रकाश से सहायता ले, यदि मनुष्य ऐसा करेगा तो वह अपने गन्तव्य स्थानों पर बड़ी सुगमता से पहुंचता रह सकेगा। उसे यह पता लगता रहेगा कि साफ़-सुथरा, सीधा और सरल रास्ता कौन-सा है और कांटे-कंटीले, झाड़ी-झंखाड़, ईंट-पत्थर तथा गढ़े-टीलों से युक्त ऊबड़-खाबड़, टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग कौन-सा है। खुली हुई आंखें चन्द्रमा और सूर्य के प्रकाश की सहायता से यह सब कुछ भली-भांति देख सकेंगी। चन्द्रमा और सूर्य के इस प्रकाश की सहायता से मनुष्य ऊबड़-खाबड़ टेढ़े-मेढ़े और लम्बे गलत रास्ते से बच सकेगा। तथा साफ-सुथरे, सीधे और सरल सही रास्ते को अपना सकेगा और इस प्रकार अपने गन्तव्य स्थान पर, अपने ठिकाने पर, आसानी से पहुंच सकेगा। जिस प्रकार परमेश्वर ने हमारे इन चर्म-चक्षुओं की सहायता के लिये भौतिक चन्द्रमा और सूर्य का प्रकाश प्रदान किया था उसी प्रकार हमारे मन की, हमारी बुद्धि की, आंखों को सहायता देने के लिये परमेश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में वेदरूपी सूर्य के ज्ञान का प्रकाश भी दे दिया था। मनुष्य अपनी बुद्धि और मन की आंखों को खुला रखे, अपनी विचार-शक्ति से काम ले, और वेद का भली-भांति अध्ययन करे तो वेद के स्वाध्याय से प्राप्त होने वाला ज्ञान का प्रकाश मनुष्य को सब प्रकार के कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध करा देगा। धर्म क्या है और अधर्म क्या है, पुण्य क्या है और पाप क्या है, कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है, वेद के स्वाध्याय से मनुष्य को यह सब पता चलता रहेगा। हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं, हमारा जीवन किस प्रकार बीतना चाहिये और किस प्रकार नहीं, वेद के अध्ययन से हमें यह सब मालूम होता रहेगा। हम अधर्म

से बच कर धर्म के मार्ग पर किस तरह चलते रह सकते हैं, पाप से बच कर पुण्य के मार्ग का अवलम्बन किस प्रकार करते रह सकते हैं, विचारपूर्वक किया हुआ वेद का स्वाध्याय हमें यह सब कुछ बताता रहेगा। वेद के ज्ञान के प्रकाश की सहायता से हमारे मन की आंखों को सदा पता लगता रहेगा कि जीवन बिताने का गलत रास्ता कौन सा है और सही रास्ता कौन सा है। हम गलत रास्ता छोड़ते रहेंगे और सही रास्ता अपनाते रहेंगे। इसी प्रयोजन के लिये भगवान् ने सृष्टि के आरंभ में वेद के सूर्य का प्रकाश मनुष्य को प्रदान किया था। हम आर्यो की परम्परा सदा से ऐसा मानती आई है।

वेद में सब प्रकार का मनुष्योपयोगी ज्ञान भरा है

हम आर्य लोगों की धारणा है कि वेद के अन्दर परमात्मा ने मनुष्य के लिये उपयोगी सब प्रकार का ज्ञान दे दिया है। वेद में मनुष्य के वैयक्तिक कर्तव्यों का भी उपदेश है, कौटुम्बिक और सामाजिक कर्तव्यों का भी उपदेश है। वेद में राजनीतिशास्त्र का भी उपदेश है। अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति, परिवार से बाहर के समाज के और राष्ट्र के लोगों के प्रति, पशु-पक्षी और अन्य प्राणियों के प्रति, और परमात्मा के प्रति मनुष्य के क्या कर्त्तव्य हैं इन सब बातों का उपदेश वेद में दिया गया है। मनुष्य के शरीर की रचना के सम्बन्ध में और रोगों के निवारण के सम्बन्ध में भी वेद में यथेष्ट उपदेश हैं। जल, वायु, पृथिवी, अग्नि, आकाश, बिजली, सूर्य और चन्द्रमा आदि विविध प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों के सम्बन्ध में भी वेद में पर्याप्त ज्ञान दिया गया है। आत्मा और परमात्मा के विषय में भी वेद में भरपूर ज्ञान दिया गया है। मनुष्य सब प्रकार का सांसारिक अभ्युदय किस प्रकार प्राप्त कर सकता है और ब्रह्म का साक्षात्कार कर के मोक्षावस्था में ब्रह्मानन्द रस के पान का अधिकारी कैसे बन सकता है, यह सब भी वेद में भली-भांति बताया गया है। इस लोक और परलोक-सम्बन्धी सब प्रकार का ज्ञान वेद में दिया गया है। एक शब्द में सब प्रकार की भौतिक और आध्यात्मिक विद्याओं का उपदेश वेद में दे दिया गया है। इस प्रकार असाधारण ज्ञान से भरा हुआ धर्मग्रन्थ वेद है।

वेद का ज्ञान परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में दिया था

और मनुष्य के लिये उपयोगी यह सब प्रकार का ज्ञान, वेद के रूप में, सृष्टि के आरंभ में ही परमात्मा ने प्रदान कर दिया था। हम आर्यों की ऐसी धारणा है। ब्रह्मा से ले कर ऋषि दयानन्द तक की आर्य ऋषि-मुनियों, आचार्यों, विद्वानों और साधु-महात्माओं की अनन्त परम्परा

ऐसा ही मानती आई है। हमारे ब्रह्मा, मनु, वसिष्ठ, राम, कृष्ण, व्यास, कणाद, गोतम, पतंजलि, जैमिनि, बुद्ध, कुमारिल, शंकराचार्य, वाचस्पतिमिश्र, सायण, मध्व और दयानन्द आदि ऋषि-मुनि और आचार्य लोग वेदों के सम्बन्ध में यही धारणा रखते आये हैं। हमारे ब्राह्मण ग्रन्थ, हमारी उपनिषदें, हमारे दर्शनशास्त्र, हमारे रामायण और महाभारत, हमारी गीता, हमारे पुराण, हमारा आयुर्वेद और अन्य शास्त्र, सभी वेद की महिमा के सम्बन्ध में इसी प्रकार के उद्‌गार प्रकट करते हैं। सारा संस्कृत-साहित्य ही वेद की महिमा के गीतों से भरा पड़ा है। अपने ऋषि-मुनियों और आचार्यों तथा अपने समग्र साहित्य का अनुसरण करती हुई सर्व-साधारण आर्य (हिन्दू) जनता भी अनादि-काल से वेदों के सम्बन्ध में यही धारणा रखती आई है।

इस प्रकार वैदिकधर्मी आर्य लोग वेद को मनुष्य की रचना नहीं मानते, वे उसे ईश्वर का दिया हुआ ज्ञान मानते हैं--इलहाम मानते हैं।

२.
क्या ईश्वरीय-ज्ञान का सिद्धान्त मिथ्या है ?

कुछ लोगों का विचार है कि इलहाम अथवा ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। ये लोग न तो वेद को ही ईश्वरीय-ज्ञान स्वीकार करते हैं और न ही किसी अन्य ग्रन्थ को। इन लोगों का मत है कि न तो ईश्वरीय-ज्ञान के सिद्धान्त को युक्ति और तर्क से सिद्ध ही किया जा सकता है और न ईश्वरीय-ज्ञान की कोई आवश्यकता ही है।

ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त तर्क-संगत है

हमारी सम्मति में इस प्रकार के विचार रखने वाले लोगों की बात सही नहीं है। ईश्वरीय-ज्ञान के सिद्धान्त को तर्क से भी सिद्ध किया जा सकता है और ईश्वरीय-ज्ञान की आवश्यकता भी है। दार्शनिक तर्क ईश्वरीय-ज्ञान की यौक्तिक संभावना को स्वीकार करता है।

सन्तों और योगी-महात्माओं की साक्षी

इस सम्बन्ध में पहिले तो यह बात ध्यान में रखने की है कि धरती के प्रायः सभी देशों में समय-समय पर ऐसे सन्त लोग उत्पन्न होते रहे हैं जिन्होंने ऐसी सच्चाइयों (Truths) का प्रकाश किया है जो कि सब देशों और सब कालों के लिये ठीक हैं और जिन के ऊंची श्रेणी की सच्चाइयें होने में बड़े-से-बड़ा विचारक और तार्किक भी इन्कार नहीं कर सकता। परन्तु इन सन्त की शिक्षा-दीक्षा कुछ भी नहीं थी, या नहीं के बराबर थी। कितने ही ऐसे

सन्त तो कुछ भी पढ़े-लिखे नहीं होते रहे हैं, बिलकुल निरक्षर ही होते रहे हैं। इन सन्तों की बुद्धि का परिमार्जन विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अध्ययन और पुस्तक-ज्ञान के द्वारा कुछ भी नहीं हुआ था। सामान्य-तर्क यही सिद्ध करेगा कि उस प्रकार की मानसिक शिक्षा से शून्य व्यक्तियों से किसी ऊंची श्रेणी के विचार की आशा नहीं की जा सकती। और अनेक बातों में ये सन्त लोग अपनी बुद्धि की विकास-शून्यता और लघुता का भारी परिचय भी देते थे। तब प्रश्न होता है कि सामान्य शिक्षा से शून्य और अल्प मेधा-शक्ति वाले ये सन्त लोग उस प्रकार की ऊंची श्रेणी की सार्वभौम और सार्वकालिक सच्चाइयें (Truths) कैसे प्रकट कर सके ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि इन सन्तों के इस प्रकार के ऊंचे ज्ञान-प्रकाश की तह में 'दैवी-प्रेरणा' (Divine Inspiration) काम कर रही होती है। इन सन्तों का इस प्रकार का ज्ञान ईश्वरीय होता है, ईश्वर द्वारा दिया हुआ होता है। भारतीय योगियों की परम्परा, जिन के सिद्धान्त का दार्शनिक प्रतिपादन योग-दर्शन (The yoga philosophy) में किया गया है, इस सम्बन्ध में एक महान् साक्षी है। इस परम्परा में आप को कितने ही पहुंचे हुए योगियों का पता लगेगा जिन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ था और जिन्हें 'दैवी-प्रेरणा' या ईश्वरीय-ज्ञान मिलता था। इस प्रकार के महात्मा अन्य देशों में भी होते रहे हैं। ऐसे लोग अब भी हो सकते हैं। ऋषि दयानन्द ने लिखा है कि योगी लोग अब भी वेद की सच्चाइयों का समाधि में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य-जाति के इतिहास में बीच-बीच में ऐसे अनेक सन्त और योगी महात्मा उत्पन्न होते रहते हैं जिन्हें दैवी-प्रेरणा या ईश्वरीय-ज्ञान भी मिलता रहता है।

भाषा की उत्पत्ति की साक्षी

ईश्वरीय-ज्ञान के सिद्धान्त के समर्थन में एक और भी प्रबल युक्ति है। जिस का कभी भी खण्डन नहीं किया जा सकता। वह युक्ति है 'भाषा की उत्पत्ति' की। ईश्वरीय-प्रेरणा के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना इस प्रश्न का समाधान नहीं हो सकता कि मनुष्य ने भाषा कैसे सीखी। संसार में 'भाषा' का प्रवेश ही नहीं हो सकता जब तक कि ईश्वर सृष्टि के प्रारम्भिक मनुष्यों को कोई भाषा न सिखाये।

हम भाषा सदा दूसरों से सीखते हैं। मैं जो भाषा बोलता हूं वह मैंने अपने माता-पिता और गुरुओं से सीखी है। मेरे माता-पिता और गुरुओं ने वह भाषा अपने माता-पिता और गुरुओं

से सीखी थी। उन के माता-पिता और गुरुओं ने वह भाषा अपने माता-पिता और गुरुओं से सीखी थी। और उन्होंने अपने माता-पिता और गुरुओं से वह भाषा सीखी थी। इसी प्रकार चलते-चलते हम सृष्टि के शुरू तक पहुंच जायेंगे। सृष्टि के शुरू के मनुष्य ने—सृष्टि के शुरू में चाहे मनुष्य का नर-मादा का एक जोड़ा उत्पन्न हुआ हो और चाहे अनेक—भाषा किस से सीखी ? सृष्टि के आरंभ के मनुष्य का तो कोई मानव माता-पिता और गुरु था नहीं। वह तो सब से पहिला मानव स्वयं था। हमें अगत्या यह मानना पड़ता है कि सृष्टि के आरंभ के मनुष्य को 'भाषा' उसे बनाने वाले परमेश्वर ने ही सिखाई थी।

हम भाषा बिना सिखाये नहीं सीख सकते। हम स्वयं कोई भाषा अपने आप नहीं बना सकते। यदि किसी बालक को ऐसी जगह रख दिया जाये जहां उसे कोई भी मानव-भाषा बोलने वाला मनुष्य न मिल सके—उसे कोई भी भाषा सुनने को न मिले—तो वह बालक अपनी मृत्यु तक भी किसी मानव-भाषा का बोलना न सीख सकेगा। सम्राट् अकबर ने और असीरिया के महाराज असुर बाणीपाल (Asur Banipal) ने इस प्रकार के परीक्षण किये थे[1]। महाराज बाणीपाल ने एक बालक को बारह वर्ष तक एकान्त जंगल में रखा था। बालक से कोई व्यक्ति बात नहीं करता था। उसे चुप-चाप भोजन खिला दिया जाता था। बारह वर्ष के बाद जब बालक को महाराज बाणीपाल के सामने लाया गया तो वह बकरी की भांति 'मैं-मैं' करता था। अनुसंधान करने पर पता चला कि वहां जंगल में एक बकरी रहती थी उसी की आवाज सुनकर बालक 'मैं-मैं' करने लग गया था। वह अपने आप कोई मानव-भाषा बोलना न सीख सका था। सम्राट् अकबर ने जो परीक्षा की थी उस का परिणाम भी यही रहा था। उस परीक्षण का बालक भी कोई मानव-भाषा बोलना न सीख सका था।

अनेक वर्ष हुए बरेली के अनाथालय में एक बालक लाया गया था जो कच्चा मांस खाता था और भेड़िये की तरह चलता था और गुर्राता था। वह कोई मानव-भाषा नहीं बोल सकता था। अनुसंधान करने पर ज्ञात हुआ था कि उस बालक को छोटी अवस्था में भेड़िया उठा कर ले गया था और भेड़िये ने ही उसे पाला था इसी से यह भेड़िये के से आचरण करता था। अनाथालय में रह कर उस बालक ने धीरे-धीरे हिन्दी बोलना सीखा। इसी भांति कई

१. भारतवर्ष का इतिहास, प्रथम भाग, आचार्य रामदेवकृत, पृष्ठ २७।

वर्ष की बात है बंगाल के सुन्दरवन नामक जंगल में शिकारियों ने दो लड़कियें पकड़ी थीं। एक की आयु १३ वर्ष के लगभग थी और दूसरी की ६ वर्ष के लगभग। दोनों लड़कियें हाथ और पैर ज़मीन पर रख कर भेड़िये की तरह चलती थीं, भेड़िये की तरह ही गुर्राती थीं और उसी की तरह ही कच्चा मांस खाती थीं। ये दोनों लड़कियें कोई भी मानव-भाषा नहीं बोल सकती थीं। बचपन में भेड़िया इन लड़कियों को उठा कर ले गया था और उसी ने इन्हें पाला था। इसी से वे भेड़िये का सा आचरण करती थीं। भेड़िये की मांद में से ही इन लड़कियों को पकड़ा गया था। इन लड़कियों को देर तक एक अनाथालय में रखा गया और तब वे धीरे-धीरे बंगला भाषा बोलना सीख सकीं। यह घटना 'टाइम्स आफ़ इण्डिया, इलस्ट्रेटिड वीकली' (Times of India Illustrated Weekly) में छपी थी। अभी हाल की बात है लखनऊ के चिड़ियाघर में 'रामू' नाम का एक बालक जंगल से पकड़ कर लाया गया था। यह बालक भी हाथ-पैर जमीन पर रख कर भेड़िये की तरह चलता था, उसी की तरह कच्चा मांस खाता था और उसी की तरह गुर्राता था। यह बालक भी कोई मानव-भाषा नहीं बोल सकता था। भेड़िये की संगति में रहने के कारण वैसा ही आचरण करता था। मनुष्यों के सम्पर्क में रख कर धीरे-धीरे इस बालक को हिन्दी सिखाई जाने लगी थी। यह घटना अनेक समाचार-पत्रों में छपी थी। यदि मनुष्य स्वयं अपने आप कोई भाषा सीख सकता या बना सकता होता तो ये सभी बालक वैसा कर लेते। पर मनुष्य दूसरे मनुष्य से बिना सीखे स्वयं कोई भाषा सीख सकने या बना सकने की योग्यता ही नहीं रखता।

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवाद का सिद्धान्त मिथ्या है

विकासवादियों का यह कहना नितान्त असत्य है कि आदि काल के मनुष्य ने धीरे-धीरे, अनेक पीढ़ियों में, भाषा का स्वयं विकास किया था। जैसा ऊपर की पंक्तियों में कहा गया है मनुष्य स्वयं कोई भाषा नहीं सीख और बना सकता। फिर, धीरे-धीरे अनेक पीढ़ियों में मनुष्य द्वारा भाषा का विकास किये जाने के सिद्धान्त में यह बात अपने आप आ जाती है कि एक पीढ़ी के लोगों ने अपने से पहिली पीढ़ी के लोगों से भाषा सीखी। सर्वप्रथम मनुष्य ने भाषा किस से सीखी ? यदि आदि-युग का अविकसित मस्तक वाला मनुष्य अपने लिये स्वयं किसी भाषा का निर्माण कर सकता था तो आज का बहुत अधिक विकसित मस्तक वाला मनुष्य अपने लिये किसी भाषा का स्वयं निर्माण क्यों नहीं कर पाता ? विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार आज-कल के योरोप और अमरीका के लोगों का मस्तक बहुत अधिक विकसित है।

योरोप और अमरीका के लोगों ने विज्ञान में, साहित्य में और भाषा में कितनी आश्चर्य-जनक उन्नति कर रखी है ! विकास और उन्नति की चरम सीमा पर पहुंचे हुए आज के जर्मन, फ्रांसीसी, इंग्लिश, अमरीकन अथवा रूसी माता-पिताओं के बच्चों में यह शक्ति नहीं है कि वे अपने माता-पिताओं, गुरुओं और पड़ोसियों से अलग एकान्त जंगल में रह कर अपनी-अपनी मातृभाषाओं का बोलना सीख सकें। जर्मन भाषा बोलने वाले लोगों के सम्पर्क में रह कर ही कोई जर्मन बच्चा जर्मन भाषा बोलना सीख सकता है। यदि जर्मन बच्चा किसी अन्य भाषा को बोलने वाले लोगों के सम्पर्क में रहेगा तो वह अपनी मातृभाषा बोलना न सीख कर उन लोगों की भाषा बोलना सीख जायेगा। और यदि वह बच्चा आरम्भ से किसी भी मनुष्य के सम्पर्क में नहीं रहेगा तो वह कोई भी भाषा बोलना न सीख सकेगा। यही अवस्था फ्रांसीसी, इंग्लिश, अमरीकन अथवा रूसी बच्चे के साथ होगी।

आदि-सृष्टि में परमेश्वर ने भाषा सिखाई

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य किसी दूसरे से बिना सीखे कोई भाषा नहीं जान सकता। तो फिर सृष्टि के आदि-काल के मनुष्य ने 'भाषा' कैसे सीखी ? इस प्रश्न का सीधा और स्पष्ट उत्तर यह है कि आदि-सृष्टि में जहां परमात्मा ने मनुष्य को बनाया वहां उसी ने मनुष्य को भाषा भी सिखाई। ईश्वर ने ही आरम्भ-काल के मनुष्यों को एक भाषा सिखाई जिस के अपभ्रंशों द्वारा कालक्रम में बनी हुई सैकड़ों भाषायें आज हमें संसार में दिखाई देती हैं।

भाषा सिखाने में ज्ञान का सिखाना स्वयं ही आ जाता है

भाषा सिखाने में ज्ञान का सिखाना स्वयं ही आ जाता है। क्योंकि भाषा भिन्न-भिन्न पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्धों का ही वर्णन करती है। और पदार्थो के पारस्परिक सम्बन्धों से परिचित का नाम ज्ञान है। परमात्मा ने आदि-काल के मनुष्य को भाषा भी सिखाई और भाषा द्वारा सूचित किये जाने वाले पदार्थों और उन के पारस्परिक सम्बन्धों का भी ज्ञान कराया। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदि-सृष्टि-काल में 'भाषा की दैवी प्रेरणा' का सिद्धान्त 'ज्ञान की दैवी प्रेरणा' के सिद्धान्त को भी अपने अन्दर लिये हुए है और इस प्रकार आदि-सृष्टि-काल में मनुष्य को 'ज्ञान'–भाषा और ज्ञान–देने वाला गुरु परमेश्वर है।

भाषा-शास्त्रियों के पास भाषा की उत्पत्ति का समाधान नहीं है

भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भाषा-विज्ञान के अनेक पंडित विकासवाद के सिद्धान्त

के अनुसार यद्यपि ऐसा मानते और लिखते हैं कि मनुष्य ने धीरे-धीरे विकास कर के स्वयं ही भाषा की उत्पत्ति कर ली है और उस का बोलना सीख लिया है, परन्तु इन भाषाशास्त्रियों के पास अपने इस मत के समर्थन में कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं है। उन की यह स्थापना केवल कल्पना-मात्र है। दूसरी ओर अनेक ऐसे भाषाशास्त्री भी हैं जो स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि भाषा-विज्ञान के पंडितों के पास कोई ऐसे प्रमाण नहीं हैं जिन के आधार पर कहा जा सके कि भाषा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एडगर स्टूर्टिवेण्ट अपनी पुस्तक 'भाषा विज्ञान की भूमिका' (An Introduction to Linguistic Science) में इस सम्बन्ध में कहते हैं—"बहुत से निरर्थक तर्क-वितर्क के पश्चात् भाषाशास्त्री इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि उन के पास जो सामग्री है उस से मानव-भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं मिलता[1]।"

इसी प्रकार अपनी पुस्तक 'भाषा की कहानी' (The Story of Language) में इटली के विद्वान् मेरीयोपाई ने लिखा है—"यदि कोई एक बात ऐसी है जिस पर सब भाषाशास्त्री एक मत हैं तो वह यह है कि अभी तक मानव-भाषा की उत्पत्ति की समस्या का कोई समाधान नहीं मिला है[2]।"

इसी भांति अमरीका के विद्वान् जे. वैण्ड्रीज़ ने अपनी पुस्तक 'भाषा' (Language) में लिखा है—"भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का कोई सन्तोष-जनक समाधान नहीं है[3]।"

इसी विषय पर लिखते हुए सामाजिक विज्ञानों का विश्वकोष' (Encyclopaedia of Social Sciences) में प्रसिद्ध भाषाशास्त्री श्री एडवर्ड सैपीर ने लिखा है—"भाषा की उत्पत्ति की समस्या को सुलझाने के अनेक प्रयत्न किये गये हैं। परन्तु इन में से अधिकांश प्रयत्न कल्पना-मात्र

---

1. After much futile discussion, linguists have reached the conclusion that the data with which they are concerned yield little or no evidence about the origin of human speech (An Introduction to Linguistic Science by Edgar Sturtivent, page 40, New Haven.)
2. If there is one thing on which all linguists are fully agreed, it is that the problem of the origin of human speech is still unsolved. (The story of Language by Maripci, P. 18, London, 1956.)
3. The problem of the origin of language does not admit of any satisfactary solution. (Language by J. Vendres. P. 315, London 1952.)

से अधिक कुछ नहीं हैं। सामान्य रूप में भाषाशास्त्रियों की अब इस प्रश्न के समाधान में रुचि नहीं रही है। इस के दो कारण हैं। एक तो यह कि अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि आज कोई ऐसी भाषा विद्यमान नहीं है जिसे सही तौर पर आदिकाल की भाषा कहा जा सके, तथा पुरातत्त्व-विज्ञान के अनुसंधानों ने मनुष्य के सांस्कृतिक भूतकाल को इतना लम्बा कर दिया है कि आज की प्रचलित भाषाओं के अध्ययन से जो कुछ पता लगता है उस से बहुत अधिक पीछे जाना बिल्कुल व्यर्थ है। और दूसरे यह कि मनोविज्ञान-सम्बन्धी हमारा ज्ञान, विशेषकर मन के विचारों को ध्वनि आदि के चिह्नों या प्रतीकों द्वारा प्रकट करने वाली मानसिक प्रक्रियाओं-विषयक हमारा ज्ञान, पर्याप्त सही नहीं समझा जाता अथवा इतना अधिक नहीं समझा जाता कि वह भाषा की उत्पत्ति की समस्या के समाधान में विशेष सहायता कर सके[1]।"

भाषा और ज्ञान देने वाले आदि-गुरु परमात्मा ही हैं

इस प्रकार भाषा-विज्ञान के पास इस प्रश्न का कोई समाधान नहीं है कि पहले-पहल भाषा कैसे उत्पन्न हुई। युक्ति और तर्क से इस प्रश्न का एकमात्र सही उत्तर यही मिलता है कि पहले-पहल परमात्मा ने ही आदिकाल के मनुष्यों को कोई भाषा सिखाई। और वह भाषा सिखाते हुए परमात्मा ने उस भाषा द्वारा सूचित किये जाने वाले पदार्थों और उन के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान भी स्वयं ही सिखाया। भाषा सिखाने में ज्ञान सिखाने की यह बात भी स्वयं ही आ जाती है। इस प्रकार मनुष्य को पहले-पहल भाषा और ज्ञान सिखाने वाले आदि-गुरु

---

1. Many attempts have been mad to .... the origon of language, but most of these are hardly more than exercises of the speculative imagination. Linguists as a whole, have lost interest in the problem and this for two reasons. In the first place, it has come to be realised that there exist no truly primitive languages in a psychological sense, that modern researches in archaeology have indefinitely extended the time of man's Cultural past and that it is therefore vain to go much beyond the perspective opened up by the study of actual languages. In the second place, our knowledge of psychology, particularly of the symbolic processes in general, is not felt to be sound enough, or far reaching enough, to help materially with the problem of the emergence of speech. (Encyclopaedia of the Social Sciences, Vol. 9, Page 158 Article about the Origin of Language by Edward Sapdir.)

परमात्मा ही हैं। इसी लिये योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि "काल के बन्धन से रहित वह परमात्मा हमारे पूर्वज गुरुओं का भी गुरु है[1]।"

पहले-पहल परमात्मा मनुष्य को भाषा सिखाते हैं, भाषा की उत्पत्ति-विषयक इस आस्तिक सिद्धान्त की ओर सब अनेक भाषाशास्त्री भी आने लगे हैं। अंग्रेजी भाषा के जगत्-प्रसिद्ध विश्वकोष 'ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका' (Encyclopaedia Britanica) में इसी समस्या पर विस्तृत विचार करते हुए लिखा गया है—"कुछ भाषा-शास्त्री, जिन में प्रसिद्ध विद्वान् डब्ल्यू. श्मिदत (W. Schmidt) भी सम्मिलित हैं, भाषा की उत्पत्ति-विषयक प्रचलित सिद्धान्तों की अयुक्तता को अनुभव करने लगे हैं और प्राकृतिक तरीके से भाषा की उत्पत्ति के समाधान के प्रयत्नों को छोड़ कर इस धार्मिक विश्वास की ओर आने लगे हैं कि आदिकाल के मनुष्यों को पहिली भाषा स्वयं परमात्मा ने सीधे रूप में सिखाई थी[2]।"

ईश्वरीय ज्ञान की तार्किक संभावना के सम्बन्ध में ऊपर के पृष्ठों में जो कुछ कहा गया है उस से यह स्पष्ट है कि इलहाम अथवा दैवी प्रेरणा या ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त दार्शनिक तर्क से अस्वीकृत नहीं है।

३.
आदि-सृष्टि में परमात्मा ने वैदिक भाषा सिखाई

ईश्वरीय ज्ञान की सिद्धि में एक प्रबल युक्ति हम ने 'भाषा की उत्पत्ति' की दी है। तब प्रश्न होता है कि वह कौन सी ईश्वरीय भाषा है जिसे परमेश्वर ने आदिसृष्टि के मनुष्यों को पहले-पहल सिखाया ? हम भारतीय आर्य (हिन्दू) लोगों की सम्मति में आदिसृष्टि के मनुष्यों को परमेश्वर द्वारा सिखाई गई वह ईश्वरीय भाषा वैदिक संस्कृत है। आदिसृष्टि के मनुष्यों को परमात्मा ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार वेदों के रूप में वैदिक भाषा सिखाई और उस भाषा को सिखाते हुए उस भाषा द्वारा वेदों में वर्णित पदार्थों और उन के पारस्परिक

---

१. स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योगदर्शन १, २६।

2. Some scholare (among them quite recently W.Schmidt) see the insufficiency of usual theories, and giving up all attempts at explaining it in a natural way fall back on the religious belief that the first language was directly, given to first men by God through miracle. (Encyclopaedia Bitanica, Vol. 13 Page 702, 1951 Impression.)

सम्बन्धों का भी ज्ञान करा दिया। वैदिकधर्मी आर्यों की परम्परा में यह माना जाता है कि आदिसृष्टि में जो अनेक मनुष्य उत्पन्न हुए थे उन में अग्नि, वायु, सूर्य, और अंगिरा नामक चार ऋषियों के हृदयों में एक-एक वेद का प्रकाश कर के परमात्मा ने उन्हें वैदिक संस्कृत भाषा भी सिखा दी और वेदों की उस भाषा में निबद्ध सारा ज्ञान भी सिखा दिया। फिर इन चारों ऋषियों ने आदिसृष्टि में उत्पन्न अन्य मनुष्यों को अपने उपदेश द्वारा वेद और उन की भाषा का ज्ञान करा दिया। इस प्रकार आदि सृष्टि के सब मनुष्य वैदिक संस्कृत भाषा को बोलने लगे और वेद में वर्णित ज्ञान को सीख कर अपना जीवन-व्यवहार चलाने के योग्य बन गये।

वैदिक भाषा सब भाषाओं की जननी है

आज संसार में जो विभिन्न भाषायें पाई जाती हैं वे सब परम्परया वैदिक भाषा के अपभ्रंशों से ही बनी हुई हैं। आदिसृष्टि के समय जिस प्रदेश में[1] पहले-पहल मनुष्यों की उत्पत्ति हुई उस प्रदेश में वे लोग कुछ समय तो एकत्र रहे। फिर धीरे-धीरे जन-संख्या बढ़ने लगी। और वह उस प्रदेश में समा न सकी। वहां से लोग धीरे-धीरे दूर-दूर के देशों की ओर फैलने लगे। भाषा के शिक्षण और उच्चारण में पूरी सावधानी न रहने के कारण तथा नये प्रदेशों की जल-वायु की भिन्नता के कारण लोगों के उच्चारण में फर्क पड़ने लगा और वैदिक भाषा के शब्दों का अपभ्रंश होने लगा। ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा और लोग अपने मूल-स्थान से और-और आगे बढ़ने लगे त्यों-त्यों ऊपर निर्दिष्ट दोनों कारणों से अपभ्रंश अधिकाधिक बढ़ने लगे। अपभ्रंशों के भी अपभ्रंश होने लगे। इस प्रकार यह अपभ्रंशों की और अपभ्रंशों के भी अपभ्रंशों की प्रक्रिया उत्तरोत्तर बढ़ती गई। आगे चल कर नये पदार्थों और नये विचारों के लिये लोग नये-नये शब्द भी बनाने लगे। इन शब्दों के अपभ्रंश की और उन के अपभ्रंशों के अपभ्रंश की प्रक्रिया भी उत्तरोत्तर उसी प्रकार चलने लगी। और नये-नये विचारों और पदार्थों के लिये नये-नये शब्द बनाये जाने की प्रक्रिया भी उसी प्रकार चलती रही। लोग जितना-जितना दूर देशों में बढ़ते गये उपर्युक्त कारणों से उतना-उतना उन की भाषा में भिन्नता बढ़ती गई। और लाखों-करोड़ों वर्षों के अरसे में उपर्युक्त प्रक्रिया के परिणाम-स्वरूप

१. ऋषि दयानन्द के मन्तव्यानुसार पहले-पहल मनुष्य-सृष्टि तिब्बत में हुई थी। वहीं से धीरे-धीरे मनुष्य धरती के सब देशों में फैल गये। लोकमान्य तिलक की सम्मति में मनुष्य-सृष्टि उत्तरीय ध्रुव के प्रदेश में हुई थी। कई विद्वान् मध्य-एशिया को मनुष्यों का आदि-उत्पत्ति-स्थान मानते हैं। कई विद्वान् मध्य योरोप को मनुष्यों का आदि-उत्पत्ति-स्थान मानते हैं। तथा कई विद्वान् पंजाब को मनुष्यों का आदि-उत्पत्ति-स्थान मानते हैं।

संसार में वे सब भाषायें बन गईं जिन्हें धरती के भिन्न-भिन्न देशों के निवासी आज बोल रहे हैं। इन सब भाषाओं का परम्परया उद्‌गम-स्थान वैदिक भाषा ही है। यदि आदि-सृष्टि में परमात्मा ने मनुष्यों को वैदिक भाषा न सिखाई होती तो वे अपने आप कोई भाषा नहीं सीख और बना सकते थे। जैसा हम ने अभी ऊपर दिखाया है मनुष्य किसी दूसरे से सीखे बिना कोई भाषा बोलना नहीं सीख सकता। कोई भाषा अच्छी तरह बोलना सीखने के पश्चात् मनुष्य यह तो कर सकता है कि नये विचारों और पदार्थों के लिये नये शब्द घड़ ले, परन्तु आरम्भ में मनुष्य किसी भाषा का बोलना किसी दूसरे सिखाने वाले से ही सीख सकता है। प्रारंभ में परमात्मा ने मनुष्यों को वैदिक भाषा सिखाई और उस के अनन्तर, ऊपर कही गई प्रक्रिया के अनुसार, एक बहुत लम्बे अरसे में उस भाषा से आज की अनेक भाषायें बन गईं। इस प्रकार आज की प्रचलित भाषाओं की मूल जननी वैदिक भाषा ही है। इस युग के भाषा-विज्ञान के पण्डितों ने आज की प्रचलित भाषाओं में ऐसे अनेक शब्दों को खोज निकाला है जो वैदिक भाषा के शब्दों से या तो सर्वांश में ही मिलते हैं या उन से बहुत अधिक समानता रखते हैं। भाषा-शास्त्रियों की यह खोज भी इसी ओर निर्देश करती है कि प्रचलित भाषाओं की मूल जननी वैदिक भाषा ही है, प्रचलित सब भाषायें अपभ्रंश होते-होते वैदिक भाषा से ही निकली हैं। भाषा-विज्ञान के इस अनुसंधान से यह भी इंगित होता है कि आदि सृष्टि में सब मनुष्य किसी एक ही स्थान पर रहते थे जहां से वे कालान्तर में धरती के भिन्न-भिन्न देशों में फैल गये।

वेद संसार के सब से पुराने ग्रन्थ हैं

प्रश्न हो सकता है कि परमात्मा ने आदि-सृष्टि के मनुष्यों को वैदिक भाषा ही सिखाई थी, कोई अन्य भाषा नहीं, इस में क्या प्रमाण है ? इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि संसार की पुरानी भाषाओं और उन भाषाओं के साहित्य का सूक्ष्म और विवेचनात्मक अध्ययन करने वाले भाषा-शास्त्री इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि वेद मनुष्य-जाति के सब से पुराने ग्रन्थ हैं। इस सम्बन्ध में कुछ अति प्रसिद्ध विद्वानों की सम्मतियें नीचे उद्धृत की जाती हैं।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री मैक्समूलर महोदय ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' में लिखा है—"विद्यमान ग्रंथों में वेद सब से अधिक पुराना है। वेद होमर की कविताओं से भी अधिक पुराना है[१]।" अपने द्वारा सम्पादित और मुद्रित ऋग्वेद के सायण-भाष्य

१. The Veda is the oldest book in existence, more ancient than the Homeric poems, because it presents an earlier phase of human thought and feeling—Max Muller, History of Ancient

के प्रथम भाग की प्रस्तावना में श्री मैक्समूलर महोदय ने लिखा है—"मेरा निश्चित मत है कि वेद शताब्दियों तक विद्वानों के अध्ययन का विषय बना रहेगा और मनुष्य-जाति के पुस्तकालय में सब से अधिक पुरानी पुस्तक समझा जाता रहेगा[1]।" इसी ग्रन्थ के चौथे भाग की प्रस्तावना में श्री मैक्समूलर महोदय लिखते हैं—"आर्य-जगत् (भारत, ईरान, योरोप आदि) का सब से पुराना ग्रन्थ ऋग्वेद है। ब्राह्मण लोगों की ये पवित्र ऋचायें सारे संसार के साहित्य में अद्वितीय हैं। और इन की जिस प्रकार रक्षा होती रही है उसे तो चमत्कारपूर्ण कहा जा सकता है[2]।"

अपनी पुस्तक 'वेदों की शिक्षा' में रैवरैंड मौरिस फिलिप महोदय ने लिखा है—"बाइबिल के पुरातन खण्ड (ओल्ड टैस्टामेंट=Old Testament) की पुस्तकों के इतिहास और काल-गणना में किये गये नवीनतम अनुसंधानों के पश्चात् अब हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ऋग्वेद न केवल आर्य लोगों का प्रत्युत सारे संसार का सब से पुराना ग्रन्थ है[3]।"

श्रीयुत बालगंगाधर तिलक ने अपनी पुस्तक 'वेदों में आर्यो का उत्तरीय ध्रुव का घर' में ऋग्वेद को "आर्य (योरोप, ईरान, भारत आदि के) लोगों का सब से पुराना ग्रन्थ[4]" बताया है।

श्री लुई जैकालियट महोदय ने अपनी पुस्तक 'भारत में बाइबिल' में कहा है—"वेद के शब्द अनादि-अनन्त सत्य ज्ञान से युक्त हैं, वेद तत्त्वोपदेश का भी तत्त्वोपदेश है जो कि

Sanskrit Literature, Page 557.

1. The Veda, I feel convinced, will occupy scholars for centuries to come, and will take and maintain its position for ever as the most ancient of books in the library of mankıng.-The Rigveda Sanhita, Vol. I. Edition 1869, Preface, Page 10.
2. The Rigveda is the most ancient book of the Aryan world. The sacrec hymns of the Brahmanas stand unparalleled in the literature of the whole world. And their preservation might well be called miraculous.-Rigveda, Vol. 4th, Page 80, Edited by—Maxmuller.
3. After the latest researches into the history and chronology of books of lod testament, we may safely now call the Rigveda as the oldes book, not only of the Aryan humanity, but of the whole world.-Rev Morris Philip in the Teaching of the Vedas, Page-231.
4. "The oldest book of the Aryan race."—B.G.Tilak in 'The Arctic Home in the Ved as,' Edition 1903, Page 465.

हमारे पुरखाओं पर परमात्मा ने प्रकट किया, वेद सृष्टि के आदि-काल का विशुद्ध सिद्धान्त-ज्ञान है और परमोत्तम शिक्षा है[1]।"

श्री मोशिये लियो डेलबो ने पेरिस के अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक-संघ में पढ़े गये अपने एक निबन्ध में ऋग्वेद के सम्बन्ध में कहा था—"ग्रीस और रोम का कोई भी पुराना स्मारक (Monument) ऋग्वेद से अधिक बहुमूल्य नहीं है।"[2] इन महोदय के इस कथन का भाव यह है कि पुरानेपन में ऋग्वेद ग्रीस और रोम के पुराने-से-पुराने ग्रन्थों से भी पुराना है।

इन विद्वानों की भांति और भी अनेक विद्वान् हैं जो प्राचीन भाषाओं और उन के साहित्य का अध्ययन कर के इसी परिणाम पर पहुंचे हैं कि ऋग्वेद संसार का सब से पुराना ग्रन्थ है।

वेद की भाषा संसार की सब से पुरानी भाषा है

जब इन विद्वानों की सम्मति में ऋग्वेद संसार की सबसे पुरानी पुस्तक है तो उसकी भाषा जो कि वैदिक संस्कृत भाषा है अपने आप ही संसार की सबसे पुरानी भाषा हो गई। वैदिक भाषा से पुरानी और कोई भाषा नहीं है। आदि-सृष्टि के मनुष्यों को परमात्मा ने यही संसार की सब से पुरानी वैदिक भाषा सिखाई थी और इसी भाषा में परमात्मा ने सृष्टि के आदि-काल के लोगों को वेदों का उपदेश दिया था।

वेद का काल

भारतीय आर्य लोगों के मन्तव्य और गणना के अनुसार इस वर्तमान सृष्टि को बने हुए विक्रम सम्वत् १६१३ में १,६७,२६,४६,०५७ (एक अर्ब, सत्तानवे करोड़, उनत्तीस लाख उनन्चास हजार, सत्तावन) वर्ष हो चुके हैं। वेद का उपदेश भी सृष्टि के आदि में ही मनुष्यों को परमात्मा ने दिया था। इस प्रकार वेद का काल भी भारतीय आर्य लोगों में सृष्टि का उत्पत्ति काल ही माना जाता है। अर्थात् हम आर्यों के अनुसार वेद आदि-सृष्टि के हैं और १,६७,२६,४६,०५७

---

1. The Veda is the word of eternal wisdom, the principle of principles as revealed to our fathers...The pure primeval doctrine, the sublime instructor.—Louis Jacolliot in The Bibe in India, edition 1870, Page 10-12.

2. There is no moument of Greece or Rome more precious than the Rigveda.—(Mons. Leon Delbos, in his paper on the Vedas read before the International Literery Association at Paris, on 14th july 1784, the venerable Victor Hugo being in the Chair.)

वर्ष पुराने हैं। आज कल की योरोपीयन ऐतिहासिक पद्धति से वेद का अध्ययन करने वाले पाश्चात्य विद्वान् और उन के अनुयायी भारतीय विद्वान् वेदों को इतना पुराना नहीं मानते हैं शुरू-शुरू में तो ये विद्वान् वेद को मुश्किल से ईसा से डेढ़ दो हजार वर्ष पुराना ही मानते थे। धीरे-धीरे वेद को अधिकाधिक पुराना माना जाने लगा है। जैकोबी महोदय वेद के काल को ईसा से तीन-चार हज़ार वर्ष पूर्व तक ले गये हैं। श्री तिलक वेद के काल को ईसा से दस हजार वर्ष पूर्व तक ले गये हैं। श्री अविनाशचन्द्र दास इस काल को ईसा से बीस हजार वर्ष पूर्व तक ले गये हैं। श्री डी.एन. मुखोपाध्याय इस काल को ईसा से पच्चीस हजार वर्ष पूर्व तक ले गये है। पं. दीनानाथ शास्त्री चुलैट वेद के काल को आज से तीन लाख वर्ष पूर्व तक ले गये हैं। और श्री पावगी महोदय की सम्मति में वेद आज से कम-से-कम अढ़ाई-तीन लाख साल पुराना तो है ही, वह इस से भी लाखों साल पुराना हो सकता है।

वेद के अन्वेषक पाश्चात्य विद्वानों ने वेद का काल जो इतना कम माना है। उसमें एक हेतु यह भी रहा है कि वे विद्वान् सृष्टि की आयु भी बहुत कम मानते रहे हैं। पहले योरोप में सृष्टि की आयु लगभग छः हजार साल से अधिक नहीं मानी जाती थी। पर जैसा अभी ऊपर कुछ विद्वानों का मत उद्धृत किया गया है, अब अनेक विद्वान वेदों को इतना कम पुराना नहीं मानते हैं। अब सृष्टि की आयु भी बहुत अधिक मानी जाने लगी है। सृष्टि चाहे कम पुरानी हो और चाहे बहुत अधिक पुरानी हो, वेदों का उपदेश मनुष्यों को सृष्टि के आरंभ में ही परमात्मा ने दे दिया था। वैदिक भाषा का संसार की सबसे पुरानी भाषा होना और वेद का संसार का सबसे पुराना ग्रन्थ होना इसी ओर संकेत करते हैं कि वेद सृष्टि के शुरू से चले आ रहे हैं। भारतीय आर्यों की सम्मति में सृष्टि और वेद का जो काल है उस का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं।

४.

ईश्वरीय ज्ञान होने में वेद की अपनी अन्तःसाक्षी

इस भाषण के आरम्भ में हमने कहा था कि भारतीय आर्यों के ऋषिमुनियों, आचार्यों, साधु-सन्तों और महापुरुषों की प्रायः सारी-की-सारी परम्परा, तथा आर्यों का ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, दर्शनों, गीता, रामायण, महाभारत, आयुर्वेद, व्याकरण और पुराण आदि का समग्र

१. भारतीय परम्परा और साहित्य में वेदों को जो स्थान और महत्व है उसके सम्बन्ध में अधिक विस्तार से जानने के लिये हमारी पुस्तक 'वेद का राष्ट्रीय गीत' की भूमिका देखिये।

साहित्य, एक स्वर से यह कह रहे हैं कि वेद ईश्वरीय ज्ञान या इलहाम हैं और इन वेदों का प्रकाश परमात्मा द्वारा आदि-सृष्टि के ऋषियों पर हुआ था। वेदों के सम्बन्ध में आर्य-विचारकों और आर्यसाहित्य की यह जो धारणा है उस की पुष्टि स्वयं वेद की अपनी अन्तःसाक्षी से भी होती है। वेद स्वयं अपने आप को सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा द्वारा दिया हुआ ज्ञान बताते हैं[1]।" ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद तीनों में एक-एक पुरुष-सूक्त आता है। इन पुरुष-सूक्तों में परमेश्वर द्वारा सब प्रकार की सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए इन पुरुष-सूक्तों में कहा गया है कि "सब के पूजनीय, सृष्टिकाल में सब कुछ देने वाले और प्रलय-काल में सब कुछ नष्ट कर देने वाले उस परम पुरुष परमात्मा से ऋग्वेद उत्पन्न हुआ, सामवेद उत्पन्न हुआ, उसी से छन्द अर्थात् अथर्ववेद उत्पन्न हुआ और उसी से यजुर्वेद उत्पन्न हुआ[2]।" इसी भांति अथर्ववेद के दसवें काण्ड के सातवें और आठवें सूक्तों में परमात्मा का 'स्कम्भ' अर्थात् विश्व-ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले सर्वाधार 'स्तम्भ' के रूप में वर्णन हुआ है। परमात्मा की अनेक प्रकार की महिमा और विभूतियों का वर्णन इन सूक्तों में किया गया है। इस स्थल पर भी चारों वेदों की उत्पत्ति परमात्मा से ही बताई गई है।[3] इसी प्रकरण में एक दूसरी जगह कहा गया है—"अपूर्व गुणों वाले उस स्कम्भ नामक सर्वाधार परमात्मा ने वेद की वाणियों को प्रेरित किया है, मनुष्यों के हित के लिये प्रदान किया है, वे वेदवाणियें यथार्थ बात बताती हैं[4]।" अथर्ववेद के पांचवें काण्ड के ११ वें सूक्त में भी प्रसंग से वेदों की उत्पत्ति

---

१. इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार से जानने के लिये हमारी पुस्तक 'वेद का राष्ट्रीय गीत' की भूमिका में 'वेद के सम्बन्ध में स्वयं वेद की अपनी सम्मति' प्रकरण देखिये।

२. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।। ऋग् १०.९०.९।

यजुः ३१.७। अथर्व. १९.६.१३।

३. यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वांगिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।।

अथर्व. १०.७.२०।

इन दोनों मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वेद का राष्ट्रीय गीत' की भूमिका में ३१-३२ पृष्ठ पर देखिये।

४. अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्। अथर्व. १०.८.३३।

इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वेद का राष्ट्रिय गीत' की भूमिका में ३३ पृष्ठ पर देखिये।

का वर्णन किया गया है। वहां परमेश्वर स्वयं अपने सम्बन्ध में कहते हैं कि "क्योंकि मुझ से वेद नामक मेरा काव्य उत्पन्न होता है इस लिये मेरा नाम 'जातवेदाः' है[1]।" ऋग्वेद के दसवें मण्डल का ७१ वां सूक्त तो सारा का सारा वेदविषयक ही है। इस सूक्त में वेदों की परमात्मा द्वारा उत्पत्ति का वर्णन करते हुए वेदों को भाषा और ज्ञान के आदि-स्रोत के रूप में उपस्थित किया गया है। इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में कहा है—"हे महान् ज्ञान से युक्त वेदवाणी के स्वामी परमात्मन् ! सृष्टि के आरंभ में मनुष्यों की उत्पत्ति के समय, आदिम ऋषियों ने जो विभिन्न पदार्थों के नामों को धारण करने वाली, बताने वाली, वेद की वाणियों को पहले-पहल प्रेरित किया, प्रचलित किया, वह वेद-ज्ञान आपने अपनी प्रेरणा या प्रेम से इन ऋषियों के हृदय में, बुद्धि में, इस लिये रख दिया और वह इन ऋषियों के द्वारा अन्य मनुष्यों के लिये इस लिये प्रकट हुआ क्योंकि इन आदिम ऋषियों में श्रेष्ठत्व और निष्पापत्व था[2]।" फिर तीसरे मन्त्र में वही कहा है—"वेदवाणी का पद और अर्थ के सम्बन्ध से प्राप्त होने वाला ज्ञान, यज्ञ अर्थात् सब के पूजनीय परमात्मा द्वारा प्राप्त होता है। उस वेदवाणी को मनुष्यों ने ऋषियों में प्रविष्ट पाया है। उस वेदवाणी को धारण कर के ऋषियों ने बहुत स्थानों में कर दिया, फैला दिया। उस वेदवाणी को विविध पदार्थों के गुणों का वर्णन करने वाले गायत्री, अनुष्टुप् आदि सात छन्द प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् वेदवाणी की रचना गायत्री आदि सात छन्दों में हुई है।"[3] इसी भांति अथर्व. १८.७१.१ में भी वेद को परमात्मा द्वारा मनुष्यों के कल्याण के लिये दिया गया ज्ञान बताया गया है। इस मन्त्र में परमात्मा ही बोल रहे हैं। वे कहते हैं—"हे मनुष्यो ! तुम्हारे लिये मैंने वरदान देने वाली वेद-माता की स्तुति कर दी है, वह मैंने तुम्हारे आगे प्रस्तुत कर दी है। वह वेद-माता तुम्हें चेष्टाशील, द्विज और पवित्र बनाने वाली है। आयु अर्थात् दीर्घजीवन,

---

१. काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः। अथर्व. ५.११.२।
इस मन्त्र की ओर जिस सूक्त (अथर्व. ५.११) का यह मन्त्र है उस की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वरुण की नौका' में देखिये।

२. बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।। ऋग्. १०.७१.१।

३. यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभिसंनवन्ते।। ऋग्. १०.७१.३।
ये दोनों मन्त्र जिस सूक्त (ऋग्. १०.७१) के हैं उस सारे सूक्त की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' में ४-१३ पृष्ठ पर देखिये।

प्राण, सन्तान, पशु, कीर्ति, धन-सम्पत्ति और ब्रह्मवर्चस् अर्थात् ब्राह्मणों के तेज अर्थात् विद्या-बल रूप वरों को यह वेद-माता प्रदान करती है। वेद-माता के स्वाध्याय और तदनुसार आचरण द्वारा प्राप्त होने वाले इन आयु आदि सातों पदार्थों को मुझे दे कर, उन्हें मदर्पण—ब्रह्मार्पण—कर के, ब्रह्मलोक को, मोक्ष को प्राप्त करो।"[1] इस मन्त्र में परमात्मा द्वारा मनुष्यों को वेदों का उपदेश दिये जाने का प्रयोजन संक्षेप में बड़े स्पष्ट और सुन्दर शब्दों में कह दिया गया है। परमात्मा क्योंकि मनुष्यों को मन्त्रोक्त सब कल्याणकारी वस्तुयें देना चाहते हैं इसीलिये उन्होंने सृष्टि के शुरू में वेद का ज्ञान दिया था। वेद की इन और ऐसी ही अन्य अन्तः-साक्षियों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेद ही सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा द्वारा दिया हुआ ज्ञान है।

५.
परमात्मा का वेदोपदेश करने का प्रकार

ईश्वरीय-ज्ञान या इलहाम के सिद्धान्त पर बात करते हुए आलोचक लोग एक शंका यह किया करते हैं कि परमात्मा का कोई शरीर और हाथ आदि तो है ही नहीं, तो वह ईश्वरीय-ज्ञान कही जाने वाली पुस्तक को कैसे लिखेगा? परमात्मा का शरीर न होने से उस के मुख, जिह्वा और वाणी आदि भी नहीं है, तब वह बोलेगा कैसे और अपने ज्ञान को मनुष्यों को सिखायेगा कैसे ? इस प्रकार की शंकायें निराधार हैं। परमात्मा अपने ज्ञान को कागज़ आदि पर लिख कर पुस्तक के रूप में मनुष्यों को नहीं देते हैं। अतः इस कार्य के लिये परमात्मा के हाथ आदि होने की कोई आवश्यकता नहीं है। परमात्मा अपने ज्ञान को मुंह से बोल कर भी मनुष्यों को नहीं सिखाते। अतः इस काम के लिये परमात्मा के मुख और जिह्वा आदि होने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। परमात्मा तो सर्वव्यापक हैं। वे मनुष्यों के आत्माओं में भी व्यापक हैं। जिन मनुष्यों को परमात्मा ने अपना ज्ञान देना होता है उन के आत्मा में ज्ञान का प्रकाश परमात्मा कर देते हैं क्योंकि वे उन के आत्मा में रमे हुए हैं। उन में रमा हुआ होने के कारण परमात्मा अन्दर-अन्दर ही उन के आत्मा में अपने ज्ञान का प्रकाश कर देते हैं। जब सृष्टि के

१. स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। अथर्व. १९.७१.१।

इस मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक 'वेदोद्यान के चुने हुए फूल' में पृष्ठ १ पर देखिये।

आरम्भ में परमात्मा ने आदिम ऋषियों को वेद का ज्ञान दिया तो उन के आत्मा में रमा हुआ होने के कारण परमात्मा ने उन के आत्मा में अन्दर-ही-अन्दर अपना यह ज्ञान प्रकाशित कर दिया। वेद की भाषा भी परमात्मा ने आदिम ऋषियों को उन के आत्मा में रमा हुआ होने के कारण भीतर से ही सिखा दी। हम जब किसी विषय पर चुपचाप बैठ कर चिन्तन करते हैं तो विचार की उस समय की शृंखला में मुख और जिह्वा को बिना हिलाये और बिना काम में लाये ही, हमारे मन में सूक्ष्म रूप में भाषा बोली जा रही होती है। यह मन-मन में बोली जा रही सूक्ष्म भाषा हमारे द्वारा बोली जाने वाली स्थूल भाषा के संस्कारों की स्मृति-रूप होती है। वेद को सिखाने के समय परमात्मा ऋषियों के मन में वेद और उस की भाषा के संस्कार डाल देते हैं और उन संस्कारों को उद्‌बुद्ध कर देते हैं। इस से वेद का ज्ञान और वेद की भाषा ऋषियों के मन में जाग उठती है। वे वेद को समझ जाते हैं और उस की भाषा को बोलने लगते हैं। एक आत्मा के द्वारा—परमात्मा भी एक आत्मा ही है—दूसरे आत्मा में इस प्रकार ज्ञान और भाषा का डाल दिया जाना कोई ऐसी बात नहीं है जो असम्भव हो। योग-सिद्धि के द्वारा अब भी ऐसा किया जा सकता है। मैस्मरिज़्म (Mesmerism)[1] को जो कि एक प्रकार की योग-सिद्धि ही है, जानने वाले लोग आज भी ऐसा कर लेते हैं। एक मैस्मरिज़्म जानने वाला पुरुष दूसरे व्यक्ति पर मैस्मरिज़्म कर के स्वयं बिना बोले ही, उस से जो भाषा चाहे बुलवा सकता है। यह व्यक्ति चाहे उस भाषा को बिल्कुल भी न जानता हो। इस प्रकार की क्रियाओं में मैस्मरिज़्म करने वाला पुरुष अपनी भाषा को ही दूसरे व्यक्ति के मन में डाल देता है। मैस्मरिज़्म करने वाला पुरुष अंग्रेज़ी न जानने वाले से अंग्रेज़ी बुलवा सकता है और जर्मन न जानने वाले से जर्मन बुलवा सकता है। जो भी भाषा मैस्मरिज़्म करने वाला पुरुष जानता है उस भाषा को वह उसे न जानने वाले व्यक्ति से बुलवा सकता है। जब एक साधारण आदमी मैस्मरिज़्म की क्रिया सीख कर उस के द्वारा दूसरे व्यक्ति के मन में अपनी भाषा और ज्ञान डाल सकता है तो परमात्मा ऐसा क्यों नहीं कर सकते ? वे तो बड़ी आसानी से ऐसा कर सकते हैं। सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने भी आदिम ऋषियों के मन में इसी प्रकार के वेद के ज्ञान और वेद की भाषा को डाल दिया था और वे इस प्रकार वेद को समझने लगे थे और उस की भाषा को बोलने लगे थे। इस भांति अपना ज्ञान सिखाने के लिये सर्व-व्यापक परमात्मा को हाथ,

---

१. मैस्मर (Mesmer) नामक विद्वान् द्वारा आविष्कृत, ध्यान की एकाग्रता द्वारा किसी व्यक्ति को प्रभावित करने का प्रकार।

मुख, जिह्वा आदि की कोई आवश्यकता नहीं है।

जैसा हम पीछे संकेत कर आये हैं, परमात्मा ने आदिम ऋषियों को वेद के रूप में भाषा सिखा कर उस भाषा के शब्दों द्वारा सूचित होने वाले पदार्थों और उनके पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान भी उन के मनों में दे दिया था। वेद के शब्द जिन-जिन पदार्थों को सूचित करते हैं उन सब पदार्थों के चित्र परमात्मा ने ऋषियों के मन में उत्पन्न कर दिये थे। उदाहरण के लिये अथर्व. ३.१७ सूक्त और ऋग् १०.१०१.३-६ मन्त्रों में खेती करने का वर्णन है। इन मन्त्रों में बैलों को हल में जोतने, हल चलाने, खेत में बीज बोने, खेत में पानी देने, पकी हुई खेती काटने आदि सब आवश्यक बातों का उल्लेख है और मनुष्यों को खेती करने का उपदेश दिया गया है। इस सूक्त का उपदेश करते हुए परमात्मा ने ऋषियों के मन में इस सूक्त के शब्दों से सूचित होने वाले सब पदार्थो के चित्र उत्पन्न कर दिये थे। हल और उस का जूआ, बैलों के गले में पड़ने वाले जोत, बैल और हल में जुती हुई बैलों की जोड़ी, हल चला कर तैयार किया हुआ खेत, खेत में बोया जाता हुआ बीज, खेत में उगी हुई खेती, पानी से सींची हुई खेती, खेत में पकी खड़ी हुई खेती, दरांती, दरांती से काटी जाती हुई खेती, कटी हुई खेती को बैलों से गाहना और भूसे को छाज में डाल कर हवा में उड़ाना आदि सब चीजों के चित्र परमात्मा ने ऋषियों के मन में उत्पन्न कर दिये थे। अपने मन के इन चित्रों के आधार पर उन्होंने खेती के लिये आवश्यक सब सामग्री बना ली और एकत्र कर ली और वे खेती करने लगे। जिस प्रकार एक शिल्पी या इंजिनीयर पहले अपने मन में किसी मकान या पुल आदि का एक चित्र बना लेता है और फिर अपने मन के उस चित्र के आधार पर वैसे ही मकान या पुल की रचना कर लेता है, उसी प्रकार वेद के शब्दों से सूचित होने वाले विभिन्न पदार्थों के परमात्मा द्वारा अपने मन में उत्पन्न किये गये चित्रों के आधार पर आदि-सृष्टि के ऋषियों ने उन-उन पदार्थों की रचना कर ली। आदिम ऋषियों ने फिर यह सब कुछ दूसरे लोगों को सिखा दिया। और इस प्रकार एक-दूसरे से सीखने की परम्परा चल पड़ी। इस प्रकार परमात्मा द्वारा आरम्भ में ज्ञान का प्रवाह चला दिया जाने पर, मनुष्यों की बुद्धि और विचार-शक्ति खुल जाने के अनन्तर, मनुष्य अपने नये अनुभव और ज्ञान के आधार पर नये-नये पदार्थ भी बनाने लग पड़े। पर मनुष्यों को इस सब के योग्य बनाया परम गुरु परमात्मा ने ही, सृष्टि के आरम्भ के लोगों को वेद का ज्ञान और वेद की भाषा सिखा कर।

६.

ईश्वरीय-ज्ञान की कसौटी

ईश्वरीय-ज्ञान अथवा इलहाम के विषय पर विचार करते हुए एक प्रश्न और सामने आता है। वह प्रश्न यह है कि भिन्न-भिन्न धर्मों को मानने वाले लोग अपनी-अपनी मान्य धर्म-पुस्तकों को ईश्वरीय-ज्ञान बताते हैं, ऐसी अवस्था में किस को ईश्वरीय-ज्ञान माना जाये और किस को नहीं ? इस का उत्तर यह है कि किसी भी पुस्तक को उस के अनुयायियों के दावे-मात्र से ईश्वरीय-ज्ञान नहीं माना जा सकता। हमें उस के दावे की परीक्षा करनी होगी। परीक्षा की कसौटी पर जो ग्रंथ सही उतरे उसी को हमें ईश्वरीय-ज्ञान मानना चाहिये, अन्यों को नहीं। ईश्वरीय-ज्ञान को परखने की कई कसौटियाँ हैं। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में पंच-परीक्षाओं का वर्णन किया है जिन से आर्ष-ज्ञान को परखा जा सकता है, जिन से यह जाना जा सकता है कि कौन-सी पुस्तक ऋषिकृत है और कौन-सी नहीं। ऋषि का अर्थ परमात्मा भी होता है। हम पंच-परीक्षाओं की कसौटी पर परख कर यह भी जान सकते हैं कि कौन-सा ग्रंथ परमेश्वर-रूप ऋषि का है और कौन सा नहीं। वे पंच-परीक्षायें ये हैं– (१) ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल होना, (२) सृष्टि-क्रम के अनुकूल होना, (३) आप्त पुरुषों की अनुकूलता, (४) आत्मा की पवित्रता, और (५) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव, ये जो आठ प्रमाण दर्शनशास्त्र में सत्य के निर्णायक कहे गये हैं इन की अनुकूलता। ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित इन पंच-परीक्षाओं द्वारा यह अनायास जाना जा सकता है कि कौन-सा ग्रंथ ईश्वरीय-ज्ञान है और कौन-सा नहीं।

ईश्वरीय-ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में आना चाहिये

परमेश्वर सब मनुष्यों के माता-पिता है। वे सभी मनुष्यों का कल्याण चाहते हैं। अतः परमेश्वर द्वारा जो ज्ञान दिया जायेगा वह सृष्टि के आदि में दिया जायेगा। जिस से सृष्टि के आदि के लोग भी लाभ उठा सकें और उन के पीछे आने वाले अन्य लोग भी लाभ उठा सकें। इस कसौटी पर कसने पर वेद ही ईश्वरीय-ज्ञान ठहरता है। क्योंकि वेद ही सृष्टि के आरम्भ में दिया गया है। अन्य कोई भी धर्म-ग्रंथ सृष्टि के आरम्भ में प्रकट नहीं हुआ। कुरान को बने प्रायः १४०० वर्ष हुए हैं। बाइबिल के ईसामसीह का यह १९५७ वां वर्ष चल रहा है और ईसाइयों के हजरत आदम को हुए भी प्रायः ६००० वर्ष हुए हैं। इस प्रकार बाइबिल अधिक-से-अधिक

६ हजार वर्ष पुरानी मानी जा सकती है। और उस का अत्यधिक प्रामाणिक भाग नवीन खण्ड (न्यू टैस्टामेंट=New Testanment) तो १६५७ वर्ष से पुराना नहीं है। जिन्दावस्ता को पाश्चात्य विद्वान् लगभग ४००० वर्ष पुराना मानते हैं। इसी प्रकार अन्य धर्मग्रन्थ भी बहुत इधर के समय के हैं। एक वेद ही ऐसा ग्रन्थ है जो सृष्टि के आरम्भ का है।

इलहामी पुस्तकें सर्वांग सत्य के प्रकाश का दावा करती हैं। ऐसी अवस्था में किसी भी इलहामी पुस्तक का सृष्टि के आरम्भ में प्रकट होना आवश्यक है। सत्य के सर्वांगपूर्ण प्रकाश की आवश्यकता सब से अधिक उस समय है जब कि पहले-पहल मनुष्य जाति की सृष्टि हुई। उस समय का मनुष्य बिना सिखाये कुछ भी नहीं सीख सकता था। जो पुस्तक सर्वांग सत्य के प्रकाश का दावा करती है उसे सृष्टि के शुरू में होना चाहिये। नहीं तो सृष्टि के शुरू में सर्वांग सत्य का परिज्ञान न होने के कारण यदि सृष्टि-काल के मनुष्य कुछ अधर्माचरण कर बैठें—जो कि वे अवश्य करेंगे क्योंकि उन्हें धर्म का पूरा ज्ञान नहीं होगा—तो उसका परिणाम उन्हें नहीं भुगतना चाहिये। इस अधर्माचरण में उन का कोई दोष नहीं है। किसी का दोष है तो ईश्वर का। क्योंकि उस ने उन्हें धर्म का पूरा ज्ञान नहीं दिया। वेद के अतिरिक्त अन्य कोई भी पुस्तक सृष्टि के शुरू में नहीं हुई। यदि ये धर्म-पुस्तकें सर्वाग सत्य से युक्त होतीं और ईश्वरीय होतीं तो इन्हें सृष्टि के आरम्भ में होना चाहिये था। केवल वेद ही एक ऐसा धर्म-पुस्तक है जो सृष्टि के आरम्भ में आया है। अतः केवल वेद को ही ईश्वरीय ज्ञान या इलहाम माना जा सकता है।

ईश्वरीय-ज्ञान के ग्रन्थ में किसी देश का भूगोल और इतिहास नहीं होना चाहिये

ईश्वर का ज्ञान मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिये होता है। इसलिये ईश्वरीय ज्ञान कही जाने वाली पुस्तक में किसी देश-विशेष के इतिहास अथवा भूगोल का वर्णन नहीं हो सकता। बाइबिल में पैलस्टाइन के यहूदियों का इतिहास अधिक है। और उस में पैलस्टाइन के अनेक स्थानों का वर्णन है। इस से यही परिणाम निकाला जा सकता है कि पैलस्टाइन के यहूदियों के नेताओं ने वहां के लोगों के लाभ के लिये बाइबिल को लिखा है। इसी प्रकार कुरान में अरब देश के दृश्यों के वर्णन मिलते हैं और उस में मुहम्मद साहब के जीवन-वृत्तान्त भी बहुत मिलते हैं। इस से भी यही परिणाम निकलता है कि अरब देश के लोगों के लाभ के लिए मुहम्मद साहब ने कुरान की रचना की है। वेद में किसी देश के भूगोल और किसी जाति अथवा

व्यक्ति-विशेष के इतिहास का उल्लेख नहीं है। वेद किसी देश-विशेष और जाति-विशेष के लाभ के लिये नहीं लिखा गया है। वेद का प्रकाश तो मनुष्य-मात्र के लाभ के लिये किया गया है। इसी लिये वेद में किसी देश का भूगोल और किसी व्यक्ति तथा जाति का इतिहास वर्णित नहीं मिलता। अतः केवल वेद को ही ईश्वरीय ज्ञान अथवा इलहाम माना जा सकता है, अन्य धर्म-ग्रन्थों को नहीं। योरोपीयन विद्वान् और उनके अनुयायी कुछ भारतीय विद्वान् जो वेद से इतिहास निकालते हैं, वह वेद की भाषा और उसकी परिभाषाओं के ठीक से न समझने के कारण हैं। प्राचीन भारतीय परम्परा वेद को विशुद्ध ईश्वरीय ज्ञान ही मानती रही है और उसमें किसी प्रकार का इतिहास नहीं मानती रही है[1]।

ईश्वरीय ज्ञान किसी देश-विशेष की भाषा में नहीं आना चाहिये

क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिये दिया जाता है इसलिये उनका प्रकाश किसी देश-विशेष की भाषा में नहीं होना चाहिये। किसी देश-विशेष की भाषा में होने से उस से उसी देश के लोग लाभ उठा सकेंगे, अन्य देशों के लोग नहीं। कुरान अरबी भाषा में है, बाइबिल इबरानी भाषा में और जिन्दावस्त पहलवी भाषा में है। वेद किसी देश-विशेष की भाषा में नहीं है। वेद वैदिक भाषा में है। सृष्टि के आरम्भ में जब वेद का उपदेश दिया गया तो वैदिक भाषा कहीं भी नहीं बोली जाती थी। सृष्टि के आरम्भ के मनुष्य कोई भी भाषा नहीं जानते थे। परमात्मा ने ही उन्हें वेद का उपदेश देकर वैदिक भाषा भी सिखाई, कालक्रम में जिसके अपभ्रंश होते होते आज संसार में इतनी भाषायें फैल गई हैं। वैदिक भाषा यौगिक भाषा है। उसके सीखने में आज भी सभी देशों के लोगों को प्रायः एक-समान प्रयत्न करना पड़ता है। वेद का सृष्टि के आदि-काल में वैदिक भाषा में, जो कि किसी भी देश की भाषा नहीं थी, प्रकाशित होना भी यह सिद्ध करता है कि केवल वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है जो कि मनुष्य-मात्र के लिये लिया गया है।

ईश्वरीय ज्ञान को बार-बार बदलने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये

परमात्मा पूर्ण और सर्वज्ञ हैं। उनके किसी काम में त्रुटि और न्यूनता नहीं हो सकती। वे अपनी सृष्टि में जो भी रचना करते हैं भ्वली-भांति विचार करते हैं और फिर उसे सर्वांश में या एकांश में बदलने की आवश्यकता नहीं पड़ती। परमात्मा ने सृष्टि के आरंभ में प्राणिमात्र

१. इस सम्बन्ध में हमने अपनी पुस्तक 'वेद का राष्ट्रीय गीत' की भूमिका में बहुत विस्तार से विचार किया है।

के कल्याण के लिये चन्द्र और सूर्य आदि पदार्थों की रचना की। परमात्मा के रचे ये पदार्थ त्रुटिरहित और पूर्ण हैं। सृष्टि-काल में इन्हें जैसा बनाया गया था ये वैसे ही चले आ रहे हैं। इन्हें बदलने की आवश्यकता नहीं पड़ी। परमात्मा का ज्ञान भी मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिये होता है। इस लिये वह सृष्टि के आरम्भ में दिया जाना चाहिये और एक बार में ही पूर्ण रूप से दे दिया जाना चाहिये। उसे बार-बार बदलने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिये। नहीं तो जिन लोगों को बदलने से पहले का अधूरा ज्ञान परमात्मा ने दिया उन के साथ अन्याय होगा। बाइबिल में कई स्थानों पर ऐसा वर्णन आता है कि परमेश्वर ने अपनी भूल के लिये पश्चात्ताप किया। बाइबिल के भिन्न-भिन्न भागों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे भिन्न-भिन्न समयों में आसमान से उतरे। इसी प्रकार मुसलमान मानते हैं कि परमेश्वर ने अपने क्रमशः जबूर, तौरेत और इंजील के ज्ञान प्रकाशित किये, फिर उन सब को क्रमशः उत्तरोत्तर निषिद्ध करता रहा। फिर कुरान का प्रकाश किया। इस सब में यही प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या परमात्मा पूर्ण और सर्वज्ञ नहीं है जो उस ने शुरू में ही पूर्ण और सत्य ज्ञान नहीं दे दिया ? परमात्मा को अपूर्ण और अज्ञानी मनुष्यों की भांति अपनी बात को बार-बार बदलने की आवश्यकता क्यों होती है ? नहीं, परमात्मा अपूर्ण और अज्ञानी नहीं है। वह पूर्ण और सर्वज्ञ है। उसे अपने उपदेश को बार-बार बदलने की आवश्यकता नहीं है। उस ने जैसे चन्द्र और सूर्य आदि पूर्ण बनाये हैं वैसे ही उसने अपना उपदेश भी पूर्ण ही दिया है। सृष्टि के आदि में दिया गया परमात्मा का वह पूर्ण उपदेश वेद है। वेद जैसे सृष्टि के आदि में थे वैसे ही अब भी हैं। जैसे परमात्मा अनादि हैं वैसे ही उन का ज्ञान वेद भी अनादि है। वेद के किसी भी सिद्धान्त को बदलने की आवश्यकता परमात्मा को कभी अनुभव नहीं हुई। अतः केवल वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है।

ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि-क्रम के विपरीत नहीं होना चाहिये

परमात्मा इस सारी प्राकृतिक सृष्टि के कर्ता हैं। परमात्मा की इस सृष्टि में सर्वत्र एक क्रम पाया जाता है, सर्वत्र एक व्यवस्था और नियम काम करता हुआ पाया जाता है। अतः परमात्मा द्वारा दिया हुआ ज्ञान उन नियमों के विपरीत नहीं हो सकता जो नियम परमात्मा की सृष्टि में चल रहे हैं। जो पुस्तक अपने को ईश्वरीय ज्ञान कहती है उस में भी सृष्टि-क्रम के विपरीत, सृष्टि में चल रहे नियमों के विपरीत, कोई बात नहीं पाई जानी चाहिये। ईश्वरीय ज्ञान माने जाने वाले बाइबिल आदि ग्रन्थों में सृष्टि-क्रम के विपरीत, बातें पाई जाती हैं। बाइबिल में लिखा है कि ईसामसीह कुमारी मरियम के पेट से बिना किसी पुरुष के संयोग के ही उत्पन्न

हो गये थे। ईसामसीह ने मुर्दों को जीवित कर दिया था और बिना ओषधि के ही अन्धों को आंखें दे दी थीं। कुरान में लिखा है कि कि सूर्य कीचड़ के चश्मे में डूबता था, पहाड़ बादलों की भांति उड़ते थे, मूसा ने एक पत्थर पर डण्डा मारा और उस पत्थर से बारह चश्मे बह निकले। पुराणों में लिखा है कि अगस्त्य मुनि ने समुद्र को पी लिया, एक दैत्य सारी पृथिवी को चटाई की तरह ले कर उसे सिरहाने रख कर सो गया। इन पुस्तकों की ये सब बातें सृष्टि-क्रम के विपरीत हैं। इन पुस्तकों में इसी प्रकार की और भी न जाने कितनी बातें सृष्टि-क्रम के विपरीत भरी हुई हैं। इस लिये इस प्रकार की पुस्तकों को ईश्वरीय ज्ञान नहीं माना जा सकता। ईश्वर की सृष्टि में और ईश्वर के ज्ञान में परस्पर विरोध नहीं होना चाहिये। वेदों में सृष्टि-क्रम के, सृष्टि की व्यवस्था और नियमों के, विरुद्ध कोई भी बात नहीं है। इस लिये केवल वेद ही ईश्वरीय ज्ञान हैं।

ईश्वरीय ज्ञान में विविध विद्या-विज्ञानों का वर्णन होना चाहिये

मनुष्यों के कल्याण के लिये परमात्मा ने जिस ज्ञान का उपदेश दिया हो उस में मनुष्योपयोगी भांति-भांति की विद्यायें होनी चाहिये। उसे विद्याओं का भण्डार होना चाहिये। यह आवश्यक नहीं कि उस में सब विद्यायें विस्तार से बतलाई गई हों। सब विद्याओं के मौलिक सिद्धान्त यदि उस में वर्णित कर दिये गये हों तो वह मनुष्यों के कल्याण के लिये पर्याप्त हैं। जिस प्रकार सूर्य सब प्रकार के भौतिक प्रकाश का कोष और मूल है उसी प्रकार ईश्वरीय ज्ञान भी विद्यारूपी प्रकाश का मूल है। इस कसौटी पर कसने पर बाइबिल आदि ग्रन्थ ईश्वरीय ज्ञान सिद्ध नहीं होते। इन पुस्तकों में विभिन्न विद्याओं को मूल सिद्धान्तों की विद्यमानता की तो बात ही दूर रही, प्रत्युत इन में अनेक ऐसी बातें लिखी हैं जो विद्या-विज्ञानों के सर्वथा विरुद्ध हैं। बाइबिल और कुरान में लिखा है कि भूमि चौड़ी है, फरिश्ते आसमान पर रहते हैं, स्वर्ग में दूध और शहद की नदियें बहती हैं। इन में इसी प्रकार की और भी अनेक बातें विद्या-विज्ञान के विरुद्ध लिखी हैं। बाइबिल के तो विद्या-विज्ञान के विरुद्ध होने का यह भी एक प्रबल प्रमाण है कि योरोप में ईसाई पादरी और आचार्य सदा वैज्ञानिकों पर अत्याचार करते और करवाते रहे हैं। उदाहरण के लिये प्रसिद्ध विद्वान् गैलीलियो इसी लिये जेल में डाल दिया गया था वह बाइबिल की शिक्षा के विरुद्ध इस सत्य सिद्धान्त का प्रचार किया करता था कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है। देवी हियोफिया, पादरी सिरिल की आज्ञा से, इसलिये नंगी की गई और बाजार में जान से मार दी गई क्योंकि वह रेखागणित पढ़ाया करती थी और

पादरी कहते थे कि रेखागणित की विद्या असत्य है क्योंकि बाइबिल में इस का उल्लेख नहीं है। पुराणों में भी इसी प्रकार अनेक असंभव और विद्या-विज्ञान के विरुद्ध बातें भरी हुई हैं। वेदों में विज्ञान-विरुद्ध एक ही बात नहीं है। प्रत्युत वेदों में ओषधि-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, भोजन-विज्ञान, राजनीति-विज्ञान, समाज-विज्ञान, आचार-शास्त्र अध्यात्म-शास्त्र, भौतिक विज्ञान, सृष्टि-विज्ञान, आदि अनेक विद्या-विज्ञानों के मौलिक तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। आर्यों के सभी दर्शन-शास्त्र और आयुर्वेद आदि सभी वैज्ञानिक शास्त्र वेदों को ही अपना आधार मानते हैं[1]। अतः केवल वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है।

ईश्वरीय-ज्ञान ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव के अनुकूल होना चाहिये

ईश्वरीय ज्ञान में परमात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव के विपरीत कोई बात नहीं पाई जानी चाहिये। परमात्मा के सत्यस्वरूप, न्यायकारी, दयालु, पवित्र, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव, नियन्ता, सर्वज्ञ आदि नाम उस के गुण, कर्म और स्वभाव का परिचय देते हैं। ईश्वरीय ज्ञान में परमात्मा के इस प्रकार के गुण, कर्म और स्वभाव के विपरीत बातें नहीं पाई जानी चाहियें। बाइबिल, कुरान और पुराण आदि ग्रन्थों में ऐसी अनेक बातें लिखी हैं जो परमात्मा के इस प्रकार के गुण, कर्म और स्वभाव के साथ मेल नहीं खातीं। वे बातें परमात्मा के इस प्रकार के गुण, कर्म और स्वभाव के सर्वथा विपरीत हैं। अतः इन पुस्तकों को ईश्वरीय ज्ञान नहीं माना जा सकता। वेदों में कोई भी बात परमात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव के विपरीत नहीं है। वेदों में वर्णित बातें परमात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव के अनुकूल हैं। इस लिये केवल वेद ही ईश्वरीय ज्ञान हैं।

७.
सन्तों और योगी-महात्माओं को भी कसौटी पर कसना होगा

हम ने ऊपर ईश्वरीय ज्ञान की तार्किक संभावना के सम्बन्ध में विचार करते हुए लिखा है कि प्रायः सभी देशों और सभी जातियों में बीच-बीच में ऐसे साधु-सन्त और योगी-महात्मा उत्पन्न होते रहे हैं जिन्हें ईश्वरीय प्रेरणा द्वारा ऊंची सच्चाइयों का ज्ञान प्राप्त होता रहा है। ऐसे लोगों की कौन सी बात ईश्वरीय प्रेरणा की है और कौन सी नहीं, इस का निश्चय भी

---

१. इस सम्बन्ध में अधिक विस्तृत जानकारी के लिये हमारी पुस्तक 'वेद का राष्ट्रीय गीत' का भूमिका-भाग देखिये।

ऋषि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट पंच-परीक्षाओं द्वारा ही होगा। इन लोगों की भी जो बातें इन पंच-परीक्षाओं की कसौटी पर खरी नहीं उतरेगी उन्हें दैवी प्रेरणा नहीं माना जा सकेगा। आंख हमें पदार्थ का यथार्थ ज्ञान देती है। परन्तु वही कई बार हमें मिथ्या ज्ञान भी दे बैठती है जिसे हम सत्य समझ रहे होते हैं। परन्तु परीक्षा करने पर पता लगता है कि यह सत्य समझा जा रहा ज्ञान तो वास्तव में मिथ्या था। हम भ्रान्ति से उसे सत्य समझ रहे थे। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को दैवी प्रेरणा होती है वह भी कई बार ऐसी बातों को जो दैवी प्रेरणा नहीं होती हैं प्रत्युत उसी की भूल करने वाली अपनी सामान्य बुद्धि की उपज होती हैं, दैवी प्रेरणा समझ बैठता है। वहां परीक्षा कर के देखना होगा कि उस की सभी बातें दैवी प्रेरणा की हैं या नहीं। साथ ही हमें यह भी देखना होगा कि दैवी प्रेरणा का दावा करने वाले व्यक्ति का सामान्य चरित्र इतना पवित्र और ऊंचा है कि नहीं जिस में दैवी प्रेरणा मिलने की संभावना हो सके। किसी व्यक्ति के दावेमात्र से यह नहीं माना जा सकता कि उसे वास्तव में दैवी प्रेरणा होती है। पंच-परीक्षाओं की कसौटी द्वारा उस के दावे की जांच करनी होगी। अनेक पाखण्डी लोग दैवी प्रेरणा का दावा कर के भोली-भाली, श्रद्धालु और विश्वासी जनता को ठगते भी रहते हैं। हमें परीक्षा की कसौटी पर कस कर देखना होगा कि उन की बात ठीक है अथवा गलत।

सन्तों की और वेद की बात में विरोध नहीं होना चाहिये

यहां एक शंका का निराकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। हम ने कहा है कि सभी देशों और सभी जातियों में ऐसे साधु-महात्मा होते रहे हैं और हो सकते हैं जिन्हें दैवी प्रेरणा द्वारा ऊंची त्रैकालिक सार्वभौम सच्चाइयों का बोध होता रहा है और हो सकता है। हमारी इस बात को पढ़ कर अनेक श्रद्धालु वैदिक-धर्मियों के मन में यही शंका उठ सकती है कि अगर सभी समयों और सभी बोली बोलने वाली जातियों में ऐसे पहुंचे हुए महात्मा हो सकते हैं जिन्हें दैवी प्रेरणा या इलहाम हो सकता है तो फिर वेद की क्या विशेषता और महिमा रही ? इस सम्बन्ध में हमें अपनी स्थिति को स्पष्ट कर देना उचित है। हमारा यह मन्तव्य अवश्य है कि किसी भी समय और किसी भी जाति में ऐसे पहुंचे हुए महात्मा और सन्त हो सकते हैं जिन्हें दैवीप्रेरणा या इलहाम होता हो। हमारा यह मन्तव्य कोई अपना नया मन्तव्य नहीं है। सभी वैदिक धर्मी यह मानते हैं कि योगी-महात्मा लोग समाधि की अवस्था में परमात्मा के सम्पर्क में बैठ कर परमात्मा से ज्ञान और प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। स्वयं ऋषि दयानन्द ने भी लिखा है कि योगी लोग अब भी समाधि में एकाग्रचित्त हो कर वेद-मन्त्रों के अर्थ और

उन में वर्णित सच्चाइयों को परमात्मा की प्रेरणा द्वारा समझ सकते हैं। इस प्रकार बीच-बीच में भी पहुंचे हुए साधु-महात्माओं को ईश्वरीय प्रेरणा से ज्ञान मिल सकने की बात केवल हमारी ही नहीं है, इसे सभी मानते हैं। परन्तु यहां एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिये। वह यह कि सन्तों को दैवी-प्रेरणा द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान में और वेदों के ज्ञान में विरोध नहीं होना चाहिये। वेद सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिये परमात्मा द्वारा दिया हुआ सर्वांग पूर्ण ज्ञान है। वेद का ज्ञान और सन्तों का दैवी-प्रेरणा का ज्ञान दोनों ही ईश्वरीय प्रेरणा हैं। पूर्ण और सत्य-ज्ञानी सर्वज्ञ परमात्मा की प्रेरणा से मिलने वाले ज्ञानों में परस्पर विरोध संभव नहीं हो सकता। वेद में कही गई सच्चाई का प्रकाश ही दैवी प्रेरणा द्वारा इन सन्तों के हृदयों में होगा। वेद की बात को ही प्रकारान्तर से ये पहुंचे हुए सन्त-महात्मा भी कह रहे होंगे। फिर एक बात और भी ध्यान में रखने की है। संसार के सभी पहुंचे हुए सन्तों के, जिन्हें कभी देवी प्रेरणा होती रही है, जीवनों को देख जाइये। आप देखेंगे कि उन पर सत्य के एक या कुछ अंगों का ही प्रकाश होता रहा है। वे सत्य के एक-दो पहलुओं पर ही विशेष बल देते रहे हैं। सत्य का सर्वांग पूर्ण चित्र उनके मनों में प्रकाशित नहीं होता रहा है। और, अगर इतिहास की परम्परा के आधार पर हमें भविष्य के सम्बन्ध में कोई हलका-सा अनुमान करना हो तो हम समझ सकते हैं कि भविष्य में भी ऐसे सन्तों पर संभवतः सत्य के एक या कुछ अंगों का प्रकाश ही दैवी प्रेरणा द्वारा संभव हो सकेगा। दूसरी ओर वेद में सत्य का सर्वांग पूर्ण प्रकाश हुआ है। और वेद का वह प्रकाश सृष्टि के आरंभ में दिया गया है। वेद के उस प्रकाश के बिना मानव-जाति कभी भी अपने शैशवकाल की मोह-निन्द्रा से ऊपर नहीं उठ सकती थी। उस प्रकाश के बिना मानव की पूर्ण चेतना जाग्रत नहीं हो सकती थी और सर्वतोमुखी उन्नति का सूत्र उसके हाथ में नहीं आ सकता था। इस प्रकार वेद का अपना विशिष्ट महत्त्व तो अक्षुण्ण ही रहता है।

८.

ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त कलह का कारण नहीं है

ईश्वरीय ज्ञान या इलहाम के सम्बन्ध में विचार करते हुए कुछ लोग यह भी कह दिया करते हैं कि ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जो कि कलह और झगड़ों की जड़ है। सब धर्मों वाले अपनी-अपनी धर्म-पुस्तक को इलहामी मानते हैं। दूसरों की धर्म-पुस्तकों

को इलहामी नहीं मानते। प्रत्येक धर्म वाला दूसरे की धर्म-पुस्तक को गलत मानता है। और इस प्रकार दूसरे धर्मवालों को गलत राह पर चलने वाले मान कर उन्हें धरती पर से ही मिटा देना चाहता है। मुसलमान लोग कुरान को ही इलहामी किताब मानते हैं। और इसलाम को सच्चा धर्म मानते हैं। बाकी सब धर्मों वालों को वे काफिर समझते हैं और उन्हें धरती पर जीने का अधिकार नहीं है ऐसा मानते हैं। हिन्दू लोग वेदों को ही ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं और हिन्दू धर्म को ही सच्चा धर्म समझते हैं। दूसरे धर्मों वालों को वे म्लेच्छ कहते हैं। मुसलमानों ने केवल कुरान को ही इलहामी पुस्तक और केवल इसलाम को ही सच्चा धर्म मानने के कारण विधर्मियों पर जो अत्याचार किये हैं उन से इतिहास भरा पड़ा है। हिन्दू लोग इस इलहाम के सिद्धान्त के कारण ही, वेदों की बात को सत्य समझ कर, दूसरे लोगों को म्लेच्छ कहते रहे हैं और उन से घृणा करते रहे हैं। इतना ही नहीं। इसी इलहाम या ईश्वरीय ज्ञान के सिद्धान्त के कारण ही वेद-शास्त्र की बातों को ठीक समझ कर, हिन्दू लोग अपने ही धर्म के अनुयायी अछूत कहे जाने वाले लोगों पर जो अन्याय और अत्याचार करते रहे हैं उन्हें कौन नहीं जानता ? इस इलहाम के सिद्धान्त के कारण ही तो हिन्दू और मुसलमानों के झगड़े होते रहते हैं अतः इलहाम का सिद्धान्त झगड़ों की जड़ है और इसका परित्याग कर दिया जाना चाहिये। वास्तव में कोई भी पुस्तक ईश्वरीय ज्ञान या इलहामी नहीं है।

इस प्रकार का तर्क करने वाले लोग भूल करते हैं। इलहाम के सिद्धान्त का दार्शनिक तर्क के रूप में परित्याग नहीं किया जा सकता। जैसा हम ऊपर के पृष्ठों में दिखा चुके हैं ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त तर्क-सम्मत है। भाषा की उत्पत्ति और ज्ञान के विकास-विषयक कई ऐसी गुत्थियें हैं जिन का ईश्वरीय ज्ञान के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना कोई समाधान नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त हमें मानना ही पड़ता है। ईश्वरीय ज्ञान का सिद्धान्त अपने आप में कलह और झगड़े कराने वाली वस्तु नहीं है। जो ईश्वरीय ज्ञान नहीं है जब उसे ईश्वरीय-ज्ञान समझ लिया जाता है, झगड़े तो तब होते हैं। सच्चा ईश्वरीय ज्ञान कभी झगड़े नहीं करा सकता। सत्य-स्वरूप, न्यायकारी, दयालु; पवित्र, सहिष्णु, शुद्ध, मुक्त और शान्तिमय स्वभाव वाले परमात्मा का ज्ञान कभी झगड़े नहीं करा सकता। जो किताब झगड़े सिखाती है और झगड़े कराती है वह ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो सकती। इस लिये हमें ऊपर कही गई कसौटियों के आधार पर परीक्षा कर के सच्चे ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वरीय ज्ञान का दम्भ करने वाले ग्रन्थों में भेद करना

होगा। ईश्वरीय ज्ञान के सिद्धान्त को मत कोसिये। ईश्वरीय ज्ञान का झूठा दावा करने वालों को कोसिये।

वेद प्राणी-मात्र से प्रेम करना सिखाता है

हम वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। और हम वेद के सम्बन्ध में निःसंकोच और निर्भय हो कर कह सकते हैं कि वेद किसी के साथ भी घृणा करना और लड़ना-झगड़ना नहीं सिखाता। वेदों में अछूतों आदि के साथ घृणा करने और उन पर अत्याचार करने की बात कहीं भी नहीं लिखी। केवल विचार-भेद के कारण दूसरों को म्लेच्छ या काफ़िर समझने की बात भी वेद मे कहीं नहीं लिखी। विचार-भेद के कारण किसी को मार दिया जाना चाहिये ऐसी कलुषित बात भी वेद में कहीं नहीं लिखी। किसी को अछूत समझना और उस से घृणा करना इस प्रकार की बातें कहीं-कहीं हिन्दुओं के स्मृति और सूत्र-ग्रन्थ नामक साहित्य में पाई जाती हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों को कोई भी ईश्वरीय-ज्ञान या इलहामी नहीं कहता। ये ग्रन्थ स्पष्ट रूप में मध्यकालीन पण्डितों के बनाये हुए हैं। ये पुस्तक ईश्वरीय ज्ञान नहीं हैं। ईश्वरीय ज्ञान तो हिन्दू लोग केवल वेद को ही मानते हैं। और वेद में इस प्रकार की घृणा सिखाने वाली बातें कहीं भी नहीं लिखीं। वेद का पाठ करने वाला तो प्रतिदिन अपने परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि "हे प्रभो ! मुझे ब्राह्मणों का प्यारा बना दे, क्षत्रियों का प्यारा बना दे, आंख से देखने वाले सभी प्राणियों का प्यारा बना दे, शूद्रों और वैश्यों का प्यारा बना दे[1]।" एक दूसरे स्थान पर वेद में भगवान् से प्रार्थना है—"विघ्न और बाधाओं का विदारण करने वाले हे परमात्मन् ! मुझे दृढ़ बनाइये, सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें, मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं, हम सब परस्पर एक-दूसरे को मित्र की आंख से देखें[2]।" अपने भगवान् से प्रतिदिन ऐसी प्रार्थना करने वाले वैदिक-धर्मी लोग किसी भी व्यक्ति से घृणा नहीं कर सकते। ऐसी प्रार्थना करने वाले वैदिक-धर्मी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोग शूद्रों को अछूत कह कर उन से घृणा और उन पर अत्याचार नहीं कर सकते। और ऐसे वैदिक-धर्मी शूद्र भी ब्राह्मणों आदि के साथ किसी प्रकार का घृणा और द्वेष का भाव नहीं रख सकते।

---

१. प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।। अथर्व. १९.३२.१।

२. दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।

यजुः. ३६.१८।

वैदिक धर्म से भिन्न धर्मों का अवलम्बन करने वाले लोगों के साथ वैदिक-धर्मी लोगों का कैसा व्यवहार होना चाहिये इस सम्बन्ध में भी वेद की स्पष्ट आज्ञा है—"धरती पर रहने वाले भिन्न-भिन्न भाषाओं को बोलने वाले और भिन्न-भिन्न धर्मों को मानने वाले लोगों को भी आपस में इस प्रकार प्रेम से मिल कर रहना चाहिये जिस प्रकार एक घर में रहने वाले कुटुम्बी लोग रहा करते हैं[1]।" वेद की इस आज्ञा को मानने वाला वैदिक-धर्मी केवल विचार-भेद के कारण किसी के प्रति घृणा, लड़ाई-झगड़े और अत्याचार का बरताव नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसा करता है तो वह वैदिक-धर्मी नहीं है।

हमें हमारे विचारों को न मानने वालों का सिर और खून लेने का कोई अधिकार नहीं है। हमें केवल इतना ही अधिकार है कि हम अपने से भिन्न विचार रखने वालों को अपने विचारों की उपयोगिता और युक्ति-युक्तता प्रेम-पूर्वक समझा दें। इस से आगे बढ़ने का हमें अधिकार नहीं है। सच्चा इलहाम यही सिखाता है। और वह सच्चा इलहाम कौन-सा है इस की परीक्षा उपर्युक्त कसौटियों की सहायता से कर लेनी चाहिये। जो इलहाम इस कसौटी पर सही न उतरे वह इलहाम ही नहीं है। उस का खुल कर विरोध कीजिये। खरे-खोटे का भेद न कर के सब को एक लाठी से क्यों हांका जाये ? वेद परीक्षा की इस कसौटी पर कसा जा कर सही उतरता है। अतः वेद ही सच्चा ईश्वरीय ज्ञान है और उस का विरोध नहीं किया जा सकता।

इलहामों की अनेकता में एकता

आज जो इलहाम या ईश्वरीय ज्ञान होने का दावा कर के अनेक धर्म-ग्रन्थ हमारे सामने आ कर उपस्थित होते हैं उस से भी हमें विक्षुब्ध नहीं होना चाहिये। यह नहीं समझना चाहिये कि इलहामों की यह अनेकता अशान्ति और कलह का ही कारण बनी रहेगी। जैसा कि हम ने ऊपर दिखाया है वास्तविक इलहाम कभी एक-दूसरे के विरोधी नहीं हो सकते। उन में सत्य और धर्म के ही विभिन्न अंगों का काल-भेद से पुनः पुनः पोषण हुआ होता है। कलह का कारण वास्तव में वह चीज है जो इलहाम नहीं है पर इलहामों में इलहाम के नाम से घुस गई है। उस का उपर्युक्त कसौटी का प्रयोग कर के इलहामों से बहिष्कार कर दिया जाना चाहिये। तब जो इलहामों का रूप प्राप्त होगा वह परस्पर-विरोधी न होगा। उस में सत्य और धर्म का

१. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्। अथर्व. १२.१.४५।

यह मन्त्रखण्ड वेद के जिस सूक्त अथर्व. १२.१) का है उस सारे सूक्त की विस्तृत व्याख्या हमारी पुस्तक "वेद का राष्ट्रिय गीत" में देखिये।

ही भाषान्तर और प्रकारान्तर से पोषण होगा। उस अवस्था में सभी इलहाम वास्तव में एक ही बात कह रहे होंगे। तब विभिन्न इलहामों के अनुयायी एक-दूसरे को अपना शत्रु समझ कर उनके रक्त के प्यासे न हो उठेंगे, प्रत्युत सब को प्रकारान्तर से अपनी ही बात कहते हुए देख कर हर्षित होंगे और एक-दूसरे को गले लगायेंगे। इलहाम के सिद्धान्त को न कोस कर, जो कि एक दार्शनिक सचाई है, इलहाम के क्षेत्र में परीक्षा और समालोचना का प्रवेश कराने की आवश्यकता है। सब विचारशील लोगों की शक्ति वास्तव में इस दिशा में लगनी चाहिये। आर्यसमाज का मनुष्य-जाति पर यह एक बहुत बड़ा उपकार है कि उस ने धर्म और इलहाम के क्षेत्र में परीक्षा की पद्धति चलाई है।

हम लोग वेद को इलहामी मानते हैं। हमारी सम्मति में वेद में वह ज्ञान और वह भाषा है जो सृष्टिकाल में मनुष्य को परमात्मा ने दी थी। इस ईश्वरीय ज्ञान में धर्म का सर्वांग-पूर्ण प्रकाश हुआ है। इस सर्वांग-पूर्ण धर्म को स्वीकार करने से मनुष्य-जाति का कल्याण और उद्धार हो जायेगा। लोग उसी प्रकार देवता-स्वरूप बन जायेंगे जैसे कि वे सृष्टिकाल में इस सर्वांग-पूर्ण धर्म का पालन करने से बनते थे। आर्यसमाज वेद में वर्णित इस सर्वांग-पूर्ण धर्म का संसार भर में प्रचार करने के लिये ही अपनी सारी शक्ति खर्च कर रहा है। ऐसा करते हुए हमें अन्य लोगों के अपने-अपने इलहामों के दावे सुन कर कोई दुःख नहीं होता, उलटा हर्ष होता है। क्योंकि हमारा विश्वास है कि वे इलहाम अगर वास्तव में इलहाम हैं तो उसी सच्चाई का वर्णन कर रहे होंगे जिस का हमारा इलहाम वेद करता है। हम सिर्फ उन लोगों से इतना चाहते हैं कि वे हमें अपने इलहामों की परीक्षा कर लेने दें और स्वयं हमारे इलहाम की परीक्षा कर लें। यह मांग करना प्रत्येक मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है। इस से किसी को रोका नहीं जाना चाहिये। अगर धर्मों और इलहामों वाले लोग हमारी इस मांग को स्वीकार कर लें तो धर्म और इलहाम के नाम पर कभी कलह और रक्तपात नहीं हो सकता।

मन्त्रानुक्रमणिका

मन्त्र	पृष्ठ	मन्त्र	पृष्ठ
अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू	१७६,२६१	आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो	३१
अंगादंगाद् वयमस्याः	१४	आरे गोहा नृहा	४४
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्	१६३	आ रोह सूर्ये	१४
अदीनाः स्याम	१६१	आ हरामि गवां क्षीरम्	२६
अनमीवाः	४७	इन्द्र, मरुत्, वरुण	४६
अनागो हत्या वै भीमा	४२	इन्द्रो यज्वने पृणते	३२
अन्तकाय गोघातं	४४	इमा नारीः	१४
अन्तर्वान्	४६	इमे ये नार्वाङ् न	१३४,२६७,३१४
अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं	१८	इमं गोष्ठं पशवः	२६
अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं	१२	इयं नारी पतिलोकं	१८
अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां	१२	इयं समित्पृथिवि द्यौर्द्वितीयो	७,२६४
अपूर्वेणेषिता वाचः	३३४	ईशानासः पितृवित्तस्य रायः	६०
अबिभ्युषीः	४७	ईशावास्यमिद ँ सर्वं	६५
अभ्रातेव पुंस एति	२१	इहैव स्तं मा	१५
अमाजूरिव पित्रोः	२२	उत त्वः पश्यन्न ददर्श	३१४
अमूर्या यन्ति योषितो	२१	उदसौ सूर्यो अगादुदयम्	२४
अमोऽहमस्मि सा	१४	उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं	१८
अयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः	४७	उदुत्यं जातवेदसं	२६५
अश्वावन्तं रथिनं	२७	उद्वयं तमसस्परि स्वः	२६६
...अश्विनास्तामुभा वरा	१३	उपेदमुपपर्चनम्	३३
असपत्ना सपत्नघ्नी	२४	उस्रियः	४६
अहं केतुरहम्	२४	एतं वो युवानम्	५०
अहं वदामि नेत्	२३	एमां परिस्रुतः कुम्भ	३०
आ गावो अग्मन्नुत	३२	एषा ते कुलपा राजन्	१३
आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः	४६	ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्	२६१
आ त्वा वत्सो	३०	ऋतावृधः घोरासो	३०१
आध रायस्पोषम्	६	ऋषभः	४६

मन्त्र	पृष्ठ	मन्त्र	पृष्ठ
कथं वातो नेलयति	३०१	न ता अर्वा रेणुककाटो	३३
कन्यायां वर्चो	१३	न ता नशन्ति न दभाति	३२
कविमग्निमुपस्तुहि	३०१	न वा उ देवाः	६२
काकेन सत्यं जातेनास्मि	३३५	न संस्कृतत्रमुप यन्ति	३३, ४३
कुहूं देवीं सुकृतम्	६	न स्तेयमद्मि	१६
केवलाघो भवति केवलादी	६८	नाम नाम्ना जोहवीति	२६३
को वां शयुत्रा	१८	पक्तारं पक्वः पुनराविशाति	१७७,३१४
कोशे कोशः समुब्जितः	१३	पतिं देवि राधसे	६
क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया	१००	पयस्वान्	४६
गां मा हिंसीः	४३	पयो धेनूनां रसमोषधीनां	४५, २२२
गावो भगो गाव	३३	परि विश्वा भुवनान्यायम्	२६२
गोमती...घृतवती	३०	परिवृक्तेव पतिविद्यमानट्	२०
गृहान् गच्छ गृहपत्नी	१४	पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानाम्	४६
गृह्णामि ते सौभगत्वाय	१४	पुमान्	४६
चक्रवाकेव दम्पती	१५	पुष्टिं पशूनां परिजग्रहभाहं	४४,२२१
चित्तिरा उपबर्हणम्	८	पूर्णं नारि प्रभर	३१
चित्तिरा...पतिम्	६	प्रजापतिर्मह्यमेता	४०
चित्रं देवानामुदगादनीकं	२६५	प्रजावतीः सूयवसं	३३
जगृम्भा ते दक्षिणम्	२६	प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान्	२६२
जनं बिभ्रती बहुधा	१६२,३१३,३४६	प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा	४६
जायां जिज्ञासे	१४	प्र सप्तगुमृतधीतिं सुमेधां	२७
तन्तुमातान्	४६	प्रियं मा कृणु देवेषु	१६६, ३४८
तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः	३३४	बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये	१६१
त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्	४६	बिभ्रतीः सोम्यं मधु	४७
त्वं विदथमा वदासि	६	बृहस्पते प्रथमं वाचो	३३५
त्वं हि नः पिता वसो	२६२, ३१६	ब्रह्मचर्येण कन्या युवानम्	८
त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे	११७, १६१	ब्रह्मापरं युज्यताम्	६
त्वां विशो वृणतां राज्याय	११७,१६१	ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्	१६८
त्वेषः	४६	भगस्य नावमा रोह	१२, १३
दृते दृंह मा मित्रस्य	२०७,३१२,३४८	मनसा सवितादात्	१३

मन्त्र	पृष्ठ
मम पुत्राः शत्रुहणोऽयो	२४
ममेयमस्तु पोष्या	१४,२०
मया पत्या जरदष्टिर	१६
मया पत्या प्रजावति	१६
मया गावो गोपतिना सचध्वम्	४७
मयोभूर्वातो	३६
माता रुद्राणां दुहिता वसूनां	४३
मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः	१७७
मा हिंसीर्द्विपादं चतुष्पादम्	४३
मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत	५०
मेऽपचितिर्भसत्	२४
य आत्मदा बलदा	२६२
यज्ञेन वाचः पदवीयं	३३५
यत् त्वा यामि	२७
यथा मां कामिन्यसो	१२, १५
यथासो मम	१५
यथेमां वाचं कल्याणीं	३१६
यदक्षेषु वदा यत्	२३
यद्यज्जाया पचति	१६
यस्मादृचो अपातक्षन्	३३४
यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति	११४
यः पौरुषेयेण क्रविषा	४३
या देवेषु तन्वम्	३६
यास्ते राके सुमतयः	६
याः सरूपा विरूपा	३६
युंजते मन उत युंजते	२६२
यूयं गावो मेदयथा	३३
ये धीवानो रथकाराः	११७, १६१
येन देवा न वियन्ति	३१२
येनेन्द्रो हविषा	२४
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः	२०८
वनीवानो मम दूतास	२७
वाचस्पते...गोष्ठे नो गा जनय	३६
वायुरनिलममृतमथेदं	२६३
विराडियं सुप्रजा	१४
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु	११७, १६१
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्	२६३
रयिर्न यः पितृवित्तः	६०
रसेन तृप्तो	११३, २०५
राजा वरुणो याति मध्ये	१७७
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीः	४७
शतहस्त समाह	६६
शासद् वह्निर्दुहितुः	२१
शिवो वो गोष्ठो भवतु	४७
शुद्धाः पूता योषितो	१३
सत्येनावृतममृतं	३०१
सत्येनोत्तभिता भूमिः	३०१
सत्यं बृहदृतमुग्रं	३०१
सध्रीचीनान्वः	६८
सनद्वाजं विप्रवीरं	२७
समजैषमिमा अहं	२५
समञ्जन्तु विश्वे	१६
समानी प्रपा सह वो	६८
समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः	१००
सम्राज्ञ्येधि	१४
सम्राट् अदित्सन्तं दापयति	८५
सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो	११६, १६१
सर्वाः संगत्य वरीयस्ते	११७, १६१
सहृदयं साम्मनस्यं	२०७, ३१२
सं वो गोष्ठेन सुषदा	४७

मन्त्र	पृष्ठ	मन्त्र	पृष्ठ
सं वः सृजतु... समिन्द्रो	४८	सुवाना पुत्रान् महिषी	१३
सं सिञ्चामि गवां	२६	सुविज्ञानं चिकितुषे	३०१
साहस्रः	४८	सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि	४६
सिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं	२७७, ३१४	सोमो वधूयुरभवत्	१२
सुब्रह्माणं देववन्तं	२७	स्तुता मया वरदा वेदमाता	३३६
सुमंगली प्रतरणी	१४	स्वायुधं स्ववसं सुनीथम्	२७
सुमंगलीरियं	२२	...हसामुदौ महसा	१४

श्लोकादि-अनुक्रमणिका

श्लोक आदि	पृष्ठ	श्लोक आदि	पृष्ठ
अधार्मिको नरो यो हि	२०६	केशेषु यच्च	१७
अनुमन्ता विशसिता निहन्ता	२२३	क्षमा वीरस्य भूषणम्	२३५
अभ्यंगमंजनम्	२७२	गामेकां दशगुर्दद्यात्	६७
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म	१७७	जातिदेशकाल-समयानवच्छिन्नाः	२१०
अविशेषेण पुत्राणाम्	२१	त्रय उपस्तम्भा इति	२६१
अहिंसयेन्द्रियाऽसंगैः	२०६	तज्जपस्तदर्थभावनम्	१६३
अहिंसयैव भूतानां कार्यम्	२०८	ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमो	१६३
अहिंसा परमो धर्मो ह्यहिंसैव परं	२१३	तत्त्वं पूषन्नपावृणु	३००
अहिंसा सत्यमस्तेयं	७०	तत्राहिंसा-सत्याऽस्तेय	६६, २६६
अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्य	२१०	तत्राहिंसा सर्वथा सर्वदा	२१०
आयुसत्त्वबलारोग्य-सुखप्रीति	२७३	तस्मात् त्रिभागं वित्तस्य	६७
आवर्तः संशयानाम्	३	दण्डस्य पातनं चैव	२०६
आरोकेषु दन्तेषु	१७	दह्यन्ते ध्मायमानां धातूनाम्	२७६
इन्द्रियाणां निरोधेन	२०६	देवो देवाय गृणते वयोधा	१६२
उपशकलमेतद्भेदकं गोमयानां	७६	दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारै	२०६
ऊर्वोरुपस्थे जंघयोः	१७	द्यूतं च जनवादं च	२७२
कट्वम्ललवणात्	२७२	धारणाद्धर्मः	१३२
कामं क्रोधं च लोभं च	२६६	धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्	२०८

श्लोक आदि	पृष्ठ
न भक्षयति यो मांसम्	२२२
नाकृत्वा प्राणिनां हिंसाम्	२२२
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि	२४७
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य	१३३, २६८
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु	२५३
पानमक्षाः स्त्रियश्चैव	२०६
पैशुन्यं साहसं द्रोह	२०६
प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम् वा	२७१
प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितम्	२०१
ब्रह्म वा ऋक्	२५४
ब्रह्म वै प्रजापतिः	३५४
ब्रह्म वै मन्त्रः	२५४
मरणं बिन्दुपातेन जीवनम्	२६१
मां स भक्षयिताऽमुत्र	२२३
मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः	२०६
यत्तु स्यात् मोहसंयुक्तमव्यक्तम्	२३५
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः	१३३, २६७
यद् ध्यायति यत्कुरुते धृतिम्	२२२
युमान् सेवेत सततं	७०
यस्तर्केणानुसंधत्ते	३०४
यातयामं गतरसम्	२७२
यानि कानि च घोराणि	१७
यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं	१५५
यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति	१५५
यो बन्धनवधक्लेशान्	२२२
योऽहिंसकानि भूतानि	२२२
वर्जयेन्मधु मांसं च	२७०, २७२
वर्णो वृणोतेः	७५
वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत	२२३
वेदो ब्रह्म	२५४
रसः सोम	३६
रुक्म एवेन्द्रः	३७
रेतो वै प्रजापतिः	२५४
लेखासन्धिषु	१६
लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यम्	२३५
शीलेषु यच्च	१७
शौचसन्तोषतपः	६६,२१०,२३६
श्रद्धया देयम्	६७
श्रवणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं	२७०
स पूर्वेषामपि गुरुः	३२८
सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यम्	८३
समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो	११४,२०५
समुत्पत्तिं च मांसस्य	२२२
सोमो वै दधि	३६
सोमः पयः	३६
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भम्	२७०
स्वरूपदर्शनमप्यस्य भवति	१६४
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते	२०३
हिरण्मयेन पात्रेण	३००
हिंसा बलमसाधूनाम्	२१०